हिन्दी उपन्यासों में चित्रित जनजातीय जीवन

(हैदराबाद विश्वविद्यालय की पीएच.डी., (हिन्दी) उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबंध)

2009

प्रस्तुतकर्ता

सुरेश जगन्नाथम

निर्देशक

डॉ. सच्चिदानंद चतुर्वेदी

मानविकी संकाय,

हैदराबाद विश्वविद्यालय

हैदराबाद - 500 046

विभागाध्यक्षा

प्रो. शशि मुदिराज डी.लिट्.,

मानविकी संकाय,

हैदराबाद विश्वविद्यालय

हैदराबाद - 500 046

UNIVERSITY OF HYDERABAD

CERTIFICATE

Department of Hindi
School of Humanities
University of Hyderabad
Hyderabad – 500 046

Hyderabad,
Date:

This is to certify that **SURESH JAGANNADHAM** has carried out the research embodied in the present thesis entitled **"हिन्दी उपन्यासों में चित्रित जनजातीय जीवन"** (**HINDI UPANYASON MEIN CHITRIT JANAJATIYA JEEVAN**) for the full period prescribed under Ph.D. ordinances of the University of Hyderabad.

I declare to the best of my knowledge that no part of thesis was earlier submitted for the award of research degree of any university.

Signature of the Supervisor
Dr. SACHIDANANDA CHATURVEDI

Signature of the Candidate
SURESH JAGANNADHAM
Enrollment No: 03HHPH14

Head, Department of Hindi

Dean, School of Humanities

विषयानुक्रमणिका

विषयानुक्रमणिका

भूमिका **i - vi**

1. भारतीय जनजाति : अर्थ, परिभाषा, ऐतिहासिक और परिचयात्मक संदर्भ 01-37

1.1 जनजाति की परिभाषा

1.2. भारतीय जनजातियों की संरचनात्मक विशिष्टताएँ

1.3. भारतीय जनजातियों का संक्षिप्त इतिहास

1.3.1. प्राचीन युग में जनजाति

1.3.2. मध्य युग में जनजाति

1.3.3. आधुनिक युग में जनजाति

4. भारत में अनुसूचित जनजातियों की राज्यवार सूची

5. भारतीय जनजातियों की जनसंख्या : राज्यवार सूची

6. भारत की कतिपय लुप्तप्राय जनजातियाँ

1.6.1. राजी जनजाति

1.6.2. लेप्चा जनजाति

1.6.3. अण्डमान द्वीप समूह की जनजातियाँ

1.6.4. निकोबार द्वीप समूह की जनजातियाँ

7. भारत की भूतपूर्व अपराधी जनजातियाँ

2. हिन्दी के जनजाति परक उपन्यास : संक्षिप्त परिचय का संदर्भ 38-88

3. हिन्दी के जनजाति परक उपन्यास : कथानक का बहुआयामी संदर्भ 89-276

3.1. आर्थिक संदर्भ

3.1.1. कृषि

3.1.2. जनजाति और वन

3.1.3. जनजातीय बाजार-हाट

3.1.4. जंगली जानवरों का योगदान

3.2. सामाजिक संदर्भ

3.2.1. ग्राम-अधिकारी

3.2.2. विवाह के प्रकार

3.2.3. सामुदायिकता

3.2.4. पंचायत

3.3. धार्मिक संदर्भ

3.3.1. जनजातीय धर्म की विशेषताएं

3.3.1.1. जीववाद

3.3.1.2. बोंगावाद

3.3.1.3. प्रकृतिवाद

3.3.1.4. टोटमवाद

3.3.1.5. वर्जना

3.3.1.6. जादू

3.3.1.7. पूर्वज-पूजा

3.3.1.8. बहुदेववाद

3.3.2. धार्मिक पुजारी

3.3.3. धार्मिक कृत्य

3.3.4. शॉमन

3.3.5. भूत-प्रेत के प्रति विश्वास

3.3.6. आचार संबंधी विश्वास

3.3.6.1. डीठ लगाना

3.3.6.2. टोना-टोटका, जंतर-मंतर

3.4. सांस्कृतिक संदर्भ

3.4.1. आदिवासी लोक-कथा

3.4.1.1. आदिवासी लोक-कथाओं का विभाजन

3.4.1.2. आदिवासी लोक-कथाओं में अभिप्राय

3.4.1.3. आदिवासी लोक-कथाओं में चर्चित देवी-देवता

3.4.1.4. आदिवासी लोक-कथाओं में उल्लिखित पशु-पक्षी

3.4.1.5. आदिवासी लोक-कथाओं में चर्चित वृक्ष

3.4.1.6. आदिवासी लोक-कथाओं के कतिपय तत्व

3.4.1.7. उपन्यासों में आदिवासी लोक-कथा एक विश्लेषण

3.4.2. आदिवासी लोक-गीत

3.4.2.1. लोक-गीतों का वर्गीकरण

3.4.2.1.1. संस्कार संबंधी गीत

3.4.2.1.2. व्यावसायिक गीत

3.4.2.1.3. आवसरिक गीत

3.4.2.1.4. मनोरंजन संबंधी गीत

3.4.3. आदिवासी लोक-नृत्य

3.4.3.1. आदिवासी नृत्यों का सामान्य वर्गीकरण

3.4.3.2. आदिवासी नृत्यों का नामकरण

3.4.3.3. नृत्यों का विविध अवसर एवं वेशभूषा

3.4.4. शगुन अपशगुन

3.4.5. गुदना

3.4.6. घोटुल

3.4.7. पर्व-त्योहार

4. हिन्दी के जनजातीय परक उपन्यास : समस्या और दृष्टिकोण का संदर्भ 277-336

4.1. ऋणग्रस्तता

4.2. भूमि हस्तांतरण

4.3. बेगार

4.4. वन नीति तथा जनजातियाँ

4.4.1. वन नीति 1894, तथा वन नीति 1952

4.5. मदिरापान

4.6. विस्थापन

4.7. बंधुआ मजदूरी

4.8. शोषण

4.9. स्त्रीशोषण

4.10. धार्मिक समस्या

4.11. शिक्षा

4.12. दृष्टिकोण

उपसंहार 337-353

आधार-ग्रंथ सूची

सहायक ग्रंथ सूची

पत्र-पत्रिकाएँ

भूमिका

भूमिका

विश्व के लगभग समस्त भागों में न्यूनाधिक मात्रा में जनजातीय समुदाय का अस्तित्व है। भारत में 'जनजाति', जिन्हें हम 'आदिवासी' कहते हैं, चारों ओर से पराजित और पीड़ित दिखाई देते हैं। उनके पास कृषि योग्य उत्तम व पर्याप्त भूमि भी नहीं है। गोंड़, बैगा, परधान, भील, कोल, कोरवा, शबर, भूमिया, कोरकू इत्यादी जातियों के लोग भारत के आदिम वासी भी हैं।

जनजातियों का प्रश्न वेद काल के समान पुरातन है, यदि नहीं तो महाभारत काल के बराबर प्राचीन तो निश्चित है। वनवासियों की बड़ी आबादी हमारे राष्ट्र में है। भारत के उत्तर-पूर्व प्रदेश को विद्वान लोग नृवंशशास्त्र का केंन्द्र स्थान कहते हैं। आज वहाँ कितनी ही जनजातियाँ इतिहास पूर्व काल की स्थिति में पाई जाती हैं। यदि ऐसे वनवासियों को लेकर हम उनके जीवन या संस्कृति आदि पर शोध करना चाहें तो हमारे सामने बहुत सी कठिनाइयाँ आती हैं।

यह सच है कि हमारे आक्रमणों के कारण वे अरण्यवासी बने परन्तु इसी कारण वे अरण्यक जीवन में कुशल हो गए हैं। उन्हें जीवनोपयोगी उद्योगधंधों का इतना ज्ञान होता है जितना एक विद्वान अध्यापक भी प्राप्त नहीं कर सकता। साथ ही वे अपने लिए अनुबंध कला में भी प्रवीण होते हैं। जंगल में पशु पक्षियों का ज्ञान, शिकार कुशलता, ऋतुचक्रों से परिचय, वनस्पतियों और जमीन का ज्ञान, जीवनदायी वैद्य आदि कितने ही ऐसे विषय हैं जिनको उन्होंने अपना बना लिया है। अरण्यक जीवन में उन्हें जो आनन्द मिलता है उसे व्यक्त करने के लिए उन्होंने अपनी संगीत-नृत्य कला का भी विकास किया है। ऐसी अनेक जातियों में एक प्रकार की चित्रकला की लोक शैली भी देखने को मिलती है। इन्होंने इस लोक के समान परलोक का भी चिंतन किया है और उसका अनुसरण कर धार्मिक विश्वासों, संस्कारों और रिवाजों की परम्परा भी विकसित की है। लेखन कला के अभाव में उन्होंने मौखिक गेय परम्परा का आश्रय लेकर इस परम्परा को कायम रखा है। उन्होंने विषम परिस्थितियों में भी अपने जीवन को सार्थक बनाये रखा है।

आदिम जातियों के 1953 के सम्मेलन में भाषण देते हुए पं. जवाहरलाल नेहरु ने इस बात पर जोर दिया था कि भारत की जनजातियों की समस्या को सहानुभूति तथा दूरदर्शिता पूर्वक हल करने की

आवश्यकता है। उनकी जीवनोपयोगी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उचित मार्ग का अवलंबन करने की सलाह देते हुए उन्होंने कहा था "हम जनजातियों के रहन सहन में कोई हस्थाक्षेप नहीं, उन्हें सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने में सहायता देने जा रहे हैं"।

औपनिवेशिक काल में ब्रिटिश और भारतीय लेखकों ने अंग्रेजों के प्रशासनिक हितों को ध्यान में रखकर आदिवासियों के विषय में लेखनकार्य किया। तत्कालीन सत्ता के प्रति प्रतिबद्ध इन लेखकों ने आदिवासियों को शेष भारतीय जनसंख्या से सामाजिक, सांस्कृतिक प्रजातीय दृष्टि से भिन्न-भिन्न बताया है। प्रथक्करण की उनकी सुनियोजित चाल का ही यह परिणाम है। भारत के प्रायः सभी आदिवासी भारतीय समाज के ही विभिन्न अंग रहे हैं। शेष आबादी से प्रथक वन्यांचलों में रहने के कारण उन्हें भारतीय समाज में पंचमवर्ण की स्थिति प्रदान की गई है। इस तथ्य के साक्षी हमारे विविध शास्त्रीय ग्रंथ हैं। आदिवासी और शेष भारतीय मूलतः एक ही व्यवस्था के अंग होने के बावजूद उनमें जो अन्तर दिखाई देता है, वह संपर्क हीनता का परिणाम है। आदिवासी हमारे अतीत के प्रतिनिधि हैं। हम परिवर्तित और विकसित इसलिए हुए हैं कि हम परस्पर संम्पर्क में रहें तथा हमें विकास के अवसर मिले। आदिवासी इसलिए पिछड़ गए कि वे वन्य व पर्वतीय, दुर्गम अंचलों में रहने के कारण शेष आबादी से कट गये, उनके साथ संम्पर्क में निरंतरता नहीं रह पाई तथा विकास के अवसर उन्हें नहीं मिलें।

आजादी के बाद साठ वर्षो में भारत के सामाजिक सांस्कृतिक और आर्थिक परिदृश्य में काफी बदलाव आया है। किन्तु आदिवासी जीवन में कोई खास परिवर्तन नहीं हुआ। विकास की रोशनी से आदिवासियों का भी कायाकल्प होना चाहिए, उनकी अस्मिता की रक्षा करते हुए। इसलिए आदिवासियों पर अब किये जाने वाले लेखन में आदिवासी समाज का वर्णन मात्र नहीं होना चाहिए। आदिवासी विकास और राष्ट्रीय लक्ष्यों को ध्यान में रखकर आदिवासी जनजीवन और संस्कृति का मूल्यांकन परक अध्ययन करना चाहिए। विभिन्न जनजातियों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए विभिन्न आदिवासियों के जीवन में पाई जाने वाली समानता और अंतर, उनके कारणों और परिणामों की समीक्षा करनी चाहिए।

आजादी के पहले तथा आजादी के बाद भी इन आदिवासियों की जीवन स्थिति में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ है, पहले जैसे थे आज भी वैसे ही हैं। पहले अंग्रेज उन पर शोषण और अत्याचार करते थे

आज हमारे नेता और पूंजीपति उन्हें लूट रहे हैं, पूरी तरह ठगे जा रहे हैं। आज भी आदिम समुदायों की स्थिति में कोई आधारभूत परिवर्तन नहीं हुआ है। वे सदैव की तरह शोषित वंचित और पीड़ित हैं। आधुनिक सभ्यता इन सरल लोगों की प्रवृत्तियों को महसूस करने में भी अक्षम रही। इस मशीन युग के नुमाइंदों ने आदिवासी क्षेत्रों में घुस कर सब कुछ नष्ट कर दिया है, उनका संगीत, उनकी ध्वनियाँ, प्रकृति की लय, और वह सब कुछ जो उनके जीवन के अनिवार्य हिस्से रहे हैं।

ऊपर बताये गये सभी तथ्यों का उल्लेख हिन्दी साहित्य में हुआ है। मुख्य रूप से औपन्यासिक विधा में जनजातियों के जीवन से जुड़े सभी पहलुओं को देखा जा सकता है। स्वयं आदिवासी होने के नाते हिन्दी में जनजातीय जीवन पर लिखे गये उपन्यासों पर शोध करने की इच्छा रही। इसलिए मैंने अपने शोध कार्य के लिए 'हिन्दी उपन्यासों में चित्रित जनजातीय जीवन' विषय को चुना है।

विश्लेषण की सुविधा के लिए भूमिका व उपसंहार के अतिरिक्त इस शोध कार्य को चार अध्यायों में विभक्त किया गया है- प्रथम अध्याय में 'जनजाति' को परिभाषित करते हुए भारतीय जनजातियों की संरचनात्मक विशिष्टताएँ तथा जनजातियों का इतिहास के साथ-साथ भारत की लुप्तप्राय तथा भूतपूर्व अपराधी जनजातियों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया है।

द्वितीय अध्याय में अब तक जनजातीय जीवन पर लिखे गये उपन्यासों की सारणी तथा उपलब्ध उपन्यासों में से कुछ का संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

तृतीय अध्याय में उपन्यासों के कथानक में जनजातीय जीवन के बहुआयामी संदर्भों का विश्लेषण किया गया है। जिसके अन्तर्गत जनजातियों के आर्थिक जीवन में विशेष महत्व रखने वाले कृषि, वन, जनजातियों के हाट, जंगली जानवरों का योगदान आदि तथ्यों का आकलन किया गया है। दूसरे भाग में जनजातियों के सामाजिक पहलू का, जिसके अन्तर्गत जनजातीय व्यवस्था के ग्राम प्रमुख, विवाह के प्रकार, सामुदायिकता तथा जनजातीय पंचायतों का विस्तार से उल्लेख किया गया है। तीसरे भाग में जनजातियों का महत्वपूर्ण पक्ष धर्म का उल्लेख किया गया है। चौथे भाग में जनजातियों के सांस्कृतिक संदर्भ के अन्तर्गत उनके लोक साहित्य तथा उनके जीवन से जुड़े पर्व-त्योहार, युवागृह घोटुल, गुदना आदि बिन्दुओं का विश्लेषण प्रस्तुत किया गाया है।

चतुर्थ अध्याय में उपन्यासों में चित्रित जनजातियों की समस्याएँ जैसे ऋणग्रस्तता, भूमि हस्तांतरण,

बेगार, मदिरा पान के अतिरिक्त स्त्री-शोषण, बंधुआ मजदूरी, धार्मिक समस्या तथा शिक्षा से संबंधित समस्याओं का विस्तार से विश्लेषण किया गया है। इसी अध्याय के दूसरे भाग में उपन्यास के लेखन में लेखकों के दृष्टिकोण को भी बताया गया है।

यह शोधकार्य पूरा करने में मुझे मेरे निर्देशक डॉ. सच्चिदानंद चतुर्वेदी के अक्षय ज्ञान-भण्डार और विषय में विषेश योग्यता से उचित मार्ग दर्शन मिला। यह मेरा परम सौभाग्य ही है कि मुझे डॉ. सच्चिदानंद चतुर्वेदी जैसे विषय के ज्ञाता एवं प्रेरणा देनेवाले निर्देशक की देख-रेख में शोध करने का अवसर मिला है। छात्रों के प्रति उनका व्यवहार बहुत ही आत्मीय और संतुलित रहता है। वे अपार धैर्य से सभी कठिनाइयों को सुनकर यथासंभव उनका निदान करने की कोशिश करते हैं। यह उनकी महानता ही है कि निरंतर लेखन कार्य में व्यस्त होते हुए भी अपना अमूल्य समय देकर इस शोध का अंतिम रूप देने में मेरा पथ-प्रदर्शन किया। मेरी गलतियों एवं त्रुटियों को सुधार कर मुझे कार्योन्मुख बनाने में उन्होंने पूर्ण योगदान दिया है। वे मेरे शोध कार्य में ही नहीं, जीवन में में भी प्रेरणा दायक रहे हैं। अतः उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करना मानो उनकी कृपा का मूल्य निर्धारण करने की ढिठाई करना है। उनको हार्दिक आभार की औपचारिकता के बजाय मैं अपना सतत् प्रणाम निवेदित करता हूँ।

मैं विभागाध्यक्षा प्रो. शशि मुदिराज, और गुरुनानक देव विश्वविद्यालय के भूतपूर्व विभागाध्यक्ष प्रो. पाण्डेय शशिभूषण शीतांशु जी का भी आभार मानता हूँ जिन्होंने काफी व्यस्त रहते हुए भी मेरे शोध-कार्य का निरीक्षण किया और उचित परामर्श देकर कार्य पूर्ण करने में सहायता प्रदान की।

विभाग के अन्य गुरुजनों प्रो. नूरजहाँन बेगम, प्रो. सुवास कुमार, प्रो. रवि रंजन, प्रो, वी. कृष्णा, प्रो. सर्राजू, डॉ. श्याम राव जी, डॉ. आलोक पाण्डे जी, डॉ. गरिमा श्रीवास्तव जी, श्री भीम सिंह जी, डॉ. राजशेखर (School of Management Studies) का भी आभारी हूँ जिनके स्नेह, सद्भाव और सत्परामर्श से मैं प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से लाभान्वित हुआ।

मेरे उद्धेश्यों, जीवन-लक्ष्यों को पूर्ण करने तथा साकार रूप देने में मुझे मेरे माता-पिता तथा घर के प्रत्येक सदस्य से जो अप्रतिम प्यार, प्रेरणा और प्रोत्साहन मिला, उसके लिए आभार व्यक्त कर मैं उनके ऋण से मुक्त नहीं होना चाहता और न ही यह संभव है। जीवन के जिस भी मुकाम पर मैं आज खड़ा हूँ वह उनके

संघर्षमय जीवन का ही फल है। ऐसे में तहे दिल से मैं उन्हें अपनी श्रद्धा अर्पित करता हूँ।

मैं विशेष रूप से धन्यवाद ज्ञापित करना चाहता हूँ कि प्रो. सैयद ई हसनैन (कुलपति) जी का और उनके सह कर्मचारियों का जिनके सहयोग से ही राजीवगाँधी राष्ट्रीय अध्यतायुक्ति (RGNF) शौधकार्य के बढ़ायी गई अवधि में भी प्राप्त हुई, जिसकी सहायता से यह शोध-प्रबंध सफल हो सका।

इस शोध-प्रबंध की सफलता में परोक्ष रूप से यू.जी.सी. का सहयोग, आर्थिक सहायता और प्रोत्साहन मिलता रहा। प्रत्येक रूप से प्रो. एस. के. थोरट (अध्यक्ष, यू.जी.सी) और उनके सह कर्मचारियों को तहे दिल से धन्यावाद ज्ञापित करता हूँ।

प्रत्येक रूप से धन्यवाद ज्ञापित करना चाहता हूँ कि श्री तुकाराम जी (Coordinator, Student Service Section) श्री नारायण जी (Section Officer, Student Section) और उनके सहकर्मियों का जिन्होंने परोक्ष रूप से शोध प्रबंध के सफल होने में सहायक रहे हैं।

मेरी परम मित्र ममता और लक्ष्मी के प्रति मैं अपनी भावनाएँ समर्पित करता हूँ जिन्होंने शोध प्रबंध लिखने के समय आयी कठिनाइयों व निराशा के क्षणों में मेरा साथ दिया, संबल बनाये रखा। मैं उनका आभार व्यक्त कर अपनी सच्ची दोस्ती का मूल्य कम नहीं करना चाहता। फिर भी कहना चाहूँगा कि मैं बहुत खुश नसीब हूँ जो मुझे ऐसे दोस्त मिले।

इसके अतिरिक्त मेरे अग्रज नंदू, मित्र सौम्या, प्रवीण, अनुज, अविनाश, दिनेश, चन्दू, यासीर, ताज, थामस, दीप और सभी सहपाठियों और अनुजों का आभारी हूँ, जिन्होंने अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार सहायता प्रदान की।

मैं आदित्य और राँची के विद्याभूषण जी का विशेष रूप से आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने सामग्री जुटाने में पूरे मन से मेरी सहायता की।

मैं विशेष रूप से मित्र तथा छोटे भाई ताज और बाबूराव का आभारी हूँ जिन्होंने सहनशीलता से टंकण कार्य संपन्न करने में सहयोग दिया।

अंत में उन सभी लेखकों, विद्वानों और सुधीजनों का जिनके लेखन से सहायक सामग्री लिए बिना इस शोध-प्रबंध का संपन्न होना असंभव था, आभार व्यक्त करता हूँ।

प्रथम अध्याय

भारतीय जनजाति : अर्थ, परिभाषा, ऐतिहासिक और परिचयात्मक संदर्भ

प्रथम अध्याय

भारतीय जनजाति : अर्थ, परिभाषा, ऐतिहासिक और परिचयात्मक संदर्भ

जनजाति की स्पष्ट परिभाषा देना अत्यन्त कठिन कार्य है, क्योंकि जनजातीय समाज की कोई भी पूर्ण रूप से मान्य परिभाषा अब तक प्रचलित नहीं हो पाई है। वैसे समय-समय पर जनजाति की विभिन्न परिभाषाएँ दी गई हैं परंतु ये परिभाषाएँ केवल विशेष परिस्थिति की हैं तथा केवल किसी जनजाति विशेष के लिए ही उपयुक्त सिद्ध हो सकती हैं। एक जनजातीय समाज दूसरी जनजातीय समाज से भिन्न हो सकता है। आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, भाषाई व जनसंख्या के आधार पर इनकी विशेषताएँ अलग-अलग हो सकते हैं। उदाहरण के लिए भारत की दो जनजातियां 'गोंड' तथा 'अण्डमानी' को किसी भी प्रकार से एक साथ नहीं रखा जा सकता है क्योंकि इनकी सामाजिक तथा सांस्कृतिक संरचनाएँ बिल्कुल भिन्न हैं। फिर भी इन दोनों समुदायों को हम जनजाति कहते हैं। इसका कारण इनकी अपनी सामाजिक व सांस्कृतिक विशिष्टताएँ हैं जो केवल उन्हीं समाजों में विद्यमान होती हैं, जिन्हें हम जनजाति कहते हैं।

1.1 जनजाति की परिभाषा

1. "एक जनजाति विकास के आदिम अथवा बर्बर आचरणों में लोगों का एक समूह है, जो एक मुखिया की सत्ता को स्वीकारते हों तथा साधारणतया अपना एक समान पूर्वज मानते हों।"[1]

2. "एक जनजाति समान नाम धारण करने वाले परिवारों का संकलन है, जो समान बोली बोलते हों, एक ही भू-खण्ड पर अधिकार करने का दावा करते हों अथवा दखल रखते हों तथा जो साधारणतया अंतर्विवाही न हों,

यद्यपि मूल रूप से चाहे वैसे रह रहे हों।"[2]

3. "सरलतम रूप में जनजाति एक ऐसी टोलियों का समूह है जिसका एक सानिध्य वाले भू-खण्ड अथवा भू-खण्डों पर आधारित हो और जिनमें एकता की भावना, संस्कृति में गहन समानता, निरंतर सम्पर्क तथा कतिपय सामुदायिक हितों में समानता से उत्पन्न हुई हो।"[3]

4. "एक जनजाति समान संस्कृति वाली जनसंख्या का स्वतंत्र राजनैतिक विभाजन है।"[4]

5. "एक जनजाति समान नाम के तले एकत्रित जन समूह है। जिसमें समूह के सदस्य इस बात पर गर्व महसूस करते हैं कि वे समान भाषी, समान भू-खण्ड के स्वामी हैं, तथा जो लोग उनके नाम के अंशधर नहीं हैं वे बाहरी ही नहीं बल्कि शत्रु हैं।"[5]

6. "आदर्श रूप में जनजातीय समाज आकार में छोटे अपने सामाजिक तथा राजनैतिक संबंधो की स्थानिक एवं कालिक परास (टेम्पोरल रेन्ज) में प्रतिबिंबित होते हैं तथा नैतिकता, धर्म तथा तदनुरूप आयामों की विश्व-दृष्टि रखते हैं।"[6]

डॉ. रिवर्स के शब्दों में - "जनजाति एक सरल सामाजिक समूह है जिसके सदस्य एक सामान्य भाषा का प्रयोग करते हैं तथा युद्ध आदि सामान्य उद्धेश्यों के लिए कार्य करते हैं।"[7]

डॉ. डी. एन. मजूमदार के मतानुसार - "एक जनजाति परिवारों अथवा परिवार समूहों का एक संकलन होती है, जिसका एक समान्य नाम होता है, जिसके सदस्य एक निश्चित् भू-भाग पर निवास करते हैं, सामान्य भाषा बोलते हैं तथा विवाह एवं उद्योग के क्षेत्र में विशिष्ट निषेधों का पालन करते हैं।"[8]

गिलिन तथा गिलिन ने यह मान्यता व्यक्त की है कि - "स्थानीय आदिम समूह के किसी भी संग्रह को, जो एक सामान्य क्षेत्र में निवास करता हो, सामान्य भाषा बोलता हो, तथा सामान्य संस्कृति का अनुसरण करता हो उसे जनजाति कहते हैं।"[9]

आन्द्रे बिताइल के शब्दों में - "जनजाति एक ऐसा समाज है जिसकी एक स्पष्ट भाषाई सीमा हो,

सामान्यतः उसकी राजनैतिक क्षेत्र की सीमा भी भली-भाँति निर्धारित हो। इसकी अपनी सांस्कृतिक सीमा भी होती है जो अपेक्षा कृत कम स्पष्ट होती है तथापि अपने सदस्यों की अन्तः क्रियाओं के लिए जनरीतियों तथा रूढियों का ढाँचा प्रस्तुत करती है।"[10]

जैकब्स तथा स्टर्न के शब्दों में - "एक ऐसा ग्रामीण समुदाय या ग्रामीण समुदायों का ऐसा समूह जिस की समान भूमि हो, समान संस्कृति हो, समान भाषा हो, जिस समुदाय से व्यक्तियों का जीवन आर्थिक दृष्टि से एक दूसरे के साथ ओत-प्रोत हो, जनजाति कहलाती है।"[11]

बोस के शब्दों में - "जनजाति से हमारा तात्पर्य आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर व्यक्तियों के ऐसे समूह से है जो सामान्य भाषा बोलते हों तथा बाहरी आक्रमणों से अपनी रक्षा रकने के लिए संघठित हों।"[12]

"जनजाति परिवार के एक ऐसे समुदाय का नाम है जिसका एक समान नाम हो, जिसकी एक समान बोली हो, एक समान भू-भाग में रहता हो या उस भू-भाग को अपना मानते हों और जो अपनी जनजाति के भीतर ही विवाह करते हों।"[13]

हर्डलिका, हाबल के मतानुसार - "प्रजाति या जनजाति विशिष्ट जननिक रचना के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले शारीरिक लक्षणों का एक विशिष्टता रखने वाले अंतः संबंधित मनुष्यों का एक वृहत समूह है।"[14]

रिचार्ड के शब्दों में - "जनजाति एक ऐसे समूह का नाम है जो आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर होता है। समान भाषा बोलता है, और जब किसी बाह्य शत्रु का सामना करना होता है तब इस समूह के सब लोग मिलकर एक हो जाते हैं।"[15]

उपरोक्त परिभाषाएँ यह स्पष्ट करती हैं की वन्य प्रदेशों में रहने वाले ऐसे व्यक्ति समूह जो सामान्यतया समान भाषा, समान संस्कृति, तथा समान भू-क्षेत्र से संबंधित हों वे जनजातीय समूह के अंग कहलाते हैं।

यद्यपि प्रत्येक जनजातीय समूह की सामाजिक तथा सांस्कृतिक विशेषताएं भिन्न हुआ करती हैं किन्तु कुछ लक्षण ऐसे हैं जिनके आधार पर हम सामान्य जनजातीय समाज की संरचना को समझ सकते हैं।

1.2. भारतीय जनजातियों की संरचनात्मक विशिष्टताएँ

1. जनजातीय समाज समानता की संकल्पना पर आधारित होता है। इस समाज में स्थाईकरण नहीं होते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि यहाँ किसी भी प्रकार की भिन्नता नहीं पाई जाती है। सामाजिक तथा शक्तिगत समानता केवल आयु एवं लिंग भेद पर ही आधारित होता है न कि प्रसिद्ध शक्ति व संपत्ति पर।

2. जनजातीय समाज नातेदारी संबंधो पर आधारित होता है। यहाँ समाजिक संबंध परस्पर एकरूपता पर आधारित होता है। ऐसे समाज में परस्पर निर्भरता पाई जाती है। जब कि जातिगत समाज में परस्पर निर्भरता पाई जाती है।

3. जनजातीय समाज में सभी सदस्यों को उत्पादन साधनों का समान रूप से दोहन करने का पूर्ण अधिकार होता है। इस कारण ऐसे समाज में शोषित वर्ग तथा शोषण करने वाले वर्ग जैसे वर्ग भेद नहीं पाया जाता है। यहाँ संपत्ति पर सामुहिक एवं संयुक्त नियंत्रण होता है।

4. जनजाति की स्पष्ट भाषाई सीमा होती है। यह भाषा उन्हें अन्य समाज से अलग करती है।

5. किसी जनजातीय समुदाय के सदस्य एक ही संस्कृति के वारिस होते हैं। यहाँ संस्कृति का अर्थ उन पारंपरिक मान्यताओं, कलाकृतियों और प्रथाओं से है जिसे वे उस समाज का सदस्य होने के नाते प्राप्त करते हैं तथा यह पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होती रहती हैं।

6. जनजाति की अपनी राजनैतिक व्यवस्था तथा सीमा होती है। यहाँ सत्ता एवं नेतृत्व विभिन्न जनजातियों के बीच कल्याण स्थापित करने में सहायक होती है।

7. सामान्यतः किसी जनजाति के सदस्य एक ही भू-भाग में रहते हैं।

8. सामान्यतः जनजातियों में अंतर्विवाह का प्रचलन होता है।

9. जनजाति समुदायों में धर्म आदिम व्यवस्था में होता है तथा धार्मिक व्यवस्था काफी मजबूत होती है। यहाँ जीववाद, प्राणवाद, अनेकेश्वरवाद, जादू-टोना, टोटम आदि जैसे प्रथाएँ होती हैं।

1.3. भारतीय जनजातियों का संक्षिप्त इतिहास

मानव की नस्ल पहचानने वाले शास्त्र के आधार पर भारतीय समाज के सभी लोगों के रूप-रंग, वेश-भूषा, रहन-सहन, भाव-विचार और जीवन विषयक दृष्टिकोण में जो अद्‌भुत एकता दिखाईदेती है उसे देखते हुए

एक नस्ल के लोगों को दूसरी नस्ल के लोगों से अलग करने का कार्य अस्वाभाविक है। संसार में जितनी भी जनजातियाँ बसती हैं उनकी मूल नस्ल की पहचान भाषा और शरीर के गठन को देखकर की जाती है, और इस विषय का अध्ययन अब अलग-अलग शास्त्रों के रूप में विकसित हो गया है। भाषा के अध्ययन करने वाले शास्त्र को भाषा विज्ञान कहते हैं। रूप-रंग, क़द-ढाँचे की कसौटी पर भी मनुष्यजाति का अध्ययन एक दूसरे शास्त्र के द्वारा किया जाता है जिसे मनुष्यमिति या जनविज्ञान कहते हैं। जनविज्ञान की पहली कसौटी रंग की है। जनविज्ञान ने संसार की सभी जातियों को मुख्यतः तीन नस्लों में बाँटा है। पहली नस्ल गोरे लोगों की है जिन्हें हम 'काकेशियन' कहते हैं। दूसरी नस्ल के वे लोग हैं जिनका रंग पीला होता है वे 'मंगोल' जाति के हैं। तीसरी नस्ल उन लोगों की है जिनका रंग काला है और वे 'इथोपियन' परिवार के हैं। इसी के आधार पर संसार में तीन प्रकार के लोग हैं गोरे, पीले और काले। बाकी रंग इन्हीं रंगों में से किसी न किसी की कम या ज्यादा छाँह लिए हुए हैं और वे अक्सर दो रंगों के मिश्रण से अथवा जलवायु के परिणामस्वरुप उत्पन्न हुए हैं। भारतीय जनता में इन्हीं रंगों के मिश्रण से उत्पन्न जनजातियों के प्रतिनिधि मौजूद हैं। जनविज्ञान की कसौटी से विचार करने पर भारत में चार प्रकार के लोग मिलते हैं। एक तरह के लोग हैं, जिनका क़द छोटा, रंग काला, नाक चौड़ी और बाल घुँघराले होते हैं। इस जाति के लोग अक्सर जंगलों में बसते हैं। यही लोग उन आदिवासियों की संतान हैं जो जंगली जीवन के आदि होने के कारण अब तक भी शहरों से दूर जंगलों में ही रहने में सुख मानते हैं। एक दूसरी तरह के लोग हैं जिनका क़द छोटा, रंग काला, मस्तक लंबा, सिर के बाल घने और नाक खड़ी और चौड़ी होती है। रंग और कद में वे प्रायः आदिवासी लोगों से थोड़ी समानता रखते हैं किन्तु वे उन से बिल्कुल भिन्न हैं। विन्ध्याचल के नीचे सारे दक्षिण भारत में इन्हीं लोगों की प्रधानता है। तीसरी जाति के लोगों का क़द लम्बा, वर्ण गेहुँआ या गोरा, दाढ़ी मूँछ घनी, मस्तक लम्बा तथा नाक पतली और नुकीली होती है, वे आर्य जाति के लोग हैं । चौथे प्रकार के लोग बर्मा, असम, भूटान और नेपाल में तथा उत्तर प्रदेश, पंजाब, उत्तरी बंगाल तथा कश्मीर के उत्तरी किनारे पर पाए जाते हैं। इनका मस्तक चौड़ा, रंग काला-पीला, आकृति चपटी तथा नाक चौड़ी और पसरी हुई होती है। इनके चहरे पर दाढी मूँछ भी कम उगती है ये मंगोल जाति के हैं। हम जिन्हें आदिवासी कहते हैं उनके बीच नीग्रो और ऑष्ट्रिक नामक दो जातियों के लोग शामिल हैं। नीग्रो और ऑष्ट्रिक जातियों के मिश्रण से बने हुए लोग मुण्ड़ा या शबर भी कहे जाते हैं। मंगोल जाति वालों का भी

प्राचीन नाम किरात है।

मानवशास्त्र या मनुष्यमिति के अध्ययन के आधार पर उपरोक्त सभी बातें सामने लाई जा सकी है और इसी के आधार पर आचार्य रामधारी सिंह दनकर अपनी कृति 'संस्कृति के चार अध्याय' में कहते हैं- "अनुमानतः यह समझा जाता है कि भारत में पहला आगमन नीग्रो जाति का था। यह जाति भारत में अरब इरान से चलकर पश्चिम से अथवा संभवतः अफ्रीका से आई थी। इसकी एक शाखा भारत से निकल कर आस्ट्रेलिया भी गई जहाँ उसके वंशज अबतक मौजूद हैं। भारत से आस्ट्रेलिया जाते हुए रास्ते में इंण्डोनेशिया, पोलिनेशिया और मलिनेशिया में भी इस जाति की टुकडियाँ रह गई। मलाया, पिलिपाइन, न्युगिनी और अण्डमान में भी जो नीग्रो हैं वे भारत से ही गये हैं। लेकिन भारत में नीग्रो खत्म हो चुके हैं। अनुमान यह है कि या तो वे पीछे आनेवाले अग्नेय लोगों के द्वारा मार डाले गये अथवा उनमें मिलकर एक हो गये और उनकी अपनी अलग सत्ता नहीं रह गई, अब उन के थोड़े से निशान दक्षिण भारत की आदिम जातियों में बचे हुए हैं। भारत के दक्षिण भाग में बसने वाले 'काड़ार' और 'उरली' लोग कदाचित नीग्रो संस्कृति से संबद्ध हैं।"[16] इस अनुमान का क्षीण आधार यह है कि "मलाया में 'सोमाङ्' नामक जो जंगली जाती है वह बाँस की कंगी का प्रयोग करती है, इन कंगियों के डिजाइन ठीक वे ही हैं जो डिजाइन 'काड़ार' जाति की औरतों के कंगियों की होते हैं। इतिहासकार इन लोगों को प्राचीनकालीन मनुष्यों में गिनते हैं। उनकी भाषा का नमूना अब सिर्फ अण्डमान में ही शेष है। बाकी जगहों पर वे अपने पड़ोसियों की ही भाषाएँ कुछ बिगड़े रूप में बोलते हैं।"[17]

आधुनिक युग में जनजाति एक ऐसा रोचक विषय बना जिसके आधार पर इतिहासकारों, समाजशास्त्रियों तथा नृवंशशास्त्रियों ने खोज की। शुरुआत प्राचीन मानव समूह से की गई। उनके पास कोई विकल्प नहीं था जो वे किसी विषय से अपनी खोज को प्रारंभ करते। प्राचीन मानव समूह ही आज के प्रत्येक शास्त्र का स्रोत है। इस लिए उन्होंने अपना अध्ययन उस समय के मानव जीवन या जनजातीय जीवन को अपने-अपने मतानुसार नामकरण करने से शुरू किया। उनमें से कुछ नृवंश शास्त्रियों ने भारत की जनजातियों को अलग-अलग नामों से सम्बोधित किया। "रिज़ले, लेक, ग्रियर्सन, सोबर्ट, टेलेण्ट्स, सेजनिक, मार्टिन तथा ए.वी. थक्कर ने उन्हें आदिवासी (एबारिजिंस) नाम से पुकारा है। हट्टन ने इन्हें आदिम जातियाँ (प्रिमिटिव ट्राइब्स) नाम से

सम्बोधित किया है। सरबेन्स ने इन्हें पर्वतीय जनजातियों की संज्ञा दी है। टेलेण्ट्स, सेजनिक तथा मार्टिन उन्हें सर्वजीववादी (एनिमिट्स) कहते हैं। बेन्स ने उन्हें वन्यजाति (जंगल पीपुल,फारेस्ट ट्राइब्स, फोक) नामों से संबोधित किया है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री डॉ. घुरये ने उन्हें तथा कथित आदिवासी (सो काल्ड एबारिजिन्स) अथवा पिछड़े हुए हिन्दु नाम दिया है तथा उन्होंने ही इनके लिए अनुसूचित जनजाति (शेड्युल्ड ट्राइब्स) नाम प्रस्तावित किया है जो कि भारतीय संविधान के अनुच्छेद 342 के अन्तर्गत स्वीकारा गया है। वैरियर एल्विन ने बैगा जनजाति के लोगों को देश के मूल स्वामी (ओरिजनल आनर्स आफ दि कंट्री) के नाम से संबोधित किया है। डॉ. आर.के. दास तथा एस.आर. दास ने दलित मानवता (सबमार्जड़ ह्यूमेनिटि) संज्ञा को उपर्युक्त माना है। एल.एम. श्रीकान्त के अनुसार जनजातियाँ भारत वर्ष में विभिन्न समयों में अलग-अलग नामों से जानी गई हैं जैसे अरण्यक, जनजाति, वनवासी, आदिवासी आदि।"[18]

भारतीय उप महाद्वीप के आदिवासी समान प्रजाति के नहीं हैं। भारत में एशिया की विभिन्न दिशाओं से तथा विभिन्न क्षेत्रों से प्रवेश करने वाले ये लोग विभिन्न प्रजातियों के भी हैं। अब तक भारत की आदिम जनजातियों को निश्चित प्रजातीय समूहों में व्यवस्थित करना संभव नहीं हो सका है। रिज्ले, गुहा तथा मजूमदार आदि के द्वारा इस दिशा में कुछ प्रयास किए गए थे। किन्तु वे पूरी तरह विश्वासप्रद सिद्ध नहीं हुए। इसलिए भारतीय आदिवासी जनसंख्या को एक निश्चित् परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने के लिए और अधिक मानव शास्त्रीय शोध की आवश्यकता है।

भारत में सबसे पहले के ज्ञात आदिवासी समूहों की भूमिका को निश्चित करने के लिए हमें सर्वप्रथम पृष्ठभूमि के रूप में सिन्धुघाटी की सभ्यता के पतन तथा भारत भूमि पर आर्यों के आगमन का संक्षिप्त पुनःनिरीक्षण करना होगा। इस सभ्यता का उद्भव का कारण सिन्धुघाटी की अनुकूल परिस्थितियाँ हो सकती हैं। भूमि के अत्यंत ऊर्वरा शक्ति होने के कारण जनसंख्या में तेजी से वृद्धि हुई। हो सकता है प्रारंभ में सिन्धुघाटी सभ्यता की जनसंख्या एक समान प्रजाति की रही हो, परन्तु वह ऐसी बनी नहीं रह सकी क्योंकि श्मशान स्थलों से प्राप्त कंकाल एक मिश्रित प्रजातीय विन्यास प्रस्तुत करते हैं। उसके पतन तथा विलुप्त होने के कारणों को अभी भी निश्चित रूप से नहीं बताया जा सकता। एक कारण सिन्धु नदी की धारा का विपत्तिकरण परिवर्तन हो सकता है जिस के फलस्वरूप घर विनाशकारी बाढ़ के चपेट में आ गये और खेतों में नदी की

मिट्टी भर गई, चूँकि कालानुक्रम संशोधित किया जा चुका है तथा इस सभ्यता का अंत लग-भग 1750 ईसा पूर्व निश्चित किया जा चुका है। उस प्राचीन परिकल्पना को पुनः जीवित किया गया है कि आर्य आक्रमणकारियों (ऋग्वेद कालीन आर्यों के पूर्व गामी) ने हड़प्पा सभ्यता के केन्द्र को नष्ट कर दिया हो तथा उसकी जनसंख्या को मार डाला अथवा खदेड़ दिया हो। मोहनजोदाड़ों में एक भवन की सीढ़ियों पर बिना दफनाये गये कंकालों की प्राप्ति इस कल्पना को समर्थन प्राप्त होती है।

आर्य और अनार्यों की संविलयन की प्रक्रिया चलती रही। दो महाकाव्यों रामायण और महाभारत उनका ऐतिहासिक महत्व कुछ भी हो, उनमें जनजातियों जैसे शूद्र, अभीर, द्रविड़, पुलिन्द, शबर अथवा सौर का सन्दर्भ आता है। इनमें से एक सर्वाधिक सुपरिचित है और संभवतः एक मात्र जनजाति है जो आज भी विद्यमान हैं तथा जिसका सन्दर्भ ऐतरेयब्राम्हण में भी खोजा जा सकता है, वह है शबरी, जिस ने राम को जूठे फल भेंट किए थे। वेरियर एलविन के शब्दों में "शबरी ऐसे योगदानों का एक ऐसा प्रतीक बन चुकी है कि जनजातियाँ भारत के जीवन का निर्माण कर सकती हैं और करेंगी।"[19] उस समय ज्ञात जनजातियों में अधिकांश ने महाभारत तथा असंख्य घटनाओं में सम्मिलित होने का दावा किया है। एकलव्य नामक एक भील जिसने गुरुदक्षिणा के रूप में द्रोणाचार्य को अपना अंगूठा अर्पित कर दिया था, दंत कथाओं में एक आदर्श शिष्य के रूप में वर्णित किया गया है। मुण्डा, नागाओं ने कौरवों की ओर से पाण्डवों के विरुद्ध लड़ने का दावा किया है। भीम का पुत्र घटोत्कच जिसने युद्ध में असाधारण वीरता का प्रदर्शन किया था, का जन्म भीम की जनजातीय पत्नी हिडिम्बा से हुआ था। अर्जुन ने एक नागा राजकुमारी चित्रांगदा से विवाह किया था। तथा कथित मिश्रित जनजातियाँ एक जाति के पुरूष तथा दूसरी जाति की स्त्री से उत्पन्न सन्तान थीं। इनमें से कुछ संभवतः ब्राम्हणीकृत जनजातियाँ जिन्हें मिश्रित जनजातियाँ नाम दिया गया, "निषाद, जिन्होंने इस काल में अपनी प्रारंभिक स्थिति खो दी। यह आखेट करके अपना जीवन यापन करते थे। मेदा, आन्ध, मद्गा, चेंचू लोग वन्य पशुओं का शिकार करते थे। कसाहलस, उर्गा, पुक्कास जो पशुओं तथा पक्षियों को पकड़ते थे, वनों में काम करते थे। चाण्डालों का जो एक और जनजाति थी हिन्दू समाज में संविलयन हो गया, तथा उन्हें पशुओं तथा मनुष्यों के शवों को हटाने, अपराधियों के अंगों को काटने और उन्हें कोड़े लगाने का कार्य सौंपा गया। इस प्रकार

जनजातियों को हीन बनाने की प्रक्रिया चलती रही।"[20].

इतिहास में देखा जा सकता है- आक्रमणकारियों तथा बड़े साम्राज्यों ने छोटी जनजातियों को पराधीन बनाया। "अजातशत्रु ने वैशाली जनजातीय गणतंत्र को नष्ट कर दिया। अतविक जनजाति समुदाय का संदर्भ एक शक्तिशाली विरोधी के रूप सामने आता है। अशोक ने उत्तरी पश्चमी जनजातियों को धमकी दी थी कि यदि उन्होंने विद्रोह किया तो उसके घातक परिणाम होंगे, जब कि उसने अपने राज्य की जनजातियों को अपनी शरण देने का आश्वासन दिया।"[21]

उस समय जनजातियाँ जंगलों काननों में निवास करते हुए भी समाज से सुपरिच थी, यह बात इस तथ्य से प्रकट है कि पौराणिक महाकाव्य में तथा परम्पराओं की मिथकों और लोक वार्ताओं में उनका उल्लेख मिलता है। राम, सीता, लक्ष्मण, रावण तथा भीम आदि महाकाव्यों के नायकों का मध्य-भारतीय जनजातियों पर प्रभाव जनजातियों द्वार संचित मिथकों तथा कथाओं में मिलता है। "गोंड अपने को रावण की संतान कहते हैं। मनु एक अन्य पौराणिक व्यक्ति हैं। जिन्होंने जनजातियों को गहनता से प्रभावित किया। इस लिए मुण्डा जनजाति के लोग उन्हीं के नाम पर स्वयं को 'मनोआको' पुकारते हैं।"[22] इसके अतिरिक्त प्राचीन संस्कृत साहित्य में भी इनका वर्णनमिलता है- "पंचतंत्र तथा कथासरिता सागर में उनका रूमानी एवं मैत्रीपूर्ण परिप्रेक्ष्य में वर्णन प्रस्तुत किया गया है। विष्णुपुराण में उन्हें चपटी नासिका वाले वौनों के रूप में वर्णित किया गया है। कादम्बरी तथा हर्षचरित् में बाण ने सओरा जनजाति का विस्तृत वर्णन किया है।"[23]. कहा जाता है कि "सामन्त काल 400-1000 ईस्वी में जनजातीय क्षेत्रों को अपेक्षाकृत अधिक खुलापन प्राप्त हुआ तथा जनजातीय मुखियों का हिन्दुत्वीकरण हुआ। ब्राम्हण पुजारियों ने उनके लिए उपयुक्त पौराणिक वंशावली तौयार की तथा सत्तादारी ब्राम्हण वर्ग ने जनजातियों की संसृतीकरण अथवा ब्राम्हणीकरण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाया। इसके पश्चात 11 वीं तथा 12 वीं शताब्दियों में मुसलमान राजाओं के आक्रमण तथा उनकी अधीनता स्वीकार न करने वाले राजपूत जनजातीय क्षेत्रों में प्रवेश करने लगे फलस्वरूप बहुत सी जनजातीय समदाय जो प्रकृति पर निर्भर होकर स्वतंत्र रूप से अपना जीवन व्यतीत कर रही थी उनका पतन हो गया।"[24]. इस प्रकार जनजातीय क्षेत्रों में प्रवेश किये परमार राजपूतों ने शहबाद क्षेत्र से चेरों जनजाति को निष्कासित कर दिया। इसी प्रकार बिहार के

दक्षिण में मुंगेर जनपद में भूमिया जनजातियों का स्थान चन्देलों ने ले लिया। मुसलमानों के शासनकाल (12 वीं से लेकर 18 वीं शताब्दी तक) में एक नये दृष्टिकोण के दर्शन होते हैं। तुर्क, अफगानी तथा मुगल शासकों ने अधिकांश जनजातीय मुखियों अथवा मध्यभारत तथा बिहार के जनजातीय क्षेत्रों में हिन्दु शासकों की मात्र औपचारिक निष्ठा की माँग की। सन् 1585 तथा 1616 ईस्वी में मुसलमान सेनाओं ने छोटा नागपुर में प्रवेश किया तथा खुकरा के राजा को अपने अधीन कर लिया, इसी प्रकार असम के जनजातीय क्षेत्रों को एक अन्य मुसलमान सेना नायक ने अपने अधीन कर लिया। सन् 1616 ई. के आस-पास दाऊद खाँ ने पलामू के चेरों को अपने अधीन कर लिया। इस काल में उत्तरपश्चिमी सीमा क्षेत्र में कुछ जनजातियों का इस्लाम धर्म में धर्मांतरण हुआ। पीर सैयद शाह कलाम और पीर सैयद मुहम्मद जिन्होंने जनजातियों के बीच कार्य किया। कुछ औसे मुसलमान संत भी हैं जिन्होंने जनजातीय क्षेत्रों में कार्य किया तथा अपने धर्म का प्रचार किया।

भक्ति आन्दोलन जैसे हिन्दू धर्म की कतिपय धाराओं ने भी मुण्डा तथा ओरांव जैसी जनजातियों को प्रभावित किया "चैतन्य महाप्रभु झारखण्ड से मुण्डा क्षेत्रों में कार्य करते गुजरे। विनन्ददास जैसे वैष्णव प्रचारकों ने बहुत सी जनजातियों का धर्मान्तरण किया। भुइयां लोगों का पूर्ण रूपेण हिन्दुत्वीकरण हो गया तथा उन्होंने अपनी सभी जनजातीय विशेषताओं को खो दिया। जनजातियों में अनुवर्ती भक्ति आन्दोलन की जड़ें वैष्णव धर्म में परिवर्तित असम के अहोमों में अधिक स्पष्ट दिखता है।"[25]

इसके बाद अंग्रेज अपनी आधुनिक प्रौद्योगिकी, नवीन उपागम तथा निहित स्वार्थों के साथ प्रकट हुए। अंग्रेजी शासन के उद्भव का अर्थ जनजातीय क्षेत्रों में, समुद्री किनारों तथा बिहार और बंगाल में प्रवेश था। जनजातीय क्षेत्रों के बीच से ग्राण्ड ट्रंक रोड के निर्माण बाहर से व्यापारियों, साहुकारों तथा भूमि पर कब्जा करने वाले परदेसियों के प्रभाव में तेजी ला दी। इसके आगे बढ़ती हुई जनसंख्या के दबाव तथा जमींदारों द्वारा क्रूर शोषण तथा दमन, किसानों तथा कारीगारों का अनादिगम्य जनजातीय क्षेत्रों में प्रवसन को सुविधाजनक बना दिया। परिणामस्वरूप 18 वीं शताब्दी में जनजातीय क्षेत्रों में जनजातीय व्यवस्था के भंग हो जाने की स्थिति में जनजातियों की सहनशक्ति तथा धैर्य का बाँध टूट गया और जनजातियों द्वारा बड़े से बड़े विद्रोहों का जन्म हुआ। इन विद्रोह का संक्षिप्त परिचय अगले अध्याय में दिया गया है। उपर्युक्त सभी बातें भारतीय आदिवासी इतिहास की भूमिका के रूप में देख सकते हैं। आगे हम भारतीय आदिवासियों की संक्षिप्त इतिहास

प्रस्तुत करने जा रहे हैं जो काल के अनुसार विभाजित किया गया है जो इस प्रकार है- प्राचीन काल में आदिवासी, मध्यकाल में आदिवासी, आधुनिक काल में आदावासी।

1.3.1. प्राचीन युग में जनजाति

भारतीय इतिहास के आरंभिक काल में जो मूलतः हिन्दू युग था। जनजातियों को अपने हिन्दू पडोसियों के साथ समझौता करना पड़ा था, उन्हें जंगल में दूर गहरे चला जाना पड़ा। हिन्दू शासन के दीर्घ शताब्दों में हिन्दू पड़ोसियों के साथ जनजातियाँ उनकी संस्कृति में घुलमिल गई। उस समय जितनी भी जनजातियाँ थीं उन सबको एक न एक हिन्दू वर्ग बनाया था चाहे वह छोटा या बड़ा हो वे सब लम्बे समय तक हिन्दुओं के साथ नज़दीकी संबंधो में बंधे हुए थे। धर्म और आजीविका के साधनों में हिन्दुओं के साथ उनकी साँझी और सामान्य दिलचस्पी थी। यह भी पता चलता है कि उनमें हिन्दुओं की तरह दीखने अथवा हिन्दुओं के साथ नज़दीकी संबंध रखनेवालों के रू में दिखने की प्रवृत्ति थी। हाँ जनजातियों का एक वर्ग अलग-थलग पहाड़ों और घोर जंगल में रहता था। यही वर्ग केवल हिन्दू धर्म से अचूता था और उन्होंने ही जनजातिगत विशेषताओं और संस्था को बनाये रखा था। जो हिन्दू धर्म से जुड़ गये थे वे यथावर्त पिछड़े हिन्दू थे। ब्रेड्ले, बोल्ट, बेने, रिस्ले, ओमले, शूबर्ट, एल्विन ने हिन्दू संस्कृति के साथ जनजातियों की सम्मिश्रण को सुझाया है। भारतीय इतिहास के हिन्दूकाल में इनके और हिन्दू पड़ोसियों के बीच के परस्परावलंबी स्थितियों के कारण उन्हें प्रमुख हिन्दू परम्पराओं में से अधिकांश को घुलमिल कर स्वीकार करना पड़ा। पर यह सच है कि इस काल के दौरान उनके बीच कमोवेष अच्चे पारस्परिक संबंध थे। जहाँ तक देवानांप्रिय अशोक आरम्भिक काल का प्रश्न है जनजाति उस युग में अपने के अदिक सुरक्षित मानती थी। अशोक ने अपने 13 वें शिलालेख में शबाजगड़ी संस्करण कहते हैं में लिखा है कि- "यहाँ तक कि जंगलों के निवासी जो देवानांप्रिय के प्रभुत्व क्षेत्र में समाविष्ट हैं उन सब को उसने शांत कर दिया और धर्मांतरित कर दिया था। देवानांप्रय को उन्हें दंड़ित करने का अदिकार था, उनके प्रायः चिन्तनकरण के बावजूद जहाँ वे अपने अपराधों के लिए लज्जित हो सके पर उन्हें मारा नहीं जा पाया, क्योंकि देवानांप्रिय की यह इच्चा थी की सभी जीवों को हिंसा से, आघात से बचाया जाए, आत्मनियंत्रण रखा जाए और हिंसा के मामले में पक्षपातीनता बरती जाए।"[26]

800 से 600 ई. पू की 200 वर्षों के दीर्घ हिन्दू काल के लम्बे भारतीय इतिहास के दौरान हमें

जनजातियों के विषय में कुछ बिखरे उल्लेख प्राप्त होते हैं। यहाँ उनके इतिहास की ठीक-ठीक रेखांकित नहीं किया जा सकता है। ऐसे में ऐतिहासिक नृतत्व विज्ञान जिसके भीतर लोकप्रिय विश्वास, निजंधरी, मिथक, कहानियाँ स्थानियता या क्षेत्र का संक्षिप्त इतिहास आदि जो लोक संबद्ध है वही हमें जनजातियों के अभिलेखीकृत अतीत के विषय में कुछ जानकारी दे सकते हैं। देश में इन लोगों की आंतरिक गतिशीलता जनजाति के इतिहास के बारे में विषेष रूप में जनजाति के आबादी के बारे में सामान्यतौर पर बताती है कि वे अपने वर्तमान भू-भाग पे स्वशासित होने के लिए विचार नहीं कर सकती थी। वे जनजातियाँ जो मध्य भारत में और उससे जुड़े पश्चमी भारत में रहती थी। वे कुल जनजाति के आबादी के चार से पाँच हिस्से को संगठित करती थी। यही नहीं इन क्षेत्रों में लगातार प्राव्रजनन होता रहता था। यहाँ तक की ऐतिहासिक युग के दौरान तक यह संभव नहीं रहा किअभिलेखों की अनुपस्थिति में उनके मूल स्थान को पहचाना जा सके फिर भी इनकी ययावरी स्थितियाँ इनके प्रत्यागमन के उस इतिहास की व्याख्या करती है जहाँ ये भारतीय लोगों के कुछ सबल वर्गों के द्वारा धकेल दी जाती थी। उदाहरण के लिए ई. पू. छठी शताब्दी में छोटानागपुर में सेटल करने अपना वास स्थान निश्चित एवं निर्धारित करने के पहले अनेक जगहों पर रहते आये थे। ऐसा विश्वास किया जाता है कि पूर्वी उत्तर प्रदेश का आजमगढ़ मुण्डा का प्राचीन आवास था। जनरल कानिगहम ने ऑर्कियालोजी प्रतिवेदन में उस क्षेत्र के सूरी की पहचान सवरा के साथ की है जो संभतः सभी कोलारी जनजाति का एक वंश का या जातियत नाम है। पष्चिम में कुरुक, भील और मुण्डा और पूरब में संथाल, भूहिंया को भूमिज और ज्वास स्थिति थी। अजमगढ़ से मुण्डा सफलता पूर्वक चक्राकार रास्तों का अनुगमन करते हुए विभिन्न जगहों को प्रव्रजित हुए। उत्तरी भारत से वे आधुनिक बुन्देलखण्ड और मध्य भारत के दक्षिणी इलाके में वहाँ से पूर्वी राजस्थान में फिर उत्तरी पश्चिम भारत में और वहाँ से आधुनिक रुहेलखण्ड और अवध होते हुए उत्तरी बिहार और फिर वहाँ से मगद में दक्षिणी बिहार और अंततः रूईदासगढ़ आधुनिक रोहतासगढ़ में आ बसे। मुण्डा की परम्पराओं और उनके साथियों और नाते तक मुण्डा और संसथाल दोनों एक ही जनजाति के अन्तर्गत थे, जब कि एक दूसरी जनजाति खारवर के साथ संघर्ष के पहले उन्होंने रोहतासगढ़ छोड़ दिया और विंध्य के बृहत्तर तराइयों में चले गए। वहाँ से उन्होंने सोन नदी को पार किया और दक्षिण-पूर्व दिशा में ओमेडांडा तक अपनी पहुँच बनाई तथा छोटानागपुर में अपना वास सुनिश्चित किया। कुछ समय बाद संथाल और मुण्डा ने साथ छोड़ दिया और दोनों अलग-अलग हो गए। संथालों ने दामोदर नदी पार कर धनबाद में निवास किया और वहाँ से संथाल परगना में निवास किया। मुण्डा परिवारों ने अपना गाँव वहाँ बनाया जिसे बाद में खुण्टकट्टी हातु कहा

गया। यह गाँव जंगली क्षेत्रों को साफ करते बनाया गया। इस ग्राम संस्था- समय बीतने के दौरान मुण्डा ने पट्टी व्यवस्था अपनाई। जिसमें बारह गाँव का संघ होता था, यही पट्टि कहलाता था। इसका मुखिया मंकी होता था, जो गाँव का मुखिया भी होता था। पारिवारिक शंसान होता ता जिसे ससन कहते थे, जिससे उनका आत्मनिर्भर गणतंत्र स्वरूपित होता था। कुछ शताब्दियों के बाद एक द्रविड़ जनजाति उराँव मंचपर अवतरित हुई और उसने मुण्डा के जंगली इलाकों में घुसपैट करने का रास्ता बनाया। संभवतः इसी युग के दौरान होरो या मुण्डा जिन्हें आज हो कहा जाता है जो उनकी एक शाखा थे और जो बाकियों से अधिक पारम्परीन थे। वे कोइल नदी के दक्षिण की ओर नीचे उतर आये और सिंहभूम के एक इलाके में बस गये। वो इलाका इन्हीं के नाम पर कलहन कहलाता है। मुण्डा और पूरब की ओर यात्रा करते रहे, उन्होंने उराँव को रांचि जिला के उत्तरी पश्चिमी भाग में छोड़ दिया। अंततः वे छोटानागपुर के केन्द्रीय पठार तक पहुँच गये। बाद में पाँच सौ ईस्वी में उस समूचे क्षेत्र का एक प्रमुख प्रधानों या मंकीज के हाथ निर्वाचित हुआ और उसे नागपुर का राजा घोषित किया गया। कहते हैं कि राजा फनिमुकुट राय को मुण्डा ने ईश्वर द्वारा दी गई भेंट के रूप में स्वीकार किया। इस संबंध में उस क्षेत्र के लोक इतिहास में ऐसी पुराण कथा जुड़ी हुई है।

बाद में असुर जनजाति को पश्चिम की ओर धकेल कर या खदेड़कर मुण्डा दक्षिण और पूर्वी दिशा की ओर फैल गए जो वर्तमान खूँटी, पंचपरगना और पुरूलिया का क्षेत्र है। स्थानिक परम्परा के अनुरूप बाद में कुर्मियों ने पुरूलिया क्षेत्र से कोल को निष्कारित कर दिया। समय गुजरने के साथ ही मंकी या पट्टी प्रमुखों में से कुछ ने अपने सामाजिक स्तर का उत्थान चाहते हुए हिन्दू कृत हो गये और अपना वैवाहिक संबंध राजपूतों और क्षत्रियों के सात बना लिया और अपने को राजा या ठाकुर कहने लगे।

दूसरे कोलारियाँ जाति सौरा को मध्य और पूर्वी भारत में अधिकार मिले जो 800 ई. पू. से 1300 ई. उत्तर के बीच प्राप्त हुआ। इस समय ये प्रभुत्व संपन्न जाति के रूप में उभरे। मध्य और पश्चिमी भारत के प्रमुख जाति भील उत्तर-पश्चिमी की ओर से माल्वा चली आई। संस्कृत में गुणाड्य की रचना कथा सरिता सागर में भील का उल्लेख प्राप्त होता है। जहाँ यह बताया गया है कि एक भील प्रमुख ने दूसरे राजे का माल्वा से होकर गुजरने का विरोध किया। इस से इस क्षेत्र में उनकी विध्यामानता प्राधान होती है। कल्नल टाड और अन्यों के लेखन से यह पता चलता है कि भील अपने अस्तित्व के लिए बहुत प्राचीन समय से ही पहले राजपूत और बाद में मुसलमानों के साथ लड़ते रहे। वे मध्य भारतीय पहाड़ी के उपेक्षित क्षेत्रों में गहरे से गहर उतरते

गए और आरावली तक चले गए। अंतः राजपूतों ने भीलों को उस बूमि के मौलिक भूस्वामी के रूप में उन्हें मान्यता दी, मानो वे उस क्षेत्र में कुछ रहस्यात्मक अधिकारों का संवहन कर रहें हो पर हर समय वहाँ एक नया शासक ताज पा लेता था पर तबतक उसको प्रमाणिकता प्राप्त नहीं हो पाती थी जब तक की भील प्रमुखों के प्रतिनिधियों द्वारा औपचारिक रूप में स्वीकृत कर लिया गया हो। उनके नये सम्राट के अबिशेक उत्सव या टीका उत्सव भील प्रमुखों द्वारा ही संपन्न किया जाता था। जैसा नाथ ने लिखा है "रेवाखण्ट में दसवीं से बारहवीं शताब्दी के असंख्य भील प्रमुख थे पर चौदहवीं शताब्दी तक राजपूतों ने इन राजाओं का स्थान ले लिया। 1480 ई.के लगभग यह क्षेत्र मुस्लिम शासकों के अदीन हो गया और उनका प्रभाव 17 वीं शताब्दी के मध्य तक बरकरार रहा। इस काल तक भीलों का इस्लाम में व्यापकस्तर पर अंतरण हुआ पर यह सब कुछ नाम मात्र को हुआ क्योंकि उनलोगों ने अपनी सामान्य भील परम्पराओं को बनाये रखा।"[27]

एक द्रविड़ जनजाति उरांव जिन्हें कुरूक भी कहा जाता है उन लोगों ने मुण्डा को पूर्वी दिशा में और खदेड़ा और वे स्वयं रांची में बस गये। उनका आंतरिक प्रवजन शायद दक्षिण भारत के कर्नाटक में कूर्ग के निकट कहीं से आरम्भ हुआ था। टाल्टन कूर्ग शब्द को कोंकन के साथ संलग्न करता प्रतीत होता है। कोंकन के लोग कोनकना के साथ तदरूपात्मक सिद्ध होते हैं, ऐसे विष्णुपुराण में साक्ष्य मिलता है और कोंकन को इस प्रजाति मूल स्थान माना गाया है। उराँव अपने को रामायण युग के वानरकों का वारिस मानते हैं। भाषा शास्त्री कर्नाटक की कन्नड़ भाषा में कुर्ग से इसका निकटतम साम्य दिखलाते हैं। उरांव की नजंधरी यह बताती है कि उरांव ने रामायण के युद्ध में भाग लिया था। कालांतर में उरांव नर्मदा तक बड़ते प्रतीत होते हैं जब तक की वे सोन घाटी तक नहीं पहुँच जाते हैं। कुछ समय के लिए वे आराम नगर आज के आरा शहर के निकट की जगहों में रहते दीखते हैं। आराम नगर और बक्सर को व्याग्र शहर कहते हैं। अंतः वे रूइतासगढ़ जो वर्तमान रोहतासगढ़ है में आश्रय लेते दिखते हैं। आरंभिक इतिहास में जो आज भोजपुर और रोहतास के रूप में जाना जाता है यह क्षेत्र सफलता पूर्वक उरांव और खरवार द्वारा अधिकृत कर लिया गया साथ ही तीन राजपूत भाई के द्वारा भी ये उराँव ल्मच्य जाति के द्वारा वहाँ से निकाले गये। इनमें चड़ाई करने वाली जाति संभवतः चेरी थी जो अशोक तथा गुप्ता साम्राज्य पूर्व तक उस क्षेत्र में शासन किया था। जब उन्होंने उराँव को रोहतास से निष्काशित किया तब उराँव जाति दो शाखाओं में विभक्त हुई। इन में मलेर की एक शाखा गंगा की घाटी तक

उत्तरोत्तर दिशा में बड़ती गई और राज महल की पहाड़ियों पर जा कर बस गई। दूसरी प्रजाति सोन और उत्तरी कोइल तक चली गई। उराँव ने पाया उस क्षेत्र में मुण्डा भी रह रहे हैं। आरम्भ में वे मुण्डा के साथ सही रूप में रहे लेकिन कालान्त में वे उत्तर पश्चमी क्षेत्र में धीरे-धीरे प्रभुत्व संपन्न होते गए और मुण्डा उस पठार के दक्षणी-पूर्वी भागों की ओर वापिस हो गए। उराँव ने मुण्डा के ऊपर अपनी श्रेष्ठता का अनुभव किया। उनसे ही उनकी ग्राम संस्था को अंगीकार कर लिया। इसी समय इस क्षेत्र में नागवंशी राजा के आविर्भाव ने एक अनुवंशिक राज्य को स्थापित किया जो उराँव और मुण्डा के ऊपर था।

दक्षिण भारत में जैसे हम देखते हैं प्राचीन काल में केरला के उरली, कुरुंबा के पूर्वज कुरवन या कुरंबा थे जो आठवीं शताब्दी के आरंभ तक सबसे ऊपर थे। पर वे जब बार-बार कोंगा, चोला, चालुक्य के द्वारा पराजित हुए। अंतः एक चोल राजा द्वारा वहाँ से उझाड़ दिये गए और छिन्न-भिन्न कर दिये गए। वे पश्चमी घाट के बहुत पुराने वासी माने जाते थे। तमिलनाडु के कल्लर जो लड़ाकों का एक प्रकार थे वे शाही, पाणे, चोल के वारिस होने का दावा करते हैं। इतना ही नहीं वे मलबार को हासिये परक का क्षेत्र मानते हैं। जहाँ सामाजिक व्यवस्था दूसरे क्षेत्रों में उखड़, उजड़ कर चली गईं और वहाँ एक लम्बे समय तक बची रही। मलबार तट की परम्परा दूसरी जनजातियों और दक्षिण भारत की जनजातियों में भी प्राप्त हो सकती है। यहां तक की टोड़ा भी मलबार के अधिक निकटस्त माने जाते हैं। कुरी, चेचियान मलबार के इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करता है। कदर, अल्लर, आरंडान तथा अन्य भी केरल से अपना संबंध जोड़ते हैं।

उत्तरी-पूर्वी हिमालयी जनजाति का आरंभिक इतिहास ने यह आख्यायित किया है कि बोड़ो जनजाति ब्रह्मपुत्र घाटी के पूरे क्षेत्र में पैली थी और गारो नाम पहाड़ी को उसने अपने अधिकार क्षेत्र में ले लिया था जिसमें उत्तरपूर्वी हिमालय में आध्यन्त उसने अपना निशान छोड़ा था। बाद में भारत मंगोली, असम या अहोम ब्रह्म पुत्र घाटी की पूर्व में अपने आप को स्थापित किया था कोई तेरहवी शताब्दी का आरम्भ काल था और आसाम को अपने नाम से नामित किया था।

केन्द्रीय हिमालय में 300 ई. पू हस नामक जाति ने निवास किया। जोनसार बाबर और कल्टा के द्वारा प्रतिनिधित्व प्राप्ति पूर्व द्रविड़ कालीन जनसंख्या वहाँ थी। स्थानिक तौर पर खस राजपूत और ब्राह्मण दोनों का प्रतिनिधित्व करते हैं। वे शारीरिक तौर पर कश्मीरियों के समान हैं। पूर्व ऐतिहासिक काल में उन्होंने उत्तर भारत

के बहुतेर भागों में अपना निवास मनाया। ऐसा माना जाता है कि ईसाई संवत शुरू होने के बहुत पहले ही कश्मीर से खस यहाँ आये। केन्दीय हिमालय की तराइयों में थारू जनजाति जो शारदा नदी के किनारे और पूरब में कोशी नदी तक है। श्रीवास्तव संपुष्ठ करते हैं कि "मध्य भारत के जनजाति विस्तार को अत्यधिक उत्तर में थारू जनजाति ही प्रतिनिधता देती है, बजाय इसके कि हिमालय में रहने वाली इस जाति को मंगोलियन जाति की प्रशाखा के रूप में देखें।

इस तरह हम पाते हैं कि प्राचीन काल में जनजातियाँ पूरे देश को पार करते हुए आंतरिक गतिशीलता के रूप में जाती रही। उनकी यह गतिशीलता सामान्यतौर पर नदियों और तराइयों के द्वारा निर्दिष्ट होती रही और उनका गंतव्य देश के पहाड़ या जंगली क्षेत्र बनी।

1.3.2. मध्य युग में जनजाति

मध्ययुग से पूर्व आदिवासी स्वायत्त थे। परन्तु 16 वीं शताब्दी के अंत में वे मोहम्मद शासकों द्वारा धीरे-धीरे प्रताड़ित किये गये तथा वे अपनी स्वायत्तता खो दी। कुछ उदाहरणों द्वारा उनकी इस स्थिति को पुष्ठ किया जा सकता है। मध्य भारत में छोटानागपुर के नागवंशी राजा जो कि उरांव और मुण्डा जाति के सरदार थे उन्हें मालगुज़ार या सहायक तथा सीमित कर दिया गया। 1585 जहंगीर के शासन में फिर से मोहम्मद राजपाल सामयिक चुकौता और मासिक रसद एवं सहायता चाहते थे जो कि छोटानागपुर के राजा द्वारा उरांव और मुण्डा गाँव की समुदायों द्वारा प्राप्त होती थी। इस मांग की पूर्ति करना कठिन था। अंततः 1616 में उसे गिरफ्तार कर लिया गया और 12 साल बाद जब वह रिहा हुआ तो उसे सालाना कर अदा करना पड़ा।

अपनी वापसी के बाद उसने महाराज की उपाधि ग्रहण की और अपने कुल नाम को राय से बदल कर शाह अथवा शाही रख लिया। उत्तर भारत की हिन्दू राजाओं की संगत ने नागवंशी राजा को राजसी गौरव के प्रति प्रेरित किया। एक भव्य महल का निर्माण किया गया, और शाही महाराज ने शीघ्र ही ब्राह्मण पंड़ितों, राजपूतों और तथा-कथित राजपूत दरबारियों और अमलाओं तथा महल के प्रशंसकों को इकट्‌टा कर लिया। कई प्रकार के कर नकद अथवा दान (रकूमत) तथा उपकर (अवबास) को लागू किया गया। उरांव और मुण्डाओं ने इसका विरोध किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि अधिक से अधिक बाहरी लोगों को उस समय

के महाराजा द्वारा बुलाया गया जिसका भारी खामियाजा गाँव वालों को वहन करना पड़ा। सेवा का तंत्र जो कि जागीर देने (जागीर- सेवा किये जाने की पहचान में) की प्रथा को सुरू किया गया। यह आदिवासियों के लिए कृषि संबंधी मुसीबतों की शुरूआत थी। यह समय इस लिए भी उल्लेखनीय है क्योंकि यह समय जगन्नाथ मंदिर, राम-सीती मंदिर इत्यादी का समय था। मोहम्मदों के शासन के अंत का यह समय में इस क्षेत्र में भारत के अन्य क्षेत्रों छोड़कर इस क्षेत्र में एक बड़ा अशामति का समय था।

पश्चमी भारत के भील भी मोहम्मद और मराठा आक्रमणकारियों से त्रस्त थे। बदे पैमाने पर भीलों का इस्लाम में परिवर्तन हुआ। 17 वीं शताब्दी के शुरूआत में पूरे भील क्षेत्र में ऐसा प्रतीत होता था कि भीलों को चैन नहीं था। । वे अत्याचारी शासकों अनेक सरदारों और मामूली राज विद्रोहियों द्वारा लूट और आगजनी हो रहा हो। भीलों के सशस्त्र समूह लूटपाट में मशगूल थे। वे सीधे-सीधे क्षेत्रीय शासकों और मराठा आक्रमणकारियों से संघर्ष कर रहे थे। इन त्रस्त इलाकों में भीलों के साथ बेरहमी से पेशाया गया। जैसे की जानवरों के साथ पेशाते हैं। नतीजतः वे निरीव पहाड़ों की तरफ पीछे हटते गये। मगर 1800 के होलकर और सिंध के बीच हो रहे युद्धों के अशान्तकाल में भील सामने उभर कर आये और इतने साहसी बन गये कि क्षेत्रीय सरदारों का आतंकित कर भारी रकम वसूल करने लगे। 1780 से 1800 काल में अनेक बीलों के विद्रोह को देखा गया। मध्ययुग में मध्य भारत को गोंडों को भी इसी हालात का शिकार होना पड़ा। 15 वीं शताब्दी के शुरुआत में जबलपुर के करीब गराह में एक पुख्ता गोंडवंश स्थापित था।

संवत 1564 में गरहा पर विजय प्राप्त की और गोंड़ को अपनी वफादारी मुगल शासन को जतानी पड़ी। 1780 तक शेष गोंड जाति का भी खात्मा हो गया जब मराठों ने उनके अन्तिम शासक को गिरफ्तार कर लिया। चान्दा के एक अन्य गोंड जाति को मराठों ने अधिन्स्त कर लिया।

भारत के उत्तर और पश्चिम के बन्जारों को भी मुगल सेना का हिस्सा बनना पड़ा जब उन्होंने दक्षिण भारत पर आर्कमण किया। जिसका परिणाम यह हुआ कि बहुत से ऐसे लोग स्थानांतरित हो गये। सेना को संम्पर्क और यातायात की बहुत सारी दिक्कतों का सामना करना पड़ा। परन्तु उनकी इस यात्रा को तेज और सुगम करने में बंजारों के बैलों के समूह का बहुत बड़ा योगदान रहा और जब मुगलों ने दक्षिण भारत में अपने

पैर जमा लिये तब बन्जारे दक्खन पठार के आसपास के इलाकों में बस गये। जब वे अपने जानवरों (बैलों के समूह) के साथ मुगल सेना से आज़ाद हो गये तो उन्होंने व्यापार करना शुरू कर दिया तथा उत्तर और दक्षिण में लेन देन के कार्य में एक महत्वपूर्ण माध्यम बन गये।

हिमालय के क्षेत्रों में भी मुहम्मदों ने शासन करने का प्रयत्न किया। चौदवीं शताब्दी के अंत में सिरमुर के राजा को पराजित करने के लिए जाउन्सार-बाबर की पहाड़ियों पर चढ़ाई की। 17 वीं और 18 वीं शताब्दी तक रवासायें गड़वाल के राजा के अधीनस्त रही। सरहानपुर के मुहम्मद रोहीला सरदारों ने गड़वाल पर दिया और लगभग एक दशक तक यह क्षेत्र गुज्जरों, राजपूतों और सिक्खों से शोशित होता रहा। जाउन्सार और बाबर के क्षेत्र मुगल शासकों के अधीनस्त ही रहें। 1790 में गोरखाओं ने कुमाऊँ और गड़वाल में प्रवेश किया। सिरमुर के राजा ने उनसे संधि कर ली परन्तु यह अधिक समय के लिए स्थायी नहीं रह पाया। और अन्ततः यह क्षेत्र गुरखाओं के कब्जे में आ गया। 1680 तक तमाम बोडो साम्राज्य को अहोमों ने उत्र पूर्वी हिमालयों में कब्जा कर लिया था।

अतः यह साफ दिख पड़ता है कि मध्यमुग में आदिवासी लोग भारत के विभिन्न क्षेत्रों में बसे थे या तो मुहम्मद शासकों अथवा क्षेत्रीय राजाओं द्वारा त्रस्त किये जाते रहे।

1.3.3. आधुनिक युग में जनजाति

आधुनिक युग की शुरुआत देश में ब्रिटिश शासन से शुरू हुई। जब ब्रिटिश चोटानागपुर (जंगल महल) में दाखिल हुए उनका घोर प्रतिरोध आदिवासियों द्वारा किया गया। परिणामस्वरूप आदिवासियों को तनावपूर्ण स्थितियों का सामना करना पड़ा। नव-स्थापितों जैसे कि सूदखोरों और महाजनों ने उन्हें अनेक तरीकों से शोषण करने की कोशिश करने लगे। सरकार और विदेशी लोगों द्वारा जंगल पर कब्जा कर लेने की वजह से उन्हें उनके एक मात्र व्यवसाय की भी समाप्ति हो गई। जंगल के ठेकेदार जंगल के उत्पाद का बहुत बड़ा हिस्सा ले जाते थे। अंग्रेजों के भू तंत्र ने भी आदिवासियों से उनकी स्वामित्व छीन ली। सूदखोरो, महाजनों, जमींदारों द्वारा कर की बढ़ोतरी आदि ने अन्ततः बहुत अस्तव्यस्तता और विद्रोह को जन्म दिया। इसकी शुरुआत पहाड़ियों द्वारा शुरू हुई और 1795, 1800, 1801, 1807, 1808, 1816, 1821 और चाउर में हुई विद्रोह के साथ शुरू हुए। विद्रोह को दबा दिया गया। यह ब्रिटिशों द्वारा अलगाव करने की शुरुआत थी।

1846 खोन्डा विद्रोह, 1854 की संथाल क्रान्ति, 1869-70 की धनबाद की हलचल। इन सारे क्षेत्रों की विनियमित करार कर अलगा दिया गया। आगे चलकर इन अलगाये क्षेत्रों के लिए विद्रोह व्यवस्था को स्वीकृति मिल गई। 1874 में अनुसूचित कोला अधिनियम के तहत कार्यकारी को प्रदान की गई। फिर भी कुछ विद्रोह हुए जैसे कि 1887 का सरदारी विद्रोह, 1895 का बस्तर आंदोलन तथा 1914 का ताना भगत आन्दोलन इत्यादि हुए परन्तु सभी दबा दिया गया।

देश भिन्न क्षेत्रों के आदिवासी शान्त से संतुष्ट नहीं थे। जो कि उनकी रक्षा करने के नाम पर स्वयं की रक्षा कर रहे थे। जिसकी वजह से दो तरफ के नियम लागु किये गए। पूर्ण रूप से अलगावी क्षेत्र तथा संशोधित बाहरी क्षेत्र। इन अनुसूचित क्षेत्रों में कोई भी संघीय और प्रान्तीय कानून लागू नहीं किये गये।

यह सभी प्रशासनिक स्तर तक ही रहा। आदिवासियों को अतिक्रमण का सामना ईसाई धर्म परिवर्तन के रूप में भी करना पड़ा जो कि शासकों द्वारा, समर्थचित्त मिशनरियों द्वारा होता था। इस वजह से उन्होंने आदिवासियों को शिक्षा और स्वास्थ्य में तो मदद कीं वे दो हिस्सों में बंट गये। एक गैर ईसाई और दूसरे ईसाई। हिमालय के क्षेत्रों में धर्म परिवर्तन बहुत बड़े पैमाने पर हुआ। अलगावित क्षेत्र के नियम और धर्म परिवर्तन ने उन्हें एक हद तक अलग पहचानी दी, और यह बात आदिवासियों के दिमाग में बैठ गई।

स्वतंत्रता पूर्व के राष्ट्रीय आंदोलन में सामयिक कार्यकर्ताओं ने आदिवासी क्षेत्रों में बहुत गहरे जाने की कोशिश की तथा उन्हें साकारात्म प्रतिक्रिया भी प्राप्त हुई। ठक्कर बाबा के भील सेवा मंडल इनमें अग्रगण्य रहे।

आदिवासियों ने महात्मागाँधी और राष्ट्रीय नेताओं में अपना विश्वास जताया उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन में भी सक्रीय भाग लिया। वे जातीय शोधकों, इतिहासकारों और नृविज्ञानियों जो कि पढ़े लिखे ब्रिटिश अधिकारी से वे भी नहीं बच पायें। वे पहले लोग थे जिन्होंने आदिवासियों का अध्ययन किया। इसका मूल उद्देश्य उपनिवेशवादी शासन की सहायता करना था।

1947 में जब स्वतंत्रता प्राप्त हुई। हमारे राष्ट्रीय नेताओं ने आदिवासियों के विकास में बहुत उत्साह और जागरूकता दिखाई। कई आदिवासियों के अकिल भारतीय संगठनों की स्थापना की गई। भारतीय आदिमजाति सेवक संघ की स्थापना आदिवासियों की सहायता के लिए की गई। भारतीय संविधान में

आदिवासियों को विशेष देखभाल प्रदान किए गए। अलगाव को नियम को पूरे सिरे से खारिज कर दिया गया तथा भारत के अन्य लोगों के साथ आदिवासियों के ऐक्य की नीतियों को अपनाया गया। आदिवासियों के विकास के लिए कई पंच वर्षीय और वार्सिक योजनाओं में भारी राशि जारी किये गए। परिणाम स्वरूप अब आदिवासी भी बाकी लोगों की तरह विकास की प्रक्रिया से गुजर रहे हैं। औद्योगीकरण और कई तरह की नौकरियों ने उन्हें ऊँची प्रेरणाओं के सृजन में मदद की है।

स्वतंन्त्रता प्राप्ति के बाद आदिवासियों ने बहुत सारे विद्वानों का ध्यान अपनी ओर खींचा है। जैसा कि पहले कहा गया है कि स्वतन्त्रतापूर्व इनका अध्ययन सहज शासन हित को ध्यान में रखकर किया गया। परन्तु भारतीय गणराज्य में इसके प्रति रूख बदल गया और समस्या नियोजन को ध्यान में रखकर हो रहे हैं। ताकि वें भी जल्द से जल्द विकास की स्थिति को प्राप्त करें और भारतीय सभ्यता का एक महत्वपूर्ण अंग बने।

4.भारत में अनुसूचित जनजातियों की राज्यवार सूची

अरुणाचल - असम - "चकमा, दिमसा, कचारी, गारो, हजोंग, हमार, खासी जैन्तया, सिंतेंग प्नार, वार, भोई, लेंगंगन्। कोई भी कूकी जनजाति -(बिआत बिएत, चंगसान, चोगलोइ, डुंगेल, गमालहऊ, गंगते, गुइते, हन्नेंग, हाओकिप, हाउपिट, हओलाई, हेंगना, होंगसुंग, हरंख्वाल, रंगखोल, जोग्बी, खाओचुंग, खावाथलांग खोथलोंग, खेलमा, खोल्हाऊ, किपजेन, कूकी, लेघतांग, ल्हांगम, ल्होउजेम, ल्होउवुन, लुपहेंग, मांगील, मिसाओ, रियांग, साइरहेम, सेल्नाम, सिंगसन, सितल्होउ, सुक्ते, थादो, थांगन्यू, उइबुह, वाइफेइ। लाखेर, मान(ताई बोलने वाले), कोई भी मिजो(लुशाई) जनजाति, मिकिर, कोईभी नागा, पावी, सिंथेग, (अबोट, अक्का, अपातानी, बर्मा, दफला, गलोंग, गोंबा, खम्परी, खोवा, मिशमी, सिंहपों, शीरदुकपेन)।

असम - बोरो, बोरा कचारी, देओरी, सोनवाल, चकमा, दिमसा, होज़ाई, हाज़ोंग, कचारी, लालुंग, मैच, मिकिर, राभा।

मेघालय - गारो, हम्मार, खासी, चकमा, दिमसा, हजोंग, खसी और जयन्तिया(खासी, सिंटेंग् प्नार, वार, भोइ, लिंगंगम् सहित) कोई भी कुकी जनजाति निम्न सहित - बइते बिएते, छंगसान, चोंगलोइ, डोउन्गेल, गमाहऊ, गंगते, गुइते, हन्नेग्न, हओकिप, हाउपिट, हओलाई, हेंगना, होंगसुंग, हरांगख्वाल, रंखोल, जोंगबे,
खावचुंग, खावथ्लांग खोथ्लांग, खेल्मा, खोल्हाऊ, किपजेन, कुकी, लोगथांग, ल्हंगुम, ल्होउजेम, ल्होउवेन, लुफेंग,

मांगजेल, मिसाओ, रिआंग, सइरहेम, सेलनाम, सिंगसन, सितल्होउ, सुक्ते, थादो, थांगंग्कू, उईबुह, वइफेई, लाखेर, मन(ताई बोलने वाले) मिकिर, पावी, स्येनतेंग, बोरो कचारी, कोच, राबा, रावा।

नागालैण्ड - नागा, कुकी, कछारी, मिकिर, गारो, सितेंग।

मणिपुर - कुकी, अइमोल, अनाल, अंगामी, चिरू, चोथे, गांगते, हमार, काबुई, कचा नागा, कोइरओ, कोइरेंग, कोम, लामगांग, माओ, मारम, मारिंग, मोनसांग, मोयोन, पाइटे, पुउम, राल्टे, सेमा, सिमते, सुहते, तांखुल, थाडोउ, वाइफुई, जोउ।

त्रिपुरा - भूटिया, भील, चकमा, चैमल, गारों, हलम, जमतिया, खसिया, लुशार्द, लेपचा, मोग, मुंडा नोआतिया, ओरंग, संथाल त्रिपुरा या त्रिपुरो टिप्पेरा, उपेचाई, कूकी उप जातियां सहित - बैते, बेलालहट, छल्या, फुन, हजांगो, जांगतेइ, खारेंग, खेफोंग, कुन्तेइ, लाइफांग, लेन्तई, मिजेल, नाम्ते, पाइतु, रांगचान, रांगखोल, थांगलुया।

मिज़ोरम - लाखेर, मिज़ो, मार, पाकी, चकमा, दिमासा, गारो, हाजोंग, हमर, खासी, जैन्तिया, कुकी जनजातियाँ - बैते या बीते, चांगसन, चोनलोई, डोंगेल, गमाल्हू, गांगटे, गुइते, हन्नेंग, आहोकिप, हाउपिट, हाओलई, हेंग्ना, होंगसुंघ, हरंगखवाल या रंगखोल, जोंग्बे, कनवक्चुंग, क्नवाथलांग या खोथालोंग, खेलमा, किपगेन, कुकी, लेंथांग, लहांगुम, लहौजेम, ल्हौवुन, लुफेंग, मांगजेल, मिसाओ, रियांग, सियारहेम, सेलनाम, सिंगसन, सील्हहोउ, सुकते, थाडो, थांगनेऊ, उइबुह, वैफेइ,मिकिर, पावी, सिंतेंग।

पश्चिमी बंगाल - असुर, बैंगा, बंजारा, बथूठी, बाधिया, बिरहोर, भूमिज, भूतिया, केरो, चिक, बराहक, चकमा, गारों, गोंड़, गोरैट, हो, हजंग, कोरा, करमाली, खरवार, खोंड, किसान, करवा, लोधा या केरिया, लेपचा, लोहरा, मलपहाड़िया, मुंडा, माघ, महाली, मेच, मरू, महली, नगेसिया, ओराँव, परहडया राभा, संताल, सौरिया पहाड़िया, सवर।

बिहार(झारखण्ड सहित) - असुर, भूमिज, बैंगा, बथूठी, बेदिया, बिझिंया, बिरहोर, बिरजिया, चेरो, चिक, बराएक, गोंड, गोरेट, हो, करमाली, खरिया, रवार, खोंड, किसान, कोरा, कोरवा, लोहरा या लोहर, महली, मल पहाड़िया, मुंडा, ओराँव, परहइया, संथाल, सौरिया पहाड़िया, सवर।

उत्तर प्रदेश (उत्तरांचल सहित) - भोक्सा, भोटिया, जौनसारी, राजी, थारू।

उड़ीसा - बगाटा, बैगा, बंजारा या बंजर, बथूठी, भोतड़ा या धोतडा, मुहयां या भुयान, भूमिया, भूमिज, भुंजिया,

विंझल, बोंडों पोराजा, भरतुआ चेंचू, दल, देसुआ भूमिज, दिदाई, धरूआ, गोंडिया, गडाबा, गोंड, गोंडो धरा, होलवा, हो, जुआर्ग, किसान, कोल, कोलनाकोल, लोहर, कोल्हा, कोली, कोंडा दोरा, कोरा, कोरुआ, कांधा गवडा कांधा गंडा, कवर, खरिया, खरवार, खोंड या कंघ, कोरिया, कोया, कूली, कोंड या कंधा, कोल्हा, मदिया, महाली, मनकीदी, मनकीदी, मनकिरदिया, मत्या, मिर्धा, मुंडा, मंदरी, मिरधास, ओराओं, ओमनात्य, परेंगा, परोजा, पैतिया, राजोर, संथाल, सओरा, शबर या लोध, सोन्टी थरूआ।

मध्यप्रदेश - अगरिया, अंध, बिरहुल, बिरहोर, बियर, बिमार, भुंजिया, भैना, भूनिया, भिंजतार, भील मीना, मरिया भमिया, पटरा, बैगा, मिलाला, भील व मिलाला, पटेलेया तथा बरेला, भील धनवार, दामोर, गोंड, गोंड या दरोई, गोंड तथा पठारी, गोंड, गडाबा, गडबा, गरसिमा गहावार, हलबा या बलबी, कोल (दहेत), कोल, कोरकू, कमार, कवार, कोरवा, कोलम, कोर, करकू, खै, ससर, खरिया, कोंड या खोंड, मुंडा, मीना, मोगिया, मवासी, माझी, महावार, निहाल, नर, नगसिया, ओरों, परधान, पर्धी, पर्जा, पतिका, पाओ, पनिका, सहारिया, सेहारिया, सौर, सवर, सोनर, सओंता।

हिमाचल प्रदेश - गद्धी, गूजर, जाद व लांवा व खंपा व मोत्, कनौरा या किन्नर, लहूला, पंगवाला, संवगला।

पंजाब - भोत या बोध, गद्धी, स्वांगवाला।

राजस्थान - भील, भील मीना, चोधरा, दामोर, दुवला, धोदिया, धनका, गरमिया, गमित, गोंड या राजगोंड, कथोडी या कटकारी, कोकना व कोकनी व कुकना, कोली धोर, कारकू मीना, पोमला, पटेलिया, पर्ध्धी, रथवा, से थरिया, वर्ली, विटोलिया।

महाराष्ट्र - अंध, भील, वर्दा, बवाया या वमया, बिंसवार, बिरहुल, मैना, भरवाउव्द भुजिया, मन्नरा, चोधारा, चारण, धनका, दुबला, धोदिया, धनवार, गोंड, गमित, गडावा, हलवा या हलवी, कथोठी या कटकारी, कोकना व कोकनी व कुकना, कोली धोर, कंध, कोल, कोलम, कारकू, कोखा, खरिया,खरवार, कुवार, कामर, कुनवी, कौधरी, कोली मल्हार, कोली महादेव, कोया, नैकदा या नैका, नगेसिया निहाल, आरों, पोमला, पटेलिया, पर्धी, अकरैनी महल के परूआ, भील, परजा, परधान, पाधर, रथवा, रावर, सिद्धी, सावर, साओं तो, ठाकुर या ठाकर, थोटी।

आंध्र प्रदेश - अंध, भील, वाल्मीक, चेंचु, गडावा, गोंड, पहाड़ी रेड्डी, जटापु, कझारा, कोलम, कोया, कोंडा

दोरा, कोंडा काकू, कोंडा रेड्डी खोंड, कोरिया, कुलिया, कहूनायकम, कोरिया बिंधू, मली, भन्ने दोरा, नायक, पोरजा, परधार, रेड्डी दोर, रोना व रेना व सवरा, सुगाली, थोरी, यानादि, येरुकला।

कर्नाटक - अर्नदान, वर्दा, वमया, भील, चोधरा, धनका, धोधिया, दुवला, एकलिया, गोदालू, गमता, हसादरू, हक्की पिक्की, कैकुरबा, कथोडी, कोकना, कोली धोर, कोया, करुवा, कुडिया, कनियाम, कुरुमान, कुरीछायन, कोटा, कोरागा, कोंडा रेड्डी, कोंडा काकुश, काहूनायकन्, कम्मारा, कादर, मलैकुडी, मलेरू, मराठा, मेदा, मर्ती, मुदुगार, मलयकंडी, महामलासार, मदियन, नैकडा, पर्धी, पटेलिया, पोमला, पोरामा, पुलायों, पुनिया, पलियान, रथावा, राजगोंड, सोलिगारू, सोला, थोरी, टोडा, विटोलिया, वर्ली, पेरावा।

तमिलनाडु - अरुआदन, येरुलज, ऐरावलन, कादर, कझाई, कहूनायकन्, कोंडो काकुश, कोंडा रेड्डी, कोरागा, कोटा, कुडिया, कुरीछायन, कुरूमान, कुलांयां, कोचूवेलन, कनीकरण, कुरूम्बा, कनियन, मलसार, मलैकिन्ये, मुदुगर, मुथुरन, मलान, मल्यारयन, मलयान, मलौवेदन, मलीपन्द्रम, मलाय आर्यम, मलक्कुरावन, मलयाली, परियांन, पलियार, रोला, उराली, उल्लादन, विशासन।

केरल - अरुआदन, येरूलज, एरावलन कन्निकर, कोचुवेलन, कडियन, कझारा, कहूनायकन, कोंडो काकुस रेड्डी, कोरागा, कोरा, कुडिया, कुरीछाचन, कुरूमान, करुम्बा, मथुवान, मलक्कुरावन, मलाय अरयान, मलाय पन्धरम, मलाय वेदन, मलायम, मर्ल्यापर, मलार, मल्ला मलसार, मलाय कन्दी, ख् भीर्ती, पल्यान, पल्लियार, पुलांया, पुनियन, उराली, उल्लादन, विशवन।

लक्ष्यद्वीप, मिनिकॉय व अमिनदिवी द्वीपसमूह - लक्ष्यद्वीप मिनीकाय तथा अमीनदिवी व्दीप समूह में रहने वाली जनजाति, यँा या उनके पूर्वज जिनका जन्म इन्ही द्वीप समूह में हुआ था।

अण्डमान तथा निकोबार द्वीपसमूह - अण्डमानी, जरवा, निकोबारी, ओंगे, शोमपेन, सेंटीनलीस।

जम्मू व कश्मीर - बकरेवाल, गद्दी तथा लद्दाख की बौद्ध।"[28]

5. भारत में जनजातियों की जनसंख्या - राज्यवार सूची

राज्य	कुल जनसंख्या	जनजातीय जनसंख्या	प्रतिशत

भारत	**1028610328**	**84326240**	**8.2**
जम्मू व कश्मीर	10143700	1105979	10.9
हिमाचल प्रदेश	6077900	244587	4.02
उत्तरांचल	8489349	256129	3.02
राजस्थान	56507188	7097706	12.56
उत्तर प्रदेश	166197921	107963	0.06
बिहार	82998509	758351	0.91
सिक्किम	540851	111405	20.6
अरुणाचल प्रदेश	1097968	705158	64.22
नागालैण्ड	1990036	1774026	89.15
मणिपुर	2166788	741141	34.2
मिजोरम	888573	839310	94.46
त्रिपुरा	3199203	993426	31.05
मेघालय	2318822	1992862	85.94
असम	26655528	3308570	12.41
पश्चिमी बंगाल	80176197	4406794	5.5
झारखण्ड	26945829	7087068	26.3
उड़ीसा	36804660	8145081	22.13
छत्तीसगढ़	20833803	6616596	31.76
मध्यप्रदेश	60348023	12233474	20.27
गुजरात	50671017	7481160	14.76
दामन, द्वीप	158204	13997	8.85
दादर-नगर हवेली	220490	137225	62.24

महाराष्ट्र	96878627	8577276	8.85
आन्ध्र प्रदेश	76210007	5024104	6.59
कर्नाटक	52850562	3463986	6.55
गोवा	1347668	566	0.04
लक्ष्यद्वीप	60650	57321	94.51
केरल	31841374	364189	1.14
तमिलनाडु	62405679	651321	1.04
अण्डमान और निकोबार	356152	29469	8.27

पंजाब, हरिया, चंड़ीगढ़ और दिल्ली की अनुसूचित जनजातियों की जनगणना उपलब्ध नहीं है।"[29]

6. भारत की लुप्तप्राय जनजातियाँ

भारत के जनजातीय समाज में पर्याप्त विविधता पाई जाती है। इस विविधता का कारण भौगोलिक परिवेश, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक क्षेत्र में विविधता का होना है। कुछ जनजातियाँ अपने संकोच स्वभाव के फल स्वरूप बाह्य समाज से अलग रही है। बाहरी समाजों को उन्हों ने हमेशा शंका की दृष्टि से देखा है। कुछ जनजातीय समुदायों में बाहरी लोगों के प्रति आक्रोश एवं नफरत की भावना थी। बाह्य सम्पर्क हमेशा हिंसा एवं संघर्ष का कारण बना। बाहरी लोगों का दृष्टिकोण भी इन लोगों के प्रति नकारात्मक बना रहा। कुछ जनजातियों का बाहरी लोगों ने इतना अधिक शोषण किया है कि वे कभी भी संगठित नहीं हो पाए हैं। इसके अतिरिक्त जनजातीय समाजों में व्याप्त प्रथाएं एवं रीति-रिवाज भी उन के पतन के कारण बने रहे हैं। बहुपति व्यवस्था यौन रोगों का कारण रही है। बंधुआ मजदूरी के चलन में मजदूरों के विवाह एवं उनके परिवारों पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से नियंत्रण था। प्राकृतिक अर्थ व्यवस्था (वनों पर आधारित अर्थ व्यवस्था) अधिक समय तक जीवन यापन का साधन नहीं बन सकी। जो लोग बदलते परिप्रेक्ष्य में व्यवसाय परिवर्तन की ओर उन्मुख नहीं हो सके उन्हें अपना अस्तित्व बनाए रखने में कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

इस प्रकार कुछ ऐसी जनजातियाँ हैं जिनकी संख्या में निरन्तर कमी आई है- डॉ. हरिश्चन्द्र उप्रेती अपनी पुस्तक भारतीय जनजातियाँ में लिखते हैं- "वनरावत (राजी जनजाति) अपने शर्मीले स्वभाव के फल स्वरूप

दीर्घ समय तक बाह्य समाज से पृथक रहे। आरम्भ में वे लोग गुफाओं एवं खण्डहरों में ही रहते थे। जीवन यापन के अभाव में भूख से मृत्यु के अनेकों प्रमाण राजी लोगों में उपलब्ध है। लेप्चा जनजाति के लोग विकट भौगोलिक परिस्थितियों एवं बाहरी लोगों जैसे नेपाली एवं भोटिया लोगों के द्वारा किए गए शोषण के शिकार बने। इसी प्रकार अण्डमान निकोबार की जनजातियाँ प्राकृतिक विपदाओं एवं बाहरी आक्रमणों का अधिक समयतक सामना नहीं कर सकीं। परिणाम स्वरूप उनकी संख्या घटती गई। इसके अतिरिक्त भी अनेक जनजातियाँ हो सकती हैं जिन्हें इस श्रेणी में रखा जा सकता है। यद्यपि सांस्कृतिक सम्पर्क की प्रक्रिया के फल स्वरूप अनेक जनजातियों के लोग अपनी जनजातीय पहचान को खो रहे हैं, लेकिन उर्युक्त परिस्थितियाँ उनके जीवन के अस्तित्व को ही बनाए रखने में असफल सिद्ध हुई हैं। इसी दायरे में कुछ इस प्रकार की जनजातियों का अध्ययन किया गया है जिनकी संख्या में निरन्तर कमी आई है तथा मात्र प्रयासों से ही उनका अस्तित्व बना हुआ है।"[30]

1.6.1. राजी जनजाति

"राजी जनजाति उत्तर प्रदेश के कुमाऊ क्षेत्र के पिथौर गढ़ जिले में पाई जाती है। इसे वनराजी अथवा वनरावत नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। पिथौर गढ़ एक सीमान्तक जिला है जो उत्तर में तिब्बत तथा पूर्व में नेपाल से मिलता है। जिले में घने जंगल तथा घाटियाँ स्थित हैं। राजी लोग गहन वनों में निवास करते हैं। राजी लोगों के लिए राज किरात शब्द का भी प्रयुक्त किया गया है लेकिन राजी लोग स्वयं को वनखानिया रावत के नाम से सम्बोधित करते हैं। यह नाम इस दृष्टि से उपयुक्त लगता है क्योंकि ये लोग गहन वनों में निवास करते हैं तथा वन्य वस्तुओं से ही अपना जीवन यापन करते हैं। ये गुमन्तु जनजाति के रूप में भी हैं तथा नदी के उसपार नेपाल के वन्य भाग में भी निवास करते हैं। जून 1967 में इन्हे अनुसूचित जनजाति घोषित किया गया है।"[31]

1.6.2. लेप्चा जनजाति

"यह जनजाति सिक्किम राज्य में पाई जाती है। ये लोग कठोर भौगोलिक एवं आर्थिक परिस्थितियों में अपना जीवन यापन करते आए हैं। इनके निवास ऊँचे पहाड़ी एवं अनुपजाऊ भू-भाग से घिरे हुए हैं। लेप्चा

लोगों का यह विस्वास है कि इनका मूल निवास कंचन गंगा की घाटी था। कुछ लोग इनका मूल स्थान असम प्रदेश भी मानते हैं। कुछ लोगों का मत है कि ये लोग मंगोलिया तथा तिब्बत से यहाँ आए हैं। इनका नेपाली तथा भूटानी मूल के लोगों के साथ सम्पर्क हुआ। नेपाली तथा भूटिया लोगों ने इनके साथ गुलामों जैसा व्यवहार किया। ये लोग छोटी-छोटी झोपड़ियाँ बनाकर रहते हैं। इनका जीवन अत्यंत सादगी से भरपूर है। यही कारण है कि बाहरी लोगों विशेष रूप से सेठ साहुकारों ने इनका शोषण करने में कोई कसर शेष नहीं रखी। ये लोग थोड़ा बहुत कृषि कार्य भी करते हैं। परन्तु अनुपजाऊ भूमि के कारण इनकी कृषि कार्य पर आत्म निर्भरता कभी नहीं रही है। इनकी अर्थ व्यवस्था में इलायची का महत्व पूर्ण स्थान है। जिसकी वे खेती करते हैं। इलायची की कृषि का चलन यहाँ नेपाल से आरम्भ हुई है। लेप्चा लोग पर्याप्त आमोद प्रिय हैं। अपने मेहमानों का ये लोग आदर सत्कार करते हैं। ऐसा करना वे लोग अपना पुनीत कर्तव्य मानते हैं। इनका मुख्या मण्डल नाम से जाना जाता है। मण्डल ही विवाहों का निर्धारण तथा विवादों का निपटाना करता है। परम्परागत रूप से वे वर्ष में एक बार गांगटोक जाकर महाराजा के प्रति सम्मान प्रकट करते हैं।"[32]

1.6.3. अण्डमान द्वीप समूह की जनजातियाँ

"अण्डमान द्वीप समूह की कुल संख्या 204 हैं। यह हुबली नदी के मुहाने से 590 मील दूर स्थित है जबकी बर्मा के केप नेग्रिस इसकी दूरी 120 मील है। इस द्वीप समूह में सर्वाधिक महत्व पूर्ण तीन द्वीप हैं - उत्तरी, मध्यवर्ती तथा दक्षणी अण्डमान। ये द्वीप एक दूसरे से एक जल रेखा से पृथक हैं। पर्याप्त समय तक अण्डमान द्वीप समूह के आदिवासियों को यही समझा जाता रहा कि वे अफ्रिकी गुलामों के वंशज के रूप में हैं, लेकिन अधिकाँश मानव मनोविज्ञानवेत्ता जो इन लोगों की विशेषताओं का विश्लेषण करते आये हैं, उनका मत है कि वे लोग नीग्रो नहीं अपितु निग्रिटो हैं। इस द्वीप समूह के लोग मूल रूप से खानाबदेशी प्रकृति के थे। मानसून में परिवर्तन तथा एक स्थान पर भोजन की कमी होने के कारण वे अन्य दूसरे स्थान की ओर गमन कर जाते थे। एक क्षेत्र या भू-भाग में 30 से अधिक लोग नहीं रहते थे। जब सर्व प्रथम अंग्रेजों को इस द्वीप समूह का पता चला उस समय ये लोग 12 जनजातीय समूहों में विभाजित थे। उन्हें पुनः तीन भागों में बाँटा जा

सकता है। 1. उत्तर भारतीय समूह की जनजातियाँ 2. दक्षिण अण्डमान समूह की जनजातियाँ 3. ओंज समूह की जनजातियाँ।"[33]

1.6.4. ओंज

"ये लोग लिटिल अण्डमान द्वीप में निवास करते हैं जो कि इन द्वीपों के दक्षिण ओर में स्थित है। इस द्वीप का क्षेत्र फल 448 वर्ग मील है। परम्परागत रूप से ये लोग भोजन संग्रह एवम शिकार पर ही अपना जीवन यापन करते थे। गत तीन दशक पूर्व तक ओंज लोग ही इस द्वीप के एक मात्र निवासी थे। लेकिन 1967 से 1974 के मध्य तीन हजार लोग जो कि भारत तथा कार निकोबार द्वीप समूह के मूलक थे वे यहाँ आकर स्थाई रूप में बस गए अतवा सरकारी गैर सरकारी कार्यों में रत रहे। इन लोगों के स्वास्थ के बारे में ज्ञान नहीं के बराबर है। न ही इन्हें कृषि संबन्धी ज्ञान था।"[34]

1.6.5. निकोबार द्वीप समूहों की जनजातियाँ

"निकोबार द्वीप समूहों की जनसंख्या कुल 19 है जिस में 12 में मानव जाति निवास करती हैं। दो महत्व पूर्ण निकोबार द्वीप हैं- ग्रेट निकोबार तथा कार निकोबार। कार निकोबार द्वीप जिसका क्षेत्र फल मात्र 49 वर्ग मील है। यह एक बहुत ही उपजाऊ भू-भाग है जो कि नारियल के पेड़ों से ढंका हुआ है।

सर्व प्रथम 1869 में कर्नल हेनरी मैन ने इन द्वीपों में जाकर कब्जा कर इन्हें अंग्रेजी सरकार के अधीन किया कार निकोबार जो कि देखने में आष्ट्रेलिया की भाँति है इन द्वीपों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण द्वीप है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये लोग यहाँ के मूल निवासी ना होकर अन्यत्र से आकर यहाँ बस गए हैं। मलाया की जनजातियों से इनमें पर्याप्त समानता देखने को मिलता है।

ग्रेट निकोबार द्वीप कार निकोबार द्वीप समूह में से सभसे बड़ा है लेकिन अभी तक यहाँ कि जनसंख्या बहुत कम है। अब वर्तमान में पर्याप्त प्रवासी यहाँ आकर रहने लगे हैं। यहाँ एक जनजाति शाम्पेन के लोग वन्य भागों में रहते हैं। तथा पर्याप्त शर्मीली प्रकृति के होते हैं। अतीत में वे नग्नावस्था में थे लेकिन अब थोड़े बहुत वस्त्र पहनने लगे हैं। नारियल तथा विविध वन्य सामाग्री ही इनके जीवन निर्वाह का साधन है।"[35]

1.6.6. जरावा

"जरावा जनजाति के लोग संख्या में बहुत कम हैं। शिकार एवं संग्रहण ही इनके जीवन का स्त्रोत रहा है। बाह्य सम्पर्क का इन्हों ने धीर्ग काल तक प्रतिरोध किया है। ये लोग अन्य अण्डमान की जनजाति के लोगों को भी अविश्वास की दृष्टि से देखते थे। मार्गन ने एक जरावा गाँव का वर्णन करते हुए कहा है कि एक जरावा गाँव में दस बारहा झोपडियाँ होती हैं। जन में बीस से तीस जरावा रहते हैं। गाँव घने जंगलों के बीच बसा हुआ रहता है। बाह्य सम्पर्क के अभाव में अन्यजातियों के प्रति अविश्वास या संदेह के कारण अब भी जरावा जनजाति के लोग बहुत कम संख्या में रह गए हैं।"[36]

7. भारत की भूतपूर्व अपराधी जनजातियाँ

अपराधी उन व्यक्तियों को कहते हैं, जो समाज में निभकर नहीं चल सकते और जो कुछ जन्मिक एवं वातावरण के कुचक्रों से बाधित होकर अपराध करने लगते हैं। इसके विपरीत हम यह देखते हैं कि अपराध जनजातियों के व्यक्ति पारस्परिक रूप से निभकर चलते हैं, उनकी अपनी निज की मान मर्यादा होती है। उनकी अपनी जातीय पंचायत होती है जिसके निर्णय अंतिम और प्रत्येक के लिए शिरोधार्य होते हैं। उनकी अपनी गुप्त बोली होती है। उनके अपने विचित्र आचार व्यवहार होते हैं। उनकी अपनी निज की अपराध शैली होती है जिसका वह पूर्णत पालन करते हैं और अपनी संतानों को भी उसी प्रकार की शिक्षा देते हैं। लूटमार से प्राप्त सामाग्री के वितरण करने की उनकी अपनी विचित्र योजना होती है। और एक प्रकार के अपक्व सामाजिक भीमा द्वारा वे अपनी जाति के वृद्ध एवं उन व्यक्तियों के आश्रितों को सहायता देते हैं जो अपराध करने के कारण मृत्यु, कारावास को प्राप्त होते हैं। समाजिक रूप से अपराधशील जनजातियों के व्यक्ति आपस में मेल रखते हैं।

ब्रिटिश सरकार ने 1924 में इनके अपराधों के रोकथाम के लिए एक अधिनियम बनाया था, जिसके अनुसार इस संघटित अपराधियों को अपराधी जनजाति नाम दिया। इनके लिए यह नियम बनाया है कि जनजाति के प्रत्येक सदस्य को 15 वर्ष की अवस्था पहुंचने पर रजिस्ट्री करना अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त इनकी निगरानी की व्यवस्था की गई और अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगाए। बाद में इनके सुधार के भी प्रयन्त किए तथा 31 अगस्त, 1952 में से संविधान के अनुसार उनको अब अपराधी जनजाति नहीं कहा जाता। जनजातियाँ अपराधी बनने के निम्न कारण हैं-

1.7.1 आर्थिक कारण

1.7.1.1. निर्धनता

वास्तव में अपराधी जनजातियों के अपराधी बनने का कोई विशेष कारण नहीं है, बल्की इनके जन्म के लिए भी वही कारण उत्तरदाई है, जो एक अपराध के लिए होते हैं। इन कारणों में सबसे महत्वपूर्ण कारण है निर्धनता है। इन लोगों को खाने के लिए अन्न, पहनने के लिए वस्त्र और रहने के लिए घर नहीं मिल पाता है। जीविका के कोई साधन भी नहीं होते हैं, अतः विवश होकर इनको अनुचित उपायों का अनुसरण करना पड़ता है। चूँकि इन साधनों से वे अपनी जिन्दगी की रक्षा कर पाते हैं, इस लिए इसी को अपना व्यवसाय बना लेते हैं।

1.7.1.2. बेकारी

बेकारी जीवन का बहुत बड़ा अभिशाप होता है। बेकारी के कारण लोगों की आवश्कताएं पूरी नहीं हो पाती हैं, साथ-साथ दिमाग में उचित अनुचित योजनाएं आया करती हैं। अपराधी जनजातियों के अपराधी बनने में बेकारी का भी बहुत बड़ा योग है। उसके पास कोई काम नहीं रहता है। सामान्यत वे मजूरी करने, जानवर पालने, जंगली जड़ी बूटी बेचने, जंगली पशु पक्षियों को पकड़ने आदी का काम करते हैं, जिस से उनकी आवश्कताएं समुचित रूप से पूरी नहीं हो पाती है, अतः पुरुष अपराधों का सहारा लेते हैं, तथा स्त्रीयां व्यभिचार द्वारा कुछ अर्जित करती हैं।

1.7.2. सामाजिक कारण

समाज में वर्ग भावना निम्न लोगों में निराश और भग्नाशा का सृजन करती है। विशेष रूप से हिन्दुओं की जाती व्यवस्था तो इस दृष्टि से बहुत दोषपूर्ण होती है। इसमें नीची जाती के लोगों को बहुत ही अमानवीय और हीन अवस्था में रहना पड़ता है। उन पर समाज में चलने-फिरने, खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने, और शिक्षा-दीक्षा आदि के सम्बन्ध में अनेक प्रतिबन्ध होते हैं। सामान्यतः नीची जाति वालों को ऐसे ही कार्य दिए गए थे, जिससे वे कोई उन्नती न कर सकें और सदा ऊंची जाती के ही आश्रित बने रहें, जिनको समाज में कोई स्थान नहीं प्राप्त रहा है। अत समाज से बहिष्कृत होने फल स्वरूप इन लोगों में समाज के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई और फलस्वरूप इन लोगों ने अपराधों को अपना व्यवसाय बनाया। भरतवर्ष में ही अपराधी जातियों का पाया जाना इस बात की पुष्टि करता है कि भारत की इस अमानवीय जाती व्यवस्था ने ही अपराधी जनजातातियों को ऐसे

घृणित कार्य करने के लिए विवश किया।

1.7.3. मनोवैज्ञानिक

अब एक बार अपराधी जातियों ने समाज का बहिष्कार करके अपराधशील वृत्तियों के द्वारा अपनी आवश्कताओं की पूर्ति का कार्य प्रारम्भ किया, तो उन्हें यह स्थिति अधिक सम्तोषप्रद प्रतीत हुई, क्योंकि इससे उनकी आवश्कताएं पूरी होती ही थीं, साथ ही साथ समाज के विरुद्ध उनके आर्कोश को भी शांति मिलती थी। और जब कुछ दिन के उपरान्त अपराध करना उनकी आदतों में शुमार हो गया और उनका व्यवसाय बन गया तो उन्हों ने अपराध को अपना धर्म मान लिया, और धर्म का पालन करना उनका कर्तव्य हो गया। इस प्रकार से उनकी अपराधों के करने में जो कष्ट सहन करना पड़ता था, उसके लिए वे सहर्ष तैयार रहते थे। इतना ही नहीं, वे अपने अपराधों की कला को निखारा करते थे, तथा अपने आनेवाली संतानों को सिखाया भी करते थे।

भारत एक ऐसा विशाल राष्ट्र है, जिस में जनजाति अधिक संख्या में निवास करती है। संम्पूर्ण भारत की जनसंख्या का लग-भग सात प्रतिशत भाग जनजातीय समाज का है। भारत जैसे विशाल देश में भाषा, धर्म, जाति तथा वेशभूषा की भिन्नताओं की तरह जनजातियों में भी भिन्नताएँ पायी जाती हैं। ये समस्त जनजातियाँ भारत की मूल निवासी हैं। इन्हें हम 'जनजाति', 'आदिमजाति', 'वनवासी', 'आदिवासी', 'गिरिजन', अथवा 'अनसूचित जनजाति' के नाम से जानते हैं। इन जनजातियों के अलग-अलग नाम उनके अनेक उप जातियाँ, उनकी संस्कृति खान-पान, रहन-सहन, भाषा पूरी तरह से एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी इनकी समस्याएँ, इनका जीवन, जीवन साधन, और सामान्य तरीकें लगभग एक से हैं।

अब तक मानवशास्त्री, समाज शास्त्रियों ने जनजाति को अपने-अपने मतानुसार परिभाषित करने की कोशिश की। किन्तु जनजातीय समाज की कोई भी पूर्ण रूप से मान्य परिभाषा अब तक प्रचलित नहीं हो पाई है। क्योंकि एक जनजातीय समाज की आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, भाषागत विशेषताँ दूसरी जनजातीय समाज से अलग-अलग हैं। फिर भी जनजातियों के संदर्भ विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाएँ यह स्पष्ट करती हैं 'कि वन्य प्रदेशों में रहने वाले ऐसे व्यक्ति समूह जो सामान्यतः समान भाषा, समान संस्कृति, तथा समान भू-क्षेत्र से संबंधित हों वे जनजातीय समूह के अंग कहलाते हैं।

भारत का इतिहास अत्यंत प्राचीन है। भारत के इतिहास ग्रंथ एवं महाकाव्यों में जनजातियों का उल्लेख मिलता है। रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्यों का ऐतिहासिक महत्व कुछ भी हो, उनमें जनजातियों का जैसे, शूद्र, अभीर, द्रविड़, पुलिन्द, शबर अथवा सौर का सन्दर्भ आता है। इनमें से एक सर्वाधिक सुपरिचित है और संभवतः एक मात्र जनजाति है जो आज भी विद्यमान हैं तथा जिसका सन्दर्भ ऐतरेयब्राम्हण में बदिसम है, वह है 'शबरी', जिस ने राम को जूठे फल भेंट किए थे। शबरी ऐसे योगदानों का एक ऐसा प्रतीक बन चुकी है कि जनजातियाँ भारत के जीवन का निर्माण कर सकती हैं। उस समय ज्ञात जनजातियों में अधिकांश ने महाभारत तथा रामायण के असंख्य घटनाओं में सम्मिलित होने का दावा किया है। एकलव्य नामक एक भील जिसने गुरुदक्षिणा के रूप में द्रोणाचार्य को अपना अंगूठा अर्पित कर दिया था, दंत कथाओं में एक आदर्श शिष्य के रूप में वर्णित किया गया है। मुण्डा, नागाओं ने कौरवों की ओर से पाण्डवों के विरुद्ध लड़ने का दावा किया है। भीम का पुत्र घटोत्कच जिसने युद्ध में असाधारण वीरता का प्रदर्शन किया था, का जन्म भीम की जनजातीय पत्नी हिडिम्बा से हुआ था। अर्जुन ने एक नागा राजकुमारी चित्रांगदा से विवाह किया था। निषाद, जिन्होंने इस काल में अपनी प्रारंभिक स्थिति खो दी। यह आखेट करके अपना जीवन यापन करते थे। मेदा, आन्ध, मद्गा, चेंचू लोग वन्य पशुओं का शिकार करते थे। कसाहलस, उर्गा, पुक्कास जो पशुओं तथा पक्षियों को पकड़ते थे, वनों में काम करते थे। चाण्डालों का जो एक और जनजाति थी हिन्दू समाज में संविलयन हो गया, तथा उन्हें पशुओं तथा मनुष्यों के शवों को हटाने, अपराधियों के अंगों को काटने और उन्हें कोड़े लगाने का कार्य सौंपा गया।

भारत में हमेशा विदेशियों का आक्रमण रहा। मध्यकालीन भारत की राजनैतिक गतिविधियों में तीर्व परिवर्तन हो रहे थे। मुसलमान राजाओं का दिन ब दिन बड़ेते आक्रमण से सारा उत्तर भारत तथा मध्य भारत में राजनीतिक अशान्ति का वातावरण फैला हुआ था। मुसलमानों ने गोंडवाना और छोटानागपुर जैसे जनजातीय राज्यों को अपने अधीन कर लिया। तब तक प्रकृति के गोद में सुखमय जीवन व्यतीत कर रहे जनजातियाँ उनकी भौगोलिक सीमाओं पर शासकों के हस्ताक्षेप को सहन नहीं कर सके।

आधुनिक युग का आरम्भ अंग्रेजों के आगमन से शुरू होता है। अंग्रेज भारत की वन संपदा पर अपना अधिकार जमालिया तथा वन कानून बनाकर आदिवासियों को जंगल से विस्तापित होने पर मजबूर किया। इसी

काल में आदिवासियों के धर्म परिवर्तन का शिलसिला आरंभ हुआ। आदिवासी दो वर्गों में बंट गये। ईसाई आदिवासी और गैर ईसाई आदिवासी। ईसाइयत को स्वीकृत आदिवासी शिक्षित हुए। कृषि कार्य में आधुनिक तकनीकियों का अपनाना आरम्भ हुआ। निरंतर स्वतंत्र परिवेश में जीने वाले इन आदिवासियों द्वारा विद्रोह करने के कारण भी इसी काल के राजनैतिक एवं आर्थिक परिस्थियाँ ही रही।

आधुनिक युग में जनजाति एक ऐसा रोचक विषय बना। इतिहासकारों, समाजशास्त्रियों तथा नृवंशशास्त्रियों ने आदिवासियों पर शोध कार्य किये। उनमें से कुछ नृवंश शास्त्रियों ने भारत की जनजातियों को अलग-अलग नामों से सम्बोधित किया। "रिज़ले, लेक, ग्रियर्सन, सोबर्ट, टेलेण्ट्स, सेजनिक, मार्टिन तथा ए.वी. थक्कर ने उन्हें आदिवासी (एबारिजिंस) नाम से पुकारा है। हट्टन ने इन्हें आदिम जातियाँ (प्रिमिटिव ट्राइब्स) नाम से सम्बोधित किया है। सरबेन्स ने इन्हें पर्वतीय जनजातियों की संज्ञा दी है। टेलेण्ट्स, सेजनिक तथा मार्टिन उन्हें सर्वजीववादी (एनिमिट्स) कहते हैं। बेन्स ने उन्हें वन्यजाति (जंगल पीपुल,फारेस्ट ट्राइब्स, फोक) नामों से संबोधित किया है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री डॉ. घुरये ने उन्हें तथा कथित आदिवासी (सो काल्ड एबारिजिन्स) अथवा पिछड़े हुए हिन्दु नाम दिया है तथा उन्होंने ही इनके लिए अनुसूचित जनजाति (शेड्युल्ड ट्राइब्स) नाम प्रस्तावित किया है जो कि भारतीय संविधान के अनुच्छेद 342 के अन्तर्गत स्वीकारा गया है।

भारत के जनजातीय समाज में विविधता का कारण भौगोलिक परिवेश, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक क्षेत्र में विविधता का होना है। कुछ जनजातियाँ अपने शर्मीले, संकोच तथा बाहरी लोगों पर अविश्वासी स्वभाव के फल स्वरूप बाह्य समाज से अलग रही है। बाहरी समाज को उन्हों ने हमेशा शंका की दृष्टि से देखा है। कुछ जनजातीय समुदायों में बाहरी लोगों के प्रति आक्रोश एवं नफरत की भावना थी। बाह्य सम्पर्क हमेशा हिंसा एवं संघर्ष का कारण बना। बाहरी लोगों का दृष्टिकोण भी इन लोगों के प्रति नकारात्मक बना रहा।

जनजातियों का बाहरी लोगों ने इतना अधिक शोषण किया है कि वे कभी भी संगठित नहीं हो पाए हैं। इसके अतिरिक्त जनजातीय समाजों में व्याप्त प्रथाएं एवं रीति-रिवाज भी उन के पतन के कारण बने रहे हैं। बहुपति व्यवस्था यौन रोगों का कारण रही है। बंधुआ मजदूरी के चलन में मजदूरों के विवाह एवं उनके परिवारों पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से नियंत्रण था। वनों पर आधारित अर्थ व्यवस्था अधिक समय तक जीवन यापन का साधन नहीं बन सकी। जो लोग बदलते परिप्रेक्ष्य में व्यवसाय परिवर्तन की ओर उन्मुख नहीं

हो सके उन्हें अपना अस्तित्व बनाए रखने में कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इस प्रकार कुछ ऐसी जनजातियाँ हैं जिनकी संख्या में निरन्तर कमी आई है। इसी प्रकार अण्डमान निकोबार की जनजातियाँ प्राकृतिक विपदाओं एवं बाहरी आक्रमणों का अधिक समयतक सामना नहीं कर सकीं। परिणाम स्वरूप उनकी संख्या घटती गई। इसके अतिरिक्त भी अनेक जनजातियाँ हो सकती हैं जिन्हें इस श्रेणी में रखा जा सकता है। यद्यपि सांस्कृतिक सम्पर्क की प्रक्रिया के फल स्वरूप अनेक जनजातियों के लोग अपनी जनजातीय पहचान को खो रहे हैं, लेकिन कुछ परिस्थितियाँ उनके जीवन के अस्तित्व को ही बनाए रखने में असफल सिद्ध हुई हैं।

सबसे पहले अंग्रेजों ने संघटित अपराधियों को अपराधी जनजाति नाम दिया। अपराधी उन व्यक्तियों को कहते हैं, जो समाज में निभकर नहीं चल सकते और जो कुछ जन्मिक एवं वातावरण के कुचक्रों से बाधित होकर अपराध करने लगते हैं। इसके विपरीत हम यह देखते हैं कि अपराध जनजातियों के व्यक्ति पारस्परिक रूप से निभकर चलते हैं, उनकी अपनी निज की मान मर्यादा होती है। उनकी अपनी जातीय पंचायत होती है जिसके निर्णय अंतिम और प्रत्येक के लिए शिरोधार्य होते हैं। भारत में जनजातियाँ अपराधी प्रवृत्ति को अपनाने के पीचे अनेक कारण हैं उनमें से प्रमुख हैं भारततीय समाज में स्थित जाति व्यवस्था। निर्धनता, गरीबी, बेरोजगारी के चलते जनजातियाँ अपनी आवश्याकताओं को पूर्ति के लिए के लिए अपराधि प्रवृत्तियाँ अपनाई। ब्रिटिश सरकार ने 1924 में इनके अपराधों के रोकथाम के लिए एक अधिनियम बनाया था। इनके लिए यह नियम बनाया है कि जनजाति के प्रत्येक सदस्य को 15 वर्ष की अवस्था पहुंचने पर रजिस्ट्री करना अनिवार्य है। बाद में इनके सुधार के भी प्रयन्त किए तथा 31 अगस्त, 1952 में से संविधान के अनुसार उनको अब अपराधी जनजाति नहीं कहा जाता। यह स्थिति केवल संविधान तक ही सीमित है। आज भी समाज की मानसिकता जनजातियों प्रति बदली नहीं है।

संदर्भ-सूची

1. जनजातीय भारत - नदीम हसनैन, पृ. 11
2. जनजातीय भारत - नदीम हसनैन, पृ. 11
3. जनजातीय भारत - नदीम हसनैन, पृ. 11
4. जनजातीय भारत - नदीम हसनैन, पृ. 11
5. जनजातीय भारत - नदीम हसनैन, पृ. 11
6. जनजातीय भारत - नदीम हसनैन, पृ. 12
7. वन्यजातीय समाज - हेमलता श्रीवास्तव, पृ. 18
8. वन्यजातीय समाज - हेमलता श्रीवास्तव, पृ. 18
9. वन्यजातीय समाज - हेमलता श्रीवास्तव, पृ. 18
10. वन्यजातीय समाज - हेमलता श्रीवास्तव, पृ. 18
11. जनजातियों का समाज शास्त्र - डॉ. वी.बी. सिंह, पृ. 1, 2

12. जनजातियों का समाज शास्त्र - डॉ. वी.बी. सिंह, पृ. 2

13. जनजातियों का समाज शास्त्र - डॉ. वी.बी. सिंह, पृ. 2

14. जनजातियों का समाज शास्त्र - डॉ. वी.बी. सिंह, पृ. 2

15. जनजातियों का समाज शास्त्र - डॉ. वी.बी. सिंह, पृ. 2

16. संस्कृति के चार अध्याय - रामधारी सिंह दिनकर, पृ. 7, 8

17. संस्कृति के चार अध्याय - रामधारी सिंह दिनकर, पृ. 8

18. भारत के आदिवासी - रत्नाकर भेगरा, पृ. 17

19. जनजातीय भारत - नदीम हसनैन, पृ. 5

20. जनजातीय भारत - नदीम हसनैन, पृ. 6, 7

21. जनजातीय भारत - नदीम हसनैन, पृ. 5

22. जनजातीय भारत - नदीम हसनैन, पृ. 7

23. जनजातीय भारत - नदीम हसनैन, पृ. 7

24. जनजातीय भारत - नदीम हसनैन, पृ. 7

25. जनजातीय भारत - नदीम हसनैन, पृ. 8

26. Caltural Dimension Of Indian Tribes, पृ. 101

27. Caltural Dimension Of Indian Tribes, पृ. 103

28. जनजातीय विकास : मिथक एवं यथार्थ-नरेश कुमार वैद्य, पृ.18 - 48

29. भारत जनगणना - 1991-2001. प्रकाशन विभाग, भारत सरकार।

30. भारतीय जनजातियाँ - डॉ. हरिश्चन्द्र उप्रेती, पृ. 182

31. भारतीय जनजातियाँ - डॉ. हरिश्चन्द्र उप्रेती, पृ. 183

32. भारतीय जनजातियाँ - डॉ. हरिश्चन्द्र उप्रेती, पृ. 186

33. भारतीय जनजातियाँ - डॉ. हरिश्चन्द्र उप्रेती, पृ. 188

34. भारतीय जनजातियाँ - डॉ. हरिश्चन्द्र उप्रेती, पृ. 189

35. भारतीय जनजातियाँ - डॉ. हरिश्चन्द्र उप्रेती, पृ. 191

36. भारतीय जनजातियाँ - डॉ. हरिश्चन्द्र उप्रेती, पृ. 192

द्वितीय अध्याय

हिन्दी के जनजाति परक उपन्यास : संक्षिप्त परिचय का संदर्भ

द्वितीय अध्याय

हिन्दी के जनजाति परक उपन्यास : संक्षिप्त परिचय का संदर्भ

अब तक हिन्दी में लिखे गये आदिवासी उपन्यास करीब 80 तक हैं। जो अकारादि में इस प्रकार हैं-

1. अल्मा कबूतरी	मैत्रेयी पुष्पा	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली	प्र.सं. 2000
2. कगार की आग	हिमांशु जोशी	भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली	प्र.सं. 1976
3. कब तक पुकारूँ	रांगेय राघव	राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली	प्र-सं. 1958
4. कचनार	वृंदावन लाल वर्मा	प्रभात प्रकाशन, दिल्ली	प्र.सं. 1946
5. काला पहाड़	भगवान दास मोरवाल	राधाकृष्ण प्रकाशन - दिल्ली	प्र.सं. 2004
6. काला पादरी	तेजिन्दर	नेशनल पेपरबैक्स - दिल्ली	प्र.सं. 2005

7. गगन घटा घहरानी मनमोहन पाठक, प्रकाशन संस्थान - दिल्ली प्र.सं. 1991

8. गाथा भोगनपुरी किशोर कुमार सिन्हा वाणी प्रकाशन - दिल्ली प्र.सं. 1986

9. जंगल के आस पास - राकेश वत्स राजपाल एण्ड सन्स - दिल्ली प्र.सं. 1982

10. जंगल के फूल - राजेन्द्र अवस्थी राजपाल एण्ड सन्स - दिल्ली प्र.सं. 1996

11. जंगल जहाँ शुरू होता है - संजीव राधाकृष्ण प्रकाशन - दिल्ली प्र.सं 2000

12. धूणी तपे तीर हरिराम मीणा साहित्य उपक्रम - दिल्ली प्र.सं. 2008

13. पठार पर कोहरा राकेश कुमार सिंह भारतीय ज्ञानपीठ - दिल्ली प्र.सं. 2003

14. पलास के फूल संतोष प्रीतम प्रणेता प्रकाशन - राँची प्र,सं. 1985

15. पाँव तले की दूब संजीव प्रवीण प्रकाशन - दिल्ली प्र.सं. 1995

16. पाथर घाटी का शोर पुन्नी सिंह राजकमल प्रकाशन -दिल्ली प्र.सं. 1994

17. बाजत हनहद ढोल मधुकर सिंह वाणी प्रकाशन - दिल्ली प्र.सं. 2005

18. मृगनयनी वृंदावन लाला वर्मा प्रभात प्रकाशन - दिल्ली प्र.सं. 1950

19. मीणाघाटी सोहन शर्मा राधाकृष्ण प्रकाशन - दिल्ली प्र.सं. 1996

20. रेत भगवानदास मोरवाल राजकमल प्रकाशन -दिल्ली प्र.सं. 2008

21. वरुण के बेटे नागार्जुन राजकमल प्रकाशन -दिल्ली प्र.सं. 1985

22. वन लक्ष्मी योगेन्द्र नाथ सिन्हा हंस प्रकाशन - इलाहबाद प्र.सं. 1956

23. वन के मन में योगेन्द्र नाथ सिन्हा आत्माराम एण्ड सन्स - दिल्ली प्र.सं 1962

24. शैलूष शिव प्रसाद सिंह नेशनल पब्लिशिंग हाउस-दिल्ली. प्र.सं. 1989

24. सावधान नीचे आग है संजीव राधाकृष्ण प्रकाशन - दिल्ली प्र.सं. 1986

25. सूरज किरण की छाँव राजेन्द्र अवस्थी परमेश्वरी प्रकाशन - दिल्ली प्र.सं. 1997

26. आदिवासी हैं तो समर शेष है - विनोद कुमार 2005

27. घोटुल - राजेन्द्र अवस्थी

28. रथ के पहिए - देवेन्द्र सत्यार्थी, प्रवीण प्रकाशन - दिल्ली प्र.सं. 1953

29. वन पॉखी - गुरुवचन सिंह

30. चलता पिटारा - रामदीन पाण्डे

31. तमाम जंगल - कान्हजी तोमर

32. मौन घाटी - पीटर पाल एक्का

33. धरती मेरा घर - रांगेय राघव, 1975

34. मोर झाल - श्याम परमार 1963

35. कोहरे में खोये चाँदी के पहाड़ - जयप्रकाश भारती 1998

36. महासागर में निकोबार द्वीप - हिमांशु जोशी 1972

37. रक्त यात्रा - कृष्णचन्द शर्मा भिक्खु 1978

38. उत्तर पूर्व - लाल बहादुर वर्मा

39. पहाड़िन - नारायण

40. जहाँ बाँस फूलते हैं - श्री प्रकाश मिश्र 2000

41. अरण्य बाला - ब्रजनन्दन सहाय

42. खलीफों की बस्ती - शिवकुमार श्रीवास्तव

43. प्रस्थान - परदेशीराम वर्मा

44. क्लावे - जय सिंह लोक चेतना प्रकाशन - जबलपुर

45. नदी के मोड़ पर - दामोदर सदन (पराग प्रकाशन - दिल्ली)

47. गुनिया - कुरमा (जगदलपुर - बस्तर)

48. मादल का दर्द - श्याम व्यास (लोक चेतना प्रकाशन - जबलपुर) 1962

49. पत्तों की बिरादरी - मणि मधुकर

50. कस्तूरी - शानी 1960

51. लहरों की छाती पर - बलमुद्र ठाकुर

52. गमन - हबीब कैफी

53. जंगल के गीत	-	पीटर पाल एक्का 1999
54. मोरझल	-	शानी
55. आरण्यक	-	विभूति भूषण वंधोपाध्याय (बंगला से अनुदित)
56. पूर्वा पार्वती	-	प्रफुल्ल राय (बंगला से अनुदित)
57. बलि	-	बिभावरी शिरूरकर (मराठी से अनुदित)
58. कुड़ियर कुसुम	-	कारंत (कन्नड़ से अनुधित)
59. दो सेर धान	-	तकशी शिव शंकर पिल्लै (साहित्य अकादमी)
60. अमृत संतान	-	गोपीनाथ महान्ति (भारती बिहार - कटक)
61. वन विहंगिनी	-	रामचीज वल्लभ सिंह 1909
62.सुभा की शाम	-	वाल्टर भेंगरा तरुण
63. कोरा कुमारी	-	रामानन्द शर्मा
64. इदनमम्	-	मैत्रेयी पुष्पा
65. साँप और सीड़ी	-	शानी 1980
66. कस्तूरी	-	शानी 1960
67. नदी और सीपियाँ	-	शानी 1970
68. वनतरी	-	सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव 1986
69. पिंजरे में पन्ना	-	मणिमधुकर 1992
70. सु-राज	-	हिमांशु जोशी 1982
71. महर ठाकुरों का गाँव	-	बररोही 1984
72. धरती मेरी माँ	-	बालशौरी रेड्डी 1969
73. भारत बनाम इंड़िया	-	श्रवण कुमार गोस्वामी
74. हस्ताक्षेप	-	श्रवण कुमार गोस्वामी 2003
75. गमना	-	हबीब कैफी

76. मनुष्य मंथन	-	सुखदेव दुबे	
77.राका की मंजिल	-	बलनंत सिंह	1971
78.धरती	-	जगदीशचन्द्र	

इनमें स्वातंत्र्यपूर्व प्रेकाशित उपन्यास बहुत ही कम हैं, स्वतंत्रता के बाद इन उपन्यासों का प्रकाशन बड़ी तेजी से हुआ और वर्तमान में आदिवासियों को केन्द्र में रख कर अनेक उपन्यास प्रकाश में आ रहे हैं। इनमें से कुछ उपन्यास आज बाजार में उपलब्ध नहीं हैं। फिर भी जितने उपन्यास उपलब्ध हैं उन सारे उपन्यासों को पढ़ने के बाद कई दृष्टियों से इनका विभाजन कर सकते हैं।

1. पूर्ण रूप से आदिवासी जीवन को साकार करने वाले उपन्यास।
2. गौण रूप से आदिवासी जीवन को साकार करने वाले उपन्यास।
3. आदिवासी लेखकों द्वारा लिखे गये उपन्यास।
4. गैर आदिवासियों द्वारा लिखे गये उपन्यास।
5. निश्चित आदिवासियों पर लिखे गये उपन्यास।
6. एक ही आदिवासी समूह पर लिखे गये अनेक उपन्यास।
7. विद्रोही परख आदिवासी उपन्यास।
8. ईसाईयत से प्रभावित आदिवासी जीवन पर लिखे गये उपन्यास।
9. बंधुआ मजदूरी पर लिखे गये आदिवासी उपन्यास ।
10.आदिवासी सांस्कृति पर लिखे गये उपन्यास।
11.आदिवासी सामाज का चित्रण करने वाले उपन्यास।
12.स्वातंत्र्य पूर्व आदिवासी जीवन पर लिखे गये उपन्यास।
13.स्वातंत्योत्तर आदिवासी जीवन पर लिखे गये उपन्यास।
14.समकालीन आदिवासी जीवन पर लिखे गये उपन्यास।
15.एक ही क्षेत्र के आदिवासी पर लिखे गये उपन्यास।
16.एक ही क्षेत्र के विविध आदिवासी समूहों पर लिखे गये उपन्यास।

हिन्दी में आदिवासी जीवन पर लिखे गये उपन्यासों का प्रकाशन राष्ट्र की आज़ादी से पहले ही आरम्भ होता है। मेरे अनुसार पहला आदिवासी उपन्यास 1909 में रामचीज वल्लभ द्वारा लिखा गया 'वन विहंगिनी' है, इसे संथाल परगना के 'कोल' आदिवासी युवतियों के जीवन संघर्ष को केन्द्र में रख रक लिखा गया है। दूसरा उपन्यास 1934 में रामदीन पाण्डे द्वारा लिखा गया 'कोरा कुमारी' है यह भी एक आदिवासी युवती को केन्द्र में रख कर लिखा गया है। आजादी के बाद आदिवासी जीवन पर अनेक महत्वपूर्ण उपन्यासों की रचना हुई, किन्तु उन्हें आंचलिक उपन्यास कहा गया और उसी दृष्टि से आलोचना अथवा समीक्षाएँ लिखी गईं।

2.1. कचनार - वृन्दावनलाल वर्मा

कचनार उपन्यास 1947 में प्रभात प्रकाशन, दिल्ली से प्रकाशित है। उपन्यास के केन्द्र में गोंडवाना प्रदेश के आदिवासी राजगोंड के शासनव्यवस्था तथा अठारहवीं सदी के अंतिम दशक के आस-पास का राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक वातावरण का चित्रण किया गया है। उपन्यास का आरम्भ धामोनी के राजगोंडों के राव दलीपसिंह और उसे विवाह में दहेज के रूप में प्राप्त कचनार के प्रेम की कहानी है। जिसमें धामोनी का गढ़ प्रथम गोंडों में राघोजी भोंसला. द्वितीय के अधीन में रहा। चंचल राजनीति और हलचल से लाभ उठाकर गढ़पति स्वयं को स्वतंत्र समझने लगे। गढ़ प्रमुख सागर को अपना राजा नहीं मानता था और नागपुर का भोंसला अपने झंझटों में घिरा हुआ रहता था। भोंसले द्वारा उसे रावसाहब उपाधि प्राप्त हुई थी। उपन्यास में दलीपसिंह के स्मृति लोप और अंत में उसकी पुनःप्राप्ति की कथा है, जिसका आधार प्रसिद्ध भुवाल सन्यासी है। उपन्यास के प्रमुख पात्र हैं, दलीपसिंह अर्थात् सुमन्तपुरी, कचनार अर्थात् कंचनपुरी, मानसिंह, डरू अर्थात डोरीसिंह और महंत अचलपुरी। अन्य महत्वपूर्ण पात्र हैं, कलावती, मन्टोलपुरी और मन्ना। गौण पात्रों में ललिता, नाधान, सोनेसाह, अमीर खाँ और बैजनाथ आते हैं।

अब तक इस उपन्यास को इतिहास और परम्परा के अद्‌भुत समन्वय की ख्याति मिली, किन्तु आज तक पाठकों या आलोचकों ने इसे ऐतिहासिक उपन्यास की दृष्टि से ही देखा है। मैं इस उपन्यास को हिन्दी में लिखे गये आदिवासी उपन्यासों की कोटि में रखने का साहस कर रहा हूँ, क्योंकि इस में धामोनी रियासत के गोंड राजाओं के जीवन और संस्कृति का सहज, सरल, स्वाभाविक और प्रमोदमय रूप प्रस्तुत किया है। गोंड

मध्य भारत की एक प्रमुख जनजाति है, और अठारहवीं सदी के अंतिम दशक के आस पास धामोनी पर इनका शासन था। और इस उपन्यास में इसी समय के राजनीतिक, समाजिक, धार्मिक वातावरण का चित्रण किया गया है।

लेखक उपन्यास के परिचय में लिखता है कि "धामोनी राजगोंडों का था। मराठों और बुंदेलों के झकड़ों में से गोंडों ने हटते-हटते भी इसको खोया और पाया। यह क्रम कई बार घटित हुआ। आजकल के भारतीय राजनीतिक विकास में गोंड कोई विशेष भाग लेते हुए नहीं जान पड़ते, यद्यपि मध्यभाग में उनके कई राज्य हैं। परंतु एक समय वे अपने सहज, सरल, स्वाभाविक और प्रमोदमय जीवन द्वारा भारतीय संस्कृति को अपने दृढ़ और पुष्ट हाथों की अंजलियाँ भेंट किया करते थे।"[1]

स्पष्ट है कि गोंड जनजाति के अनेक राज्य थे, और वे सुसंपन्न थे। आज की स्थिति कुछ और है, गोंड कहते ही पहाड़, जंगलों तथा काननों में जीवन यापन करने वीले मानव समूह की आकृति स्मरण में आती है। कारण मात्र यही रहा है कि इस उपन्यास के संदर्भ में लिखा गया समीक्षा, किया गया आलोचना में कहीं भी इनके लिए आदिवासी शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। इससे पाठक निरन्तर संदिग्धता में रहा।

लेखक ने उपन्यास लिखने से पहले कथानक के इतिहास को गहराई से जानने के लिए अनेक ग्रथों का अध्ययन किया है। उपन्यास की भूमिका में वे कहते हैं "उसी समय श्री एलविन 'फोकसोंग्स आफ दि मेखल रेंज' और नागपूर से सरकार द्वारा प्रकाशित 'दि राजगोंड्स' पुस्तकें भी हाथ आ गई।"[2]

इसी आधार पर लेखक उपन्यास में गोंडों के शारीरिक लक्षणों का उल्लेख करते हैं। मुख्यतः स्त्रियों का परिचय देते हुए उनके शारीरिक गठन का तथा रूप रंग का उल्लेख इस प्रकार किया कि- "एक सहेली खरे गोरे रंग की और बहुत सुन्दर। दूसरी जरा सांवले रंग की, आँखें बड़ी, परन्तु नाक कुछ चपटी, नथुने फूले हुए। दोनों खटोलिया गोंड।"[3]

इस कथन से जाहिर होता है कि उपन्यास लिखने से पहले लेखक ने गोंडों के जीवन तथा उनके राज्य के ऐतिहासिक, भौगोलिक परिवेश को जानने तथा गहराई से परखने में कोई चूक नहीं की। इन्हीं ग्रंथों में उनके शारीरिक लक्षणों का उल्लेख मिला जिसे वे अपनी रचना कौशल से राज गोंड स्त्रियों के शारीरिक रूप रेखा को यथा रूप में कह सके। उपन्यास में गोंडों के जीवन से जुड़े अनेक सांस्कृतिक पक्षों का उल्लेख किया गया

है।

2.2. वनलक्ष्मी - योगेन्द्रनाथ सिन्हा

'वनलक्ष्मी' उपन्यास 1956 में हंस प्रकाशन, इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ था। उपन्यास के केन्द्र में सिंहभूमि के 'हो' आदिवासियों के जीविकोपार्जन का साधन एक अंग्रेजी कंपनी मुलहाउस है। इस कंपनी ने सिंहभूम के घने सरकारी जंगलों में ठेका लिया हुआ है। यह कंपनी जंगलों की कीमती लकड़ी काटकर उससे कीमती फर्नीचर, ऐशोआराम की वस्तुएँ आदि बनाकर बेचती है तथा मुनाफा कमाती है। इस योजना के लिए कंपनी ने अनेक आदिवासी मजदूरों को कम मजदूरी पर काम में लगाया हुआ है। ये मजदूर हजारों दुख तकलीफों को सहकर भी चुपचाप अपने काम में लगे रहते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि अगर कंपनी के खिलाफ एक शब्द भी बोला तो काम से हाथ धोना पड़ेगा, उसकी जीविका का एकमात्र आधार उनसे छिन जायेगा।

कंपनी का मुख्य व्यापार शाल के मोटे-मोटे पेड़ों को चिरवाना, इनसे रेल-स्लीपर चिरवाना या नाँव तैयार करना और कलकत्ते इत्यादि भेजना है। कंपनी के व्यापार में सिर्फ साल की मोटी-मोटी लकड़ी का ही इस्तेमाल किया जाता है। लेकिन शाल के अतिरिक्त उपयोगी लकड़ी के और भी कई तरह के पेड़ हैं जैसे- पियाशाल, गम्हार, सिरिस, करम इत्यादि। चुने हुए शाल के लकड़ियों को ही काम में लगाते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो यह कंपनी ही आदिवासी परिवारों का पेट भरती है। स्त्री-पुरुष दोनों ही यहाँ मजदूरी करते हैं।

इस उपन्यास में लेखक इस बात की पुष्टि करता है कि आदिवासी समाज में जारी विघटन की प्रक्रिया बहुआयामी है। अंग्रेजी उपनिवेशवादी ताकतों तथा देशी दलालों की मिली भगत ने आदिवासी समाज के परम्परागत मूल्यों को छिन्न-भिन्न कर दिया है। अपने परम्परागत अधिकारों को छीन लिया जाना, भ्रष्ट वनअधिकारियों के हाथों लगातार मुसीबतें, अत्याचार, बलात्कार, अपमान सहना, जंगल से मिलने वाली आजीविका का समाप्त हो जाना और जंगल के अन्दर गाँव के गाँव का उजड़ जाना, आदिवासियों की जिन्दगी का हिस्सा बन गया है। उनका सुख-चैन छिन गया है। उपन्यास में ऐसे अनेक प्रसंग हैं जिनसे इन तथ्यों की वास्तविकता का अन्दाजा लगाया जा सकता है। कम्पनी में काम कर रहे कर्मचारी जब कभी अपने ऊपरे हो रहे अमानवीय अत्याचार की बात करना चाहते हैं तो शिवदत्त उन्हें तुरन्त शान्त कर देते हैं। वे निरन्तर उन्हें

धर्म और अहिंसा की शिक्षा देते हैं- "हम लोग अपना-अपना कर्तव्य करते जायें, दण्ड या पुरस्कार ईश्वर के हाथ छोड़ देना चाहिए। दुर्व्यहार देख कर चित्त में हिंसा की प्रतिक्रिया स्वाभाविक है, पर हमारा धर्म है उसे दबाना, उत्तेजित करना नहीं है।"[4] वे हमेशा कर्मचारियों को मेहनत और इमानदारी से काम करने की सीख दिया करते हैं- "जिसकी रोटी खाते हैं उसकी बढ़ती न करना बेइमानी नहीं तो और क्या है।... नफा कंपनी को होगा, किन्तु आत्मा तो हमारी जुड़ायेगी कि हमने अपना निस्वार्थ कर्म किया।"[5]

जब तक कर्मचारीगण बिना कुछ बोले निस्वार्थ भाव से काम में जुटे रहते हैं वहाँ तक तो कोई आपत्ति की संभावना नहीं बनती। लेकिन ज्यों ही वे अपने कष्ट तथा परेशानियों को व्यक्त करने लगते हैं, शिवदत्त के विचारों में टकराहट पैदा होने लगती है। एक आदिवासी मजदूर गोपालनायक के यह कहने पर कि- "छोटा साहब जब भी आता है, बुरा व्यवहार करता है। काम में कोई दोष नहीं फिर भी डैम कहता है, तलब काटने की धमकी देता है।"[6] शिवदत्त उसे शान्त करा देते हैं। इसी प्रकार जम्बीरा हो के यह शिकायत करने पर कि- "मेरा तो तीन दिन का तलब काट ही लिया, उसी औरत के, कान में कुछ कहने पर"[7] वे बड़ी चतुराई से विषय पलट देते हैं। शिवदत्त का सतत प्रयास यही है कि निम्न वर्ग अन्याय और जुर्म की चक्की में पिसता रहे तथा सस्ती दरों पर अपना श्रम बेचता रहे। वे नहीं चाहते कि अंधकार का जो पर्दा उनके सामने पड़ा है उससे वे उभर सकें।

उपन्यास में दिखाया गया है कि किस तरह आदिवासी मजदूरों के मनोबल को कमजोर करने का प्रयत्न किया जाता है तथा उसकी बुद्धि को जड़ता की स्थिति तक पहुँचाने के लिए धर्म को शोषण तंत्र के हथियार के रूप में अपनाया जाता है। शिवदत्त आदिवासियों को गीता के धर्म दर्शन का उपदेश देता है तथा शोषण व्यवस्था को सद्रुढ़ बनाये रखता है। वह उन्हें देश-प्रेम तथा कर्तव्य प्रेम का निरन्तर उपदेश देता है।

लेखक ने उपन्यास में कम्पनी के मैनेजर जेफरन साहब तथा सुपरवाइजर शिवदत्तराना को अनेकानेक योजनाओं द्वारा अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति करते हुए चित्रित किया है। जंगल की बरबाद जा रही लकड़ी को उपयोग में लाने हेतु शिवदत्त एक योजना बताता है जिससे और एक कारखाना खोला जाता है। इस योजना को जेफरन एक पूंजीपति के नज़रिये से देखते हैं। वह पूंजीपति, जो शोषितों को कोई शारीरिक कष्ट प्रत्यक्ष रूप से ही नही देता, बल्कि वह उनको जोंक की तरह चूसता रहता है। उनके हृदय को धीरे-धीरे खोखला

बनाता रहता है। वह शोषितों को मनुष्य समझता ही नहीं। वह सिर्फ अपना लाभ ही देखता है- "किसी बात का किसी वर्ग विशेष पर या सम्पूर्ण समाज पर क्या प्रभाव पड़ेगा, इसकी उसे चिन्ता नहीं होती।"[८] स्पष्ट ही है कि इस योजना में जेफरन की नज़र उसके आर्थिक पहलू पर है। कुछ भी बने, बरबाद जा रही लकड़ी काम में आने से ही कम्पनी का लाभ बढ़ेगा और स्वभावतः ही उनकी सूची में अमीरों के इस्तेमाल के वस्तु थे जैसे सुन्दर ड्राइंग रूम सेट, सोफा, कीमती अलमारी, शराब के भड़कीले छोटे टेबुल, आराम कुर्सी आदि।

कम्पनी के मैनेजर जेफरन साहब मालिक होने की हैसियत से हर चीज पर अपना पूर्ण अधिकार समझते हैं। काम से अधिक वे प्रेम व्यवहार में रुचि दिखाते हैं। प्रारम्भ में वे अपने सुपरवाइजर मनसुखदास की पत्नी इथेलदास से प्रेम करते हैं। वे इथेलदास से कहते हैं "इस जंगल में रोज गुडबाइ शेक-हेंड करके जाने की अपेक्षा करते हैं। वे इथेलदास के सौन्दर्य का मधुपान कर जीवित रहने की लालसा मन में रखे हुए हैं। इथेन के साथ भागकर जेफरन किसी गुफा में जाकर आदि पुरुष और आदिनारी की तरह रहना चाहते हैं। कठिन काम के भार से कठिन कठोर कर्तव्यों की चिंता से जब मन क्लान्त हो उठते हैं तो उस समय जेफरन इथेन की सुहानी सूरत याद करते हैं। उनके प्यारे-प्यारे हाव-भाव मन में चित्रित करते हैं। प्रेम पगी प्यार की बातें प्रतिध्वनि की तरह अन्तर से सुनते हैं। बस इतने से ही पत्थर फूल बन जाता है।"[९]जब जेफरन इथेल के प्रेम से ऊब जाते हैं तो उनका ध्यान गीता की शिक्षाओं की प्रतिमूर्ति एक आदिवासी युवती बुदनी के गोरे रंग और असाधारणता की ओर खिंचता है। ऐसा निटोल बदन, गठन के नाप-जोख में ऐसा संतुलन, चेहरे की ऐसी कलात्मक, काट और कुंचित-विहीन उन्नत उरोज ऐसे सुडौल जैसे काले पत्थर की मूर्ति किसी दैवी कलाकार ने गढ़ी हो। इस तरुणी में इन सभी विशेषताओं के अतिरिक्त बदन में गोराई है और आंखों में नीलिमा। बुदनी की आँखों की इसी नीलिमा में जेफरन साहब खोने लगते हैं। जहाँ सभी मजदूर मजदूरिनों के बीच बुदनी काम करती है, वहाँ जेफरन निरीक्षण का बहाना बनाकर बहुत देर तक आसपास मंडराते रहते हैं। अब अक्सर जेफरन उधर ही अपना काम देखने लगे हैं। किसी न किसी बहाने से जहां बुदनी रहती है वहां अधिक समय बिताते और यहां के समाज में अविवाहित लड़कियां इतनी स्वाधीन भी होती हैं कि निष्पाप विनोद की बातें उनके साथ कोई कर ले, इसमें किसी को कोई आपत्ति नहीं।

यहाँ जेफरन का चरित्र जिस तथ्य की ओर इंगित करता है वह यह कि वन अधिकारियों तथा वन-कर्मियों की मजदूरी करने आयी आदिवासी युवतियों पर कामुक दृष्टि गड़ी रहती है। आदिवासी स्त्री का वन-कारखानों तथा जंगल संबंधी विविध कार्यक्रमों में मजदूरी के लिए आना एक विवशता है। उनकी आर्थिक परिस्थितियाँ उन्हें इस बात के लिए विवश करती है। लेकिन उनके इस मजबूरी का वन-अधिकारी, कंपनी के ठेकेदार आदि पूरा फायदा उठाते हैं तथा अपनी काम तृप्ति करते हैं। जंगल सिपाही तथा पुलिस, हवलदार इस काम में पीछे नहीं हटते।

2.3. कब तक पुकारूँ - रांगेय राघव

'कब तक पुकारूँ' उपन्यास रांगेय राघव ने 1953-54 में लिखकर तैयार कर लिया था और 1956 में उन्होंने इसे प्रकाशनार्थ दे दिया था। 1957 में यह प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास का शीर्षक 'अधूरा किला' रखा गया। जिसे बाद में अपने स्व. मित्र अजान चतुर्वेदी के अनुज जैमिनी कुमार के यह कहने पर कि शीर्षक कुछ जासूसी उपन्यास जैसा लग रहा है, बदलकर उन्हों ने 'कब तक पुकारूँ' कर दिया।

'कब तक पुकारूँ' लोक संस्कृति की पृष्ठभूमि पर आधारित एक सशक्त औपन्यासिक कृति है, जिसमें खानाबदोश नटों के जीवन संघर्ष को परत-दर-परत उकेर कर संजोया गया है। यायावर जीवन में घटने वाली तमाम बाह्य शक्तियों के दबावों, अत्याचारों, अन्याय और छल-कपट को लेखक ने पात्रों के माध्यम से जीवन्त कर दिया है। जीवन की संवेदनशील सच्चाइयों और मानवीय भावों का सहज चित्रण इस उपन्यास में मिलता है। खानाबदोश जरायम पेशा नटों की दुर्भाग्यपूर्ण जिन्दगी की गाथा है 'कब तक पुकारूँ'।

उपन्यास का कथानक विचित्र घटनाओं से भरपूर है। राजस्थान और ब्रज की सीमा पर बसे 'वैर' नामक ग्राम और उसके परिवेश में जरायम पेशा करनटों की कथा इस उपन्यास के केन्द्र में है। इनके लोक जीवन, लोक गीत, आचार विचार, उनकी संस्कृति, अंध विश्वासों, शोषण उत्पीड़न और अनैतिकता का वर्णन इसमें आँचलिकता का आभास कराता है। बनजारे नटों के जीवन के रीति-रिवाज, परम्पराएँ और सांस्कृतिक मान्यताएँ, नट समाज की विकृत स्थितियों तथा क्रूर भयावह परिस्थितियों का उद्घाटन करती है। यह उपन्यास सामाजिक समालोचना को द्वंद्वात्मक चेतना के माध्यम से व्यक्त करता है। इस उपन्यास में सामाजिक नैतिक अनैतिक मान्यताओं तथा वर्ग संघर्ष को यथार्थ के धरातल पर चित्रित किया गया है, जो यह संकेत करती है

कि स्थितियाँ यही नहीं रहेंगी। पात्रों की वर्ग चेतना उन्हें परिवर्तन की ओर अग्रसर करती प्रतीत होती है। इसमें स्वतंत्रता पूर्व भारत के सामाजिक, आर्थिक, नैतिक और राजनीतिक परिवेश में नट जीवन का चित्रण है तो दूसरी ओर स्वातंत्र्योत्तर भारत के बदलते मूल्यों में उनके जीवन को आँकने का प्रयास भी किया किया गया है। भाषिक संरचना के दृष्टि से भी यह महत्वपूर्ण कृति है। ग्रामीण परिवेश और अंचल के प्राकृतिक रूप को काव्यात्मकता प्रदान किया गया है। कथानक में गुँथे करूण प्रसंग, भावुकता और संवेदन शीलता से भरपूर है। लेखक ने लोक जीवन को निकट से देखकर भाषागत बिबों, प्रतीकों तथा ध्वनियों का अद्‌भुत प्रयोग किया है जिससे भाषा गत्यात्मकता हो गई है। 'कब तक पुकारूँ' को एक श्रेष्ठ कृति की श्रेणी में गिना जाता है। ग्रामीण जीवन की प्रष्ठभूमि में नटों के जीवन के संश्लिष्ट यथार्थ को व्यक्त करने वाला यह एक अनूठा उपन्यास है जो सामाजिक चेतना की निश्चित पद्धति से उद्‌भूत रहा है।

उपन्यास के नायक करनट सुखराम का सम्बन्ध एक ठाकुर वंश से था। कुछ पीढ़ी पहले अधूरे खिले की मालकिन ठकुराइन से एक धरबान से अपना अनैतिक संबन्ध स्थापित कर लिया, जिसके कारण उसकी सन्तान ठाकुर न कहलाकर नट कहलाने लगी। उसी वंश में सुखराम का जन्म हुआ था। सुखराम नटों का पेशा करता हुआ भी अपने को ठाकुर समझता था। बचपन में ही माता-पिता की मृत्यु हो जाने के कारण वह इसीला नट के साथ रहने लगा। कालान्तर में उसका विवाह इसीला की पुत्री प्यारी से हो गया। सुखराम प्यारी के साथ गाँव-गाँव घूमकर खेल दिखाता था। प्यारी भी लोगों के साथ अपना मांसल सम्बन्ध स्थापित कर धन कमा लेती थी, जिससे दोनों प्रसन्न रहा करते थे। कुछ दिन के पश्चात एक सिपाही रुस्तम खां ने प्यारी को रखैल के रूप में अपने घर रख लिया। इससे सुखराम को अत्यन्त मानसिक पीड़ा हुई, किन्तु प्यारी से अपना संबन्ध बनाये रखा। कुछ दिन बीत जाने के बाद उसने कुर्री की पत्नी कजरी से अपना विवाह कर लिया। इस घटना से प्यारी को गहरा आघात लगा, किन्तु वह अपनी विवशता के कारण सुखराम का विरोध न कर सकी। इसी समय प्यारी और रुस्तम खां दोनों अत्यन्त बीमार पड़ गये। सुखराम अपनी जड़ी बूटियों से उन दोनों की दवा करने लगा। एक दिन उसने बांके से धूपो चमारिन की रक्षा कर दी, जिसके कारण बांके उसका शत्रु हो गया और उससे बदला लेने की तैयारी करने लगा। कुछ लोगों के साथ बांके ने उस पर हमला भी कर दिया, किन्तु इसमें सुखराम के साथ उसे भी गहरी चोट लगी। चमारों ने सुखराम की रक्षा की और उसे डेरे पर पहुँचा दिया। थोड़े

समय में ही सुखराम पूर्ण स्वस्थ हो गया। एक दिन वह कजरी को प्यारी के पास छोड़ कर बाजार चलागया और लौटते समय उसने रोती हुई धूपो को देखा। धूपो के पास जाने पर उसे मालूम हुआ कि बांके ने उसके साथ बलात्कार किया है। सुखराम के समझाने पर भी धूपो ने आत्महत्या कर ली, जिसके कारण चमारों में उत्तजना फैल गई। सभी लोग बांके से बदला लेने के लिए पुलिस रुस्तम खां के पास पहुँच गये, क्योंकि बांके उस समय वहीं था। रुस्तम खां और बांके दोनों शराब पीकर धूपो और सुखराम की निंदा करने लगे। उन दोनों की नीचता से क्षुब्ध होकर कजरी और प्यारी ने क्रमशः बांके और रुस्तम खां कि हत्या कर दी। इसी समय चमारों का समूह भी घर के पास आ गया और एक व्यक्ति ने उस घर में आग लगा दी, जिसके कारण प्यारी और कजरी दोनों संकट में पड़ गयीं। जलते हुए घर में प्रवेश कर सुखराम ने दोनों की रक्षा की और उन्हें लेकर करनटों के समूह में भाग गया। कुछ दिन के बाद वह गांव की स्थिति जानने के लिए वापस आया और थाने में पकड़ लिया गया। थाने में उसका परिचय करनटों के कैदी राजा से हुआ। दोनों थाने की खिड़की काटकर भाग गये। राजा ने सुखराम को अपना वजीर बना लिया। उसी समय प्यारी सख्त बीमार पड़ गई और कुछ दिन के बाद मर गई। एक दिन सुखराम और कजरी पहाड़ पर टहल रहे थे कि उन्होंने एक स्त्री को चिल्लाते हुए देखा। दोनों ने जाकर मेम सूसन को डाकुओं से छुड़ा लिया और उसको घर पहुँचा दिया। सूसन ने प्रसन्न होकर उन दोनों को अपने यहाँ नौकरी दे दी। एक दिन सूसन के यहाँ लारेंस नामक एक अंग्रेज आया और वहीं रहने लगा। सूसन के पिता उसे पुत्रवत् स्नेह देने लगे। एक दिन लारेंस ने सूसन के साथ बलत्कार किया, जिससे वह चिल्लाने लगी। उसकी आवाज सुनकर कजरी वहाँ पहुँच गई और उसे छुड़ाने का प्रयास करने लगी। लारेंस ने गर्भवती कजरी के पेट में मार दिया, जिसके कारण वह बेहोश होकर गिर पड़ी। कुछ देर के पश्चात् सुखराम आ गया और उसने लारेंस को बुरी तरह पीटा। वृद्ध अंग्रेज के आनेपर सुखराम सारी घटनाओं को व्यक्त कर दिया। वृद्ध ने लारेंस को बुरी तरह पीटकर यूरोप भेज दिया, किन्तु सूसन गर्भवती हो गई।

सामाजिक प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए वृद्ध ने सूसन को सुखराम और कजरी के साथ बम्बई के एक अस्पताल में भेज दिया। बम्बई में कजरी की मृत्यु हो गई और सूसन को लड़की पैदा हुई। सुखराम उस नवजात बालिका को लेकर गाँव चला आया और कजरी की लड़की बताकर उसका पालन-पोषन करने लगा

तथा उसका नाम चन्दा रख दिया। चन्दा बड़ी होने पर उस गाँव के ठाकुर के लड़के नरेश से प्रेम करने लगी। ठाकुर ने चंदा को अनेक प्रकार की यातनायें दीं, किन्तु उसके प्रेम में कोई अंतर नहीं आया। अन्त में सुखराम ने चंदा का विवाह नीलू करनट से कर दिया, किन्तु वह नरेश के प्रेम में भागकर माइके चली आई। उसी समय वृद्ध अंग्रेज का पत्र भी आया, जिससे उसे अपने जीवन का रहस्य मालूम हो गया। वह पागलों की तरह अधूरे किले में भागने लगी। अत्यन्त विक्षुब्द होकर सुखराम ने चन्दा की हत्या कर दी, जिस के कारण उसकी सजा हो गई। चन्दा की मृत्यु से नरेश भी पागल हो गया।

रांगेय राघव का 'कब तक पुकारूँ' हिन्दी के आदिवासी उपन्यासों में से एक है। जरायम पेशा करनटों की संस्कृति, रीति-रिवाज, विश्वास, अन्धविश्वास, नैतिकता तथा अनैतिकता का सजीव चित्रण करके लेखक ने एक नई दुनिया का आविष्कार किया है।

रांगेय राघव ने कब तक पुकारूं में समाज के उस वर्ग को चुना है, जिसका अपना कोई खेत नहीं, व्यवसाय नहीं, व्यवस्थित घर नहीं। जो चोरी करते, शहद इकट्ठा करके बेंचते, खेल दिखाते और जिनकी स्त्रियाँ ब्राह्मणों, ठाकुरों एवं पुलिस वालों से यौन संबन्ध स्थापित करके कुछ कमा लेती हैं। यही उनके जीवन यापन का मुख्य साधन है। जीवन का यह क्रम कई पीढ़ियों से ऐसे ही चल रहा है, चलता रहेगा। उपेक्षित, शोषित, पीड़ित, नटों की दयनीय दशा पर न तो समाज की दृष्टि गई, न तो सरकार की। अपनी अतृप्त यौन-वासना की तृप्ति करके भी नटनियों को इकन्नी, दुहन्नी या गुड़ की भेली पर ही टरका दिया जाता है।

इस उपन्यास की प्रमुख समस्या है- यौन समस्या, आर्थिक विषमताएं, सामाजिक यातनाएं, ब्राह्मण-ठाकुर आदि कुलीन कहे जाने वाले लोगों के अकुलीन कार्यों का विश्लेषण, पुलिस का दमन और अत्याचार।

लेखक की मान्यता है कि ईसा के पहले जैसे यूनान में पेगन जातियां थीं, जो असभ्य मानी जाती थीं। उनकी औरतों में नैतिकता नहीं होती। वे सेक्स में आजाद होती हैं, ये जातियां सभ्यता से दूर हैं। लेखक ने इनकी नैतिकिता को समाज का आदर्श बनाकर प्रस्तुत नहीं किया है, उसने यह बताने का प्रयत्न किया है कि सारा खानाबदोश समाज उत्पीड़ित, शोषित तथा दलित है। न इनके ये सामाजिक नियम शाश्वत हैं न हमारी नैतिकता के बंधन ही शाश्वत हैं। करनटों की हर लड़की जब जवान होती थी, तो उसे पहले ठाकुरों के पास रात बितानी पड़ती थी। प्यारी और कजरी ने इसी परिवेश में जन्म लिया था। इन्हीं दोनों ने उस समाज की नारी जाति का प्रतिनिधित्व किया। नैतिकता और अनैतिकता का इन्हें ज्ञान नहीं। इन्हें ज्ञान है केवल पेट का। पेट

भरने के लिए जैसे गाय, भैंस किसी भी नांद में मुंह मार देती हैं, किसी भी खेत को चर लेती हैं, उसी प्रकार इस समाज की नारियां पेट भरने के लिए किसी से भी यौन-सम्बन्ध स्थापित करने में नहीं हिचकतीं। इनके मन में कभी यह विचार उत्पन्न नहीं होता कि ऐसा कर्म अनैतिक है। जिसे हम अनैतिक कहते हैं उसे ये स्वभावजन्य प्राकृतिक गुण मानती हैं। पवित्रता धर्म की शिक्षा न तो इन्हें मां से मिली हैं, न दादी से। प्यारी सुखराम की पत्नी होकर भी कंजरों के यहां पड़ी रहती है, शराब पीती है। निरौती ब्राह्मण से एक भेली गुड़ पाने की आशा से मांसल संबंध जोड़ लेती है। इकन्नी-दुअन्नी लेकर ठाकुरों की वासना की प्यास बुझाती है और अन्त में उनसे बदला लेने के लिए रुस्तम खां की रखैल बन जाती है। इतना सब होते हुए भी वह सुखराम की पत्नी बनी रहती है और कजरी नपुंसक निर्बल कुर्री को छोड़कर सुखराम की पत्नी बन जाती है। इन नारियों को लेखक ने सभ्यता के संसर्गजन्य दोष से मुक्त रखा है। ये तन से अशुद्ध होने पर भी मन से शुद्ध थीं। इनका जीवन लायब्रेरी की खुली हुई पुस्तक के सदृश है, उसे कोई भी पढ़ सकता है। चरित्र में कोई उलझाव नहीं, दुरा नहीं। उनकी मान्यता है कि 'नाता जोड़ना और बात है, मन की होके रहना और बात है।"[10] इस प्रकार इस असभ्य समाज में तन महत्वपूर्ण नहीं, मन महत्वपूर्ण है।

उपन्यास के दो छोर हैं एक ओर सामंती व्यवस्था और उसका उत्पीड़न दहाड़ रहा है, दूसरी और करनटों का उपेक्षित जीवन कराह रहा है। जिनकी स्त्रियाँ मानवी न होकर योनि मात्र रह गई हैं, जो ठाकुरों, ब्राह्मणों एवं पुलिस के सिपाहियों- सब को वासना की चासनी देकर तृप्त करती और स्वयं अतृप्त रहती हैं। रांगेय राघव का सम्पूर्ण जीवन मानववादी तत्वों से ओत-प्रोत था। उनकी प्रकृति की यह छाया सारे उपन्यास पर पड़ती है। इन्होंने वर्ग-संघर्ष के आर्थिक पहलू का ही उद्‌घाटन नहीं किया है, बल्कि उन परिस्थितियों की ओर भी संकेत किया है, जो वर्ग संघर्ष को जन्म देती हैं। शोषण के प्रति भयंकर आक्रोश प्रकट करते हुए भी लेखक का संवेदनशील हृदय मानव की दुर्बलताओं को सहानुभूतिक स्पर्श देता है। उसका विश्वास है कि- "शोषण का घुटन सदैव नहीं रहेगी, वह मिट जायेगी। सत्य सूर्य है। वह सदैव मेघों से घिरा नहीं रहेगा। मानवता से यह बरसात एक दिन अवश्य दूर होगी और नई शरद् में नये फूल खिलेंगे।"[11]

अन्धविश्वासों की सर्दी में सिकुड़ते हुए सभ्यता की धूप से कोसों दूर नटों का यह समाज अपढ़ और अशिक्षित है। उनके स्वर में विद्रोह नहीं, समझौता है। उनका विश्वास है कि "जमींदार हुकुम चलाता है.....वह हमारा बाप है, हम उसकी रिआया हैं। उसका काम है हमारा पेट भरना, सदा से उसके सामने सिर झुकाते ही आये हैं।"[12] इसी परिप्रेक्ष्य में सौनो अपनी बेटी प्यारी को दरोगा के पास भेजती है और कहती है कि "मरे की तबीयत आ गई है, यदि नहीं जाओगी तो वह कोड़े मार-मार तेरी और तेरे बाप की चमड़ी उधेड़ देगा।"[13] चमड़ी बचाने के लिए प्यारी को दरोगा के साथ सोना ही पड़ेगा। चोरी का इलजाम लगाकर नटों को बुरी तरह पीटना और थाने में बन्द कर देना पुलिस का जितना सहज व्यवहार था और उसे छुड़ाने के लिए उतना ही उनकी स्त्रियों का समर्पण यथार्थवादी था। पुलिस के इस अत्याचार और अनाचार से पीड़ित होकर नट सचमुच चोरी करते और उनकी औरतें शरीर का सौदा करके छुड़ा लेतीं। इस प्रकार सारे कथानक का स्वरूप जरायमपेशा नटों के समाज के नग्न विवृत स्थितियों, पेट के लिए तन का सौदा करनेवाली युवतियों और नायक सुखराम की अनुभूतियों और संकल्पित स्वप्नदृष्टियों की झीनी चादर से ढँका गया है, जिसमें शोषण, सामाजिक-अन्याय, बूर्जुआ मनोवृत्ति एवं असमानता के विरुद्ध क्रांति करने का अपरोक्ष रूप से आह्वान किया गया है। लेखक की यह विचार धारा उसकी समाजवादी चेतना और मानववादी दृष्टिकोण का प्रतीक है।

उपन्यास का नायक करनट है। जाने या अनजाने उसके अवचेतन मन में यह बात घर कर गई है कि वह ठाकुर है। इस लिए सम्पूर्ण उपन्यास में उसका यह स्वर मुखरित हुआ है। लेखक ने झूठी कुलीनता के इस स्वर का पराभव दिखाकर समाज पर एक व्यंग्य किया है। सुखराम, कजरी, प्यारी, सूसन, चन्दा, नरेश आदि से अपने को ठाकुर ही बताता है। यथार्थ की शिला पर उसका परिवेश जन्य वैषम्य उसकी इच्छा शक्ति को धाराशाही कर देता है। फिर भी अधूरा किला उसके मन में सदैव मंडराता रहता है। उसकी यह इच्छाशक्ति चन्दा के मन में हूबहू उतर जाती है और ठाकुर होने की इस बलवती स्पृहा के झोंक में पहले चन्दा पागल होती है फिर सुखराम के हाथों उसे अपना प्राण खोना पड़ता है। यहीं पर सुखराम के मन में बना हुआ अधूरा किला धराशाही हो जाता है और लेखक की यह मान्यता प्रबल हो जाती है कि मनुष्य जन्म से नहीं कर्म से बड़ा होता है।

2.4. धरती मेरा घर - रांगेय राघव

'धरती मेरा घर' रांगेय राघव द्वारा लिखा गया महत्वपूर्ण आदिवासी उपन्यास है। लेखक ने वैर नामक गाँव और उसके परिवेश में रहने वाले लोहपीटों को उपन्यास का आधार बनाया है। इनका अत्यन्त प्रतिष्टित आदिवासी उपन्यास 'कब तक पुकारूं' का कथानक भी इसी अंचल पर आधारित है। अन्तर केवल इतना है कि 'कब तक पुकारूं' में नटों के जीवन को लेकर उपन्यास की रचना की गई है और इस उपन्यास में लोहपीटों के जीवन को लेकर। दोनों जातियां खानाबदोश, उपेक्षित एवं शोषित है। भारत की स्वाधीनता के बाद साहित्यकार की दृष्टि का इन पर पड़ना स्वाभाविक ही कहा जा सकता है। रांगेय राघव ने एक सामाजशास्त्री के नाते इन लोगों के जीवन का न केवल सूक्ष्म निरूपण किया है, बल्कि एक उपन्यासकार के नाते इनसे आत्मीय संबन्ध भी स्थापित किया है।

लेखक ने देश के एक छोटे-से अंचल को लेकर अपनी अद्भुत लेखनी से उसके गौरव को बढ़ा दिया है। वैर गाँव का परिचय देते हुए उन्हों ने लिखा है- "बड़ा गाँव था। चारों ओर कच्चा गढ़ था। घुसते ही किला दीखता था। बगल में नहर थी।... कभी-कभार अंग्रेज दीवान आता था, इस लिए डाकबंगले की रौनक देखने लायक थी। सामने बाग लगा हुआ था। पीछे हनुमान जी के पुराने मंदिर के पास कनेर बगहरा के पौधे थे, जो विशाल बरगद के नीचे मोरों को जगह देते थे। नौलक्की भी काफी घना था।"[14] स्वतंत्रता के पूर्व यहां के निवासियों की विशेषताओं का वर्णन करते हुए उपन्यास के पात्र प्रो. शर्मा कहते हैं-" स्त्रियाँ अपने बालों को सिर पर उलटे जूड़े के रूप में बांधे थीं। मुझे लगा जैसे हड़प्पा-मोहन-जो-दाड़ो कालीन कोई पुरानी सज्जा थी। यूरोप की दौड़ और गांव की गतिहीनता कैसी थी। और एक ही समय दोनों मौजूद हैं। यहाँ शिक्षा नहीं, न उसकी कोई आवश्यकता है। मजबूरी, गरीबी, पैसा होने पर उसका प्रयोग न जानना, ऐसी ही कितनी बातें हैं जो इनके जीवन में समा गयी हैं।"[15]

एक अंचल के साथ ही साथ लेखक ने एक विशेष काल को ही चर्चा का विषय बनाया है और वह है सन् 1935 से लेकर 1960 तक। इस काल के भीतर होने वाले सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक जागरण की गतिविधियों को इस उपन्यास में दिखाया गया है। इस उपन्यास में लगभग पचीस वर्षो में निरन्तर बदलते हुए एक गांव की आत्मा की गाथा है। यह गांव सर्वथा विशिष्ट होकर भी केवल भरतपुर का नहीं, अपितु भारत का

प्रत्येक गाँव है जो भौतिकता के विकास की ठोकर से जगकर अंगड़ाई ले रहा है। सन् 1935 के वैर गांव में प्रो. शर्मा के रेवत से पूछने पर "क्या चाय यहां नहीं मिलती"[16] वह तुरन्त ही कहने लगा- "नहीं हुजूर यह गांव ठहरा।" किन्तु सन् 1952 में प्रो. शर्मा के वैर गांव आने पर रेवत ने कहा- "चाय लाऊं हुजूर। 'चाय' मैने कहा। मास्टर सहाब ने कहा- 'अब यह वैर वही वैर नहीं है, प्रफेसर साहब' वह हंसा और कहा- 'चाहे जितनी चाय लीजिए। अब तो देहात के लोग भी चाय पीते हैं।"[17]

इस उपन्यास में लेखक ने अनेक समस्याओं को उभारा है और उनके दुष्परिणामों की ओर संकेत किया है। गांव की सबसे विकट समस्या जाति वाद की है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे गांव की आत्मा जातीय आधार पर विभक्त है, खण्डित है। जातियों के आधार पर बने ये गुट सदैव एक-दूसरे को नीचा दिखाने और अपने अधिकार-क्षेत्र तथा शक्ति को बढ़ाने का प्रयत्न करते रहते हैं। उनका दृष्टिकोण सीमित और घृणित है। व्यापक दृष्टिकोण का पूर्ण अभाव भारतीय ग्रामीण-समाज की सबसे बड़ी विडम्बना है। जातिवाद को आज की प्रजा तांत्रिक दलबन्दी से अत्यन्त प्रोत्साहन मिला है। स्वतंत्रता के पूर्व जिस जाति-भेद का विरोध होता था, स्वतंत्रता के पश्चात उसे पुनः प्रोत्साहन मिलने लगा। जातियों के आधार पर ही आज चुनावों के परिणामों को आंका जाता है।

जातिवाद के अनन्तर लेखक ने नेताओं के नैतिक पतन एवं राजनीतिक अशान्ति की भी चर्चा की है। भारतीय शासकों की शोषण वृत्ति अंग्रेजों से भी घातक एवं घिनौनी हो गई है। जनता आज भी पहले ही जैसे चूसी जा रही है।

प्रस्तुत उपन्यास में लोहपीटों के जीवन पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। अपनी जाती की गतिविधियों को व्यक्त करती हुई लाली ने अपने पुत्र कृष्ण प्रसाद से कहा- "हम घर में नहीं रहते, हम जमीन नहीं जोतते, हम टिक कर नहीं रह सकते। गाड़ी हमारा घर है, गाड़ी हमारा संसार है। हम लोहे में साल (छेद) नहीं करते। हम रस्सी से कुएँ में से पानी नहीं निकालते।"[18] 'कबतक पुकारूं' के नायक सुखराम की ही भाँति मोती भी अपने को ठाकुर की संतान मानता है। उसमें स्वाभिमान की भावना कूट-कूट कर भरी हुई है। जमींदार साहब के द्वारा पुलिस को दमकी दिये जाने पर वह कहने लगा- "तो क्या कर लोगे हम भी ठाकुर हैं। चोरी का माल नहीं टिकता बाबूजी। सँभल कर बोलो। दो सौ गाड़ियाँ खड़ी हैं। एक इशारा कर दूँ तो अभी सारी पुलिस धरी

रह जायेगी। हम गाँव-गाँव डोलते हैं।... तुम्हारी तरह हम लोग डोंगी नहीं हैं।"[19] लोहपीटों की जाती स्वतंत्रता के लिए कटिबद्ध होकर यत्र-तत्र भ्रमण कर रही है। उनके विषय में कृष्ण प्रसाद ने मास्टर साहब से कहा- "आप सोच सकते हैं कि पत्तल बिछाकर राणाप्रताप खाना खाते थे। वे घास पर सोते थे। किसलिए स्वतंत्रता के लिए। कौन जाने लोहपीटे उसी मेवाड़ के राजपूत हैं। यह स्वतंत्रता के लिए भटकी हुई वीरों की एक टोली है।"[20] किन्तु राजनीतिक स्वतंत्रता के मिल जाने के पश्चात् भी वे क्यों भटक रहे हैं बात समझ में नहीं आती। संभवतः भटकना उनके जीवन का पर्याय बन गया है।

2.5. वन के मन में - योगेन्द्रनाथ सिन्हा

'वन के मन में' उपन्यास 1962 में आत्माराम अण्ड सन्स, दिल्ली से प्रकाशित हुआ था। उपन्यास के केन्द्र में सिंहभूम के सघन वनों में निवास करने वाली 'हो' आदिवासियों के जीवन का चित्रण है। यह उपन्यास पूरी तरह 'हो' आदिवासियों के सांस्कृतिक पक्ष को उजागर करता है। उनके रीति-रिवाज, खान-पान, पहनाव, धार्मिक कर्म-काण्ड, गीत-संगीत, शगुन-अपशगुन, विवाह प्रथा आदि का वर्णन किया गया है।

'हो' आदिवासी सिंहभूम के जंगलों में सबाई घास काटते हैं। यह सबाई घास इन जंगलों में प्राकृतिक रूप में पाई जाती है। ठेकेदार इन जंगलों को ठेके पर ले लेते हैं तथा मजदूरों को दिहाड़ी पर लगाकर घास को कटवाते हैं, सुखाते हैं तथा गांठें बनाकर कागज के कारखानों में भेजते हैं। सबाई घास की एक विशेषता यह है कि यह रोपी हुई न होने के कारण सभी जगह एक समान नहीं पाई जाती, कहीं अधिक मात्रा में, कहीं कम, कहीं बहुत दूर तक बिल्कुल भी नहीं दिखाई पड़ती। यही कारण है कि मजदूर इकट्ठे काम नहीं कर सकते। जंगल में बहुत छोटी-छोटी टोलियों में बिखर जाते हैं।

उपन्यास के आरम्भ में दिखाया गया है कि लुकना (उपन्यास का प्रमुख पुरुष पात्र) मेंजो (प्रमुख नारी पात्र) 'हो' आदिवासी मजदूर सिंहभूम के इन्ही जंगलों में सबाई घास की कटाई कर रहे हैं। यही इनके जीविकोपार्जन का मुख्य साधन है। उन्होंने वहीं पास में अपना डेरा डाला हुआ है। एक कैम्प में लकड़ी-पत्तों की दस बारह झोपड़ियां हैं जिनमें ये काम से थककर रात्रि-विश्राम करते हैं।

लुकना और मेंजों दोनों में प्रेम हो जाता है, मेंजो एक गाँव के मुखिया की बेटी है और लुकना साधरण

सा एक आदिवासी का बेटा जिसके पास कोई संपत्ति भी नहीं है। आदिवासियों में वधूमूल्य लेने की प्रथा है, इस कारण लुकना का पिता चिंतित रहता है कि यदि वे अधिक पेनी मांगेंगे तो कहाँ से लाकर देंगे। आदिवासियों में विवाह पद्धति अनेक प्रकार के होते हैं। जिनमें से एक है सह पलायन, इस प्रथा में लड़का, लड़की अवसर पाकर भाग जाते हैं। कुछ दिनों के बाद घर आते हैं। घर वालों को उनका विवाह कराना पड़ता है। लुकना के पास यह विकल्प होने पर भी वह ऐसा नहीं करता, वह दिन-रात एक करके मेहनत करके 'फेनी' का पैसे इकट्टा करता है।

इस उपन्यास में ऐसा कोई स्थल नहीं है जहाँ तंत्र द्वारा आदिवासियों पर ज़ुल्म किये जाने के स्पष्ट संकेत मिलते हों। सम्भवतः इसका कारण यह रहा हो कि उपन्यास की मुख्य समस्या 'हो' आदिवासी समाज में 'फेनी' (वधूमूल्य) 'सोनों' जैसी कुप्रथा का वर्णन करना रहा है। इस लिए आगे चलकर उपन्यास का केन्द्रबिंदु प्रमुख पात्र लुकना और मेंजों बन जाते हैं। अनेक कष्ट और तकलीफों को सह कर यह आदिवासी पात्र लुकना 'फेनी' देने के लिए निश्चित राशी जुटा पाने में समर्थ हो जाता है तथा अपने प्यार पर विजय पा लेता है।

2.6. कगार की आग - हिमांशुजोशी

'कगार की आग' उपन्यास 1976 में भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली से प्रकाशित हुआ था। इसमें समाज द्वारा उपेक्षित, तिरस्कृत लोहार आदिवासी की एक साधारण सी कहानी है। गाँव का नाम कुछ भी हो सकता है। किसी भी नाम से पात्रों को सम्बोधित करें कोई फर्क नहीं पडता। घास-फूस के टूटे, कच्चे घर, आकाश की झीनी छत, धरती पर कच्ची मिट्टी की मैली चादर। दो जून रूखी-सूखी मिल पाना भी मुश्किल। मर-मरकर जीने वालों की यह व्यथा-कथा आज कहीं का युग सत्य भी है। बर्फीले पर्वतीय क्षेत्र की इस कथा में एक अंचल विशेष की धरती की धड़कन है, एक जीता-जागता एहसास भी। गोमती, पिरमा, कुन्नू के माध्यम से स्वतंत्र मानव समाज के कई चित्र उजागर हुए हैं। इस लिए कुछ लोगों की कहानी कहीं कुछ लोगों की कहानी बन गई है। देश-काल की परिधि से परे पहाड़ी जन जीवन का बड़ा सशक्त सजीव चित्रण इसमें हुआ है।

'कगार की आग' में अल्मोड़ा के पर्वतीय अंचल में लद्यौन गाँव की व्यथा-कथा चित्रित की गई है। लोहारों-शिल्पकारों का यह गाँव हिन्दुस्तान का कोई भी गाँव हो सकता है जहाँ स्वतंत्रता के इकतीस वर्ष बाद भी सामन्ती व्यवस्था का दमन चक्र बराबर है। दबे-पिछड़े वर्गों के उत्थान के बाद भी सामन्ती-व्यवस्था का

दमन चक्र बरकरार है। दबे-पिछड़े वर्गों के उत्थान के कागजी अभियान की आड़ में अभी भी इनका शोषण हो रहा है। सिपाही, पटवारी, पेशकार की मिली-जुली साजिश से यहाँ के निर्धन एवं निरीह ग्रामीणों का सताया जाना आये दिन की घटनाये हैं। गोमती, पिरमा, खिमुंका जैसे न जाने कितने लोग यहाँ यंत्रणाओं की जिंदगी जीने के लिए अभिशप्त हैं। हरकिसन प्रधान जैसे समाज के जोंक यहाँ अभी भी विद्यमान हैं जो अपने दिये हुए ऋण के एवज में बंधुआ मजदूरी द्वारा गाँव के दबे-पिछड़े वर्ग का पीढ़ी-दर-पीढ़ी शोषण करते हैं। गाँव के जंगल में चोरी-छिपे कच्ची शराब पीने का अवैध धंधा यहाँ चलता है, जिसे पुलिस भी जानती है। यहाँ कलियंका, तेजराम, तिरपनलाला जैसे असामाजिक तत्व भी हैं जो गाँव की बहू-बेटियों की इज्जत लूटने की पाशविक तलाश में निरन्तर रहते हैं। उपन्यास के आरम्भ में लेखक हिमांशु जोशी ने स्वयं स्वीकारा है कि "गाँव की कहानी है यह। गाँव का नाम कुछ भी हो सकता है। किसी भी नाम से पात्रों को सम्बोधित किया जा सकता है। क्या अंतर पड़ता है इस से यह उन अभिशप्तों की जीवन गाथा है, जो समाज द्वारा बहिष्कृत किये गये हैं, सदा के लिए तिरस्कृत।"[21]

उपन्यास में वैसे कई पात्र हैं परन्तु पूरी कथा गोमती के इर्द-गिर्द ज्यादातर घूमती है। निरीह पशु जैसा पति पिरमा तथा अबोध पुत्र कुन्नू, यही है गोमती का छोटा-सा परिवार। पिरमा, पगला पिरमा, आज के युग में जी रहे सीधे-साधे नेक आदमी का प्रतीक, जिसकी नियति ही है घोर यंत्रणाओं की जिन्दगी जीते रहना। वह इस सामंती समाज का बेहद पिटा हुआ इन्सान है। बराबर उस पर जुल्म किया जाता है, उसे सताया जाता है। फटा कम्बल ओढ़े सारी रात वह कलियंका के आलू के खेतों में पहरेदारी करता है। उस पर झूठे अभियोग लगाकर उसे मारा-पीटा, धमकाया जाता है। और मारपीट के भय से जो भी इलजाम उस पर लगाये जाते हैं, उन्हें वह सहज ही स्वीकार कर लेता है। थोड़ी-बहुत सजा भुगत कर फिर अपने गाँव लौट आता है।

परंतु प्रश्न यह है कि उसे ही क्यों सताया जाता है उसके साथ किये जा रहे अत्याचार का कोई प्रतिरोध भी नहीं करता। खिमुंका जैसे कुछ लोग प्रतिरोध करने के लिए आगे आते हैं अवश्य, परंतु उसे भी पक्षधरता के लिये प्रताड़ित किया जाता है। सच बात तो यह है कि पिरमा इस लिए पिटता है कि वह एक भलामानुस है और भलामानुस बनकर इस सामन्ती व्यवस्था में जीना तलवार की धार पर चलने के समान है। सामन्ती व्यवस्था का कुचक्र यह भी होता है कि नेक इन्सान को इस हद तक उत्पीड़ित एवं प्रताड़ित किया जाय कि वह कुन्द हो जाय जिससे उसमें प्रतिरोध करने की रही-सही क्षमता ही नष्ट हो जाय। पिरमा हमेशा पत्थर की तरह

गुमसुम बैठा रहता है। लाम पर वापस जाते समय उसका छोटा भाई देवराम उसे अपने जालिमों से निबटने के लिये हिम्मत भी बंधाता है। लेकिन एक पिटे हुए, हारे हुए इन्सान की तरह पिरमा कहता है- "लला, ऐसा ही कर पाते तो आज हमारी गत बनती...।"[22]

पिरमा एक जिन्दा लाश है। पिरमा जैसे कुन्द लोगों की इस समाज में यही नियति है। अपने पति पिरमा की तरह गोमती भी इस क्रूर सामंती व्यवस्था की अमानवीयता की शिकार है। बल्कि उसकी नियति और भी त्रासद है। उसे तो अपने पति का भी सहारा नहीं। जो पति स्वयं अपने लिए दो जून रोटियाँ नहीं जुटा सकता, जो अपनी सुरक्षा स्वयं नहीं कर सकता वह अपनी पत्नी की क्या देख-बाल कर सकता है। अपने पति के सामने ही चचिया ससुर के लातों-घूँसों से चुप-चाप वह पिटती रही और वह कुछ नहीं कर सका। इसीलिये इतनी बड़ी दुनिया में वह अपने को बिलकुल असहाय पा रही थी।

अपनी असहायवस्था के ख्याल कर कई बार आत्महत्या का विचार उसे आया। लेकिन निरीह कनुआ तथा ठूंठ-सा पिरमा का ख्याल बीच में दीवार बन जाता है। वह यह भी खूब समझती है कि उसके ककिया ससुर कलियंका उससे क्या चाहते हैं।

तेजुआ ने भी एक दिन पोखरी की दुकान में डंके की चोट कहा था- "पिरमा पागल मरे तो गोमती रांड़ को अपने घर में रख लूंगा।"[23] गोमती का रूपवती होना उसके लिए और भी अभिशाप बन गया है, क्योंकि वह गरीब है और असहाय भी। वह अपने को कोसती है।

इसीलिये तंग आकर कभी-कभी वह सोचती है कि वह जड़ ही साफ कर दे। नोच-नोच कर अपना चेहरा कुरूप कर ले। देवदार के छिलके से झुलस ले। लेकिन इतना होते हुए भी गोमती बेजान नहीं है। अत्याचार, अन्याय के खिलाफ जूझने की शक्ति उसमें शेष है। यहीं पर उसकी मनःस्थिति अपने पति से अलग हो जाती है। अपने निकम्मे पति के बारे में वह सोचती है कि- "ऐसे हुमने जैसे मुरदा पति के साथ सारी जिन्दगी कैसे काटेगी उसके सामने ही तेजुआ रोज बलत्कार करता रहेगा...।"[24] परिणाम स्वरूप अपनी सुरक्षा के लिए अपना रास्ता वह स्वयं तय करती है। सच बात तो यह है कि वह उपने पति की तरह जिन्दा लाश नहीं बनना चाहती। अतः अपनी सुरक्षा के लिए वह नरसिंग डाँडा के लोहार खुशालराम के यहाँ बैठ जाती है। लेकिन खुशालराम भी वही निकला, उसके जिस्म के साथ सौदा करने वाला। वहाँ भी उसे सुख-चैन नहीं मिला

तो भागकर वह लाला तिरपनलाल के फार्म में नौकरी करने लगती है। लेकिन तिरपनलाल की भी अपने प्रति भूखी गिद्ध-दृष्टि देखकर वह सहम जाती है। लेकिन इन तमाम विपरीत परिस्थितियों के बावजूद उसका मन अपने परमहंस पिरमा तथा बेटे कुन्नू पर लगा रहता है। खुशालराम के यहाँ जब वह थी तो वह दुरली द्वारा पिरमा के लिए खुशाल की फटी कमीज भिजवायी, यह सोचकर कि इतनी भयंकर सर्दी में क्या पहनता होता। कुन्नू के लिए भी कुछ दाने, भुने हुए चुड़वे को छोटी-सी थैली में सिलकर भेजना नहीं भूली। खुशालराम के यहाँ दूध का भरा गिलास देखती तो कुन्नू की याद आ जाती।

तात्पर्य यह है कि गोमती दो वक्त रोटी के लिए मोहताज है लेकिन पथभ्रष्ट नहीं। अपनी प्रतिकूल परिस्थितियों से जूझने की उसमें शक्ति भी है। यही उसके चरित्र को और उज्ज्वल बनाता है। इसलिए गोमती अपनी अस्मिता की रक्षा के लिए संघर्षरत आज के नारी का सहज प्रतीक भी है। यहाँ तक कि अन्त में शोषण-अत्याचार के खिलाफ वह विद्रोह भी कर बैठती है। पिरमा की मृत्यु की खबर पाकर जली-भुनी वह कलिया के पास जाकर उसे ललकारती है- "कलिया कसाई, जिस तरह तूने कुनआ के बाप को जलाया उसी तरह तुझे भी जिन्दा ही आग में भून-भूनकर न जलाया तो मैं भी...मैं भी...मैं भी औरतजात नहीं।"[25] उपन्यासकार फिर अन्त में लिखता है बस्ती के दूर काल भैरवी-सी विकराल बनी एक माँ अपने बच्चे का हाथ थामे अंधियारे में पता नही कहां जा रही थी सुबह होने में शायद अभी कुछ समय था।

सारांशतः उपन्यासकार जहाँ एक ओर पिरमा के रूप में ऐसी जिन्दगी की तस्वीर पेश करता है जो सामन्ती व्यवस्था की मारक शक्तियों के आगे घुटने टेक देती है, वहीं गोमती के रूप में वह एक ऐसे पात्र का सृजन करता है जो उस व्यवस्था का विद्रोह करती है और उपन्यास के यथार्थ को नयी दिशा और शक्ति देती है।

2.7. वरूण के बेटे - नागार्जुन

वरूण के बेटे उपन्यास 1985 में राजकमल प्रकाशन , दिल्ली से प्रकाशित है। 'वरूण के बेटे' नाम से ही मछुआरों के जीवन से जुड़ी कथा का आभास होता है। उपन्यास मछुआरों के जीवन के उतार चढ़ाव के माध्यम से इन्सानी हक की लड़ाई की व्याख्या के रूप में सामने आता है। उन्यासकार नागार्जुन ने अपनी बात

कहने के लिए मिथिला प्रदेश के एक विशेष अंचल को चुना है, जहाँ एक विशाल जलाशय के आसपास मछुआरों के कड़े संघर्ष को उन्होंने अपनी कलम से उभारा है। मछुओं की जिन्दगी को अभिव्यक्ति देने वाला हिन्दी का प्रथम उपन्यास है। 'वरूण के बेटे' मछुओं की जिन्दगी की तमाम पर्तें बखूबी उघाड़ता है जिनसे हिन्दी का पाठक अनभिज्ञ था। किस तरह ये लोग अपनी रोजी-रोटी चलाने के लिए आपदाओं के मुंह में घुसते, किस प्रकार संघर्षों में जूझते हैं। इस संघर्षशीलता के बावजूद जीवन के अभावों से इनका पिंड नहीं छूटता। खुरखुन माँझी की स्थिति इसका उदाहरण है। दुनिया जब सोती है ये रात को गरोखर में जाल फैलाते हैं, बर्फ से जमे पानी में डुबकियां लगाते हैं। पुआल इनका बिछौना है, नंग-धड़ंग रहना इनकी नियति है। भूख से तड़पना इनकी आदत है।

मलाही-गोंढ़ियारी में मछुओं के तीस-पैंतीस परिवार थे। अधिकतर मछुए, खुरखन की हैसियत के थे। वे पास-पड़ोस के इलाके में पाँच-सात कोस तक और कभी-कभी दस-पन्द्रह कोस तक मछलियाँ पकड़ने निकल जाते थे। इधर के जितने भी पोखर थे, जितनी भी ताल-तलइयां थी, उतनी ही नदिया और झीलें थी, पानी का जहां भी जमाव-टिकाव था सारा का सारा उनका शिकारगाह था। दैनिक जीवन की लगभग आवश्यकताएँ यहीं से पूरी होती थीं। मछलियां ही नहीं, सिघाड़ा-तालमखाना, कमल और जुई के फूल, कमलगट्टे, कमलनाल, कड़हड़, कैसोर, सारूख जैसी चीजें भी पानी से वे हासिल करते थे।

"देश आजाद हुआ, मलाही-गोंढ़ियारी (मछुओं की बस्ती) में भी बदलाव आना था। राष्ट्रीय स्वाधीनता-संग्राम में भाग लेने वाले मोहन माँझी ने एक सपना संजोया था कि गढ़ पोखर का जीर्णोद्धार होगा आगे चल कर और तब मलाही-गोंढ़ियारी के ग्रामांचल मछली-पालन-व्यवसाय का आधुनिकतम केन्द्र हो जायेंगे। वैज्ञानिक प्रणाली से मछलियां पाली जायेंगी। पूस से लेकर जेठ तक प्रति वर्ष अच्छी से अच्छी मछलियां अधिक से अधिक परिमाण में हम निकाल सकेंगे। एक एक सीजन में पचास-पचास हजार रूपयों तक की आय होगी। मलाही-गोंढ़ियारी का एक एक परिवार गरोखर की बदौलत सुखी-सम्पन्न हो जायेगा। विशाल जलाशय की इन कछारों में हम किस्म-किस्म के कमलों और कुमुदिनियों की खेती करेंगे। पक्की ऊंची भिंडों पर इकतल्ला सैनिटोरियम बनेगा, फिर दूर पास के विद्यार्थी आ-आकर यहां छुट्टियां मनाया करेंगे।"[26] इतने बड़े सपनों को

पूरा होने की बात तो हवा हुई हाँ जमींदारी-उन्मूलन हुआ।

जमींदारी उन्मूलन के अन्तर्गत कुछ एक अंचल संपत्तियों के विषय में छूट दे दी। उसका परिणाम यह हुआ कि पोखरों और चारागाहों तक को वे चुपके चुपके बेचने लगे। इस बेचने के क्रम ने इन गांव वालों को आफत में डाल दिया। देपुरा के जमींदार ने सतघरा के जमींदार को गरोखर बेच दिया। जमींदार पुलिस आदि की सहायता से कब्जा लेना चहता है। यहीं से संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। सारे मछुए एक जुट हो जाते हैं।

प्राइमरी स्कूल में भोला, खुनखुन, विसुनी, रंगलाल, नरायन, छीतन, नवति, कल्लर, भोकर, नथुनी, नकछेदी, वीलट, भइयन, टुन्नी, जलधर, गंगा, नंदे, वगैरह इस समस्या पर विचार करते हैं और तय करते हैं- "छोड़ा नहीं जाए। गढ़पोखर पर हमेशा अपना अधिकार रहा है। जमींदार जल कर लेता था, हम देते थे। नया खरीदार दूसरे-तीसरे गांव के मछुओं को मछलियाँ निकालने का ठेका देता चलेगा और हम पुश्तैनी अधिकारों से वंचित होकर घूमते फिरेंगे, भला यह भी क्या मानने की बात है।"[27] मछुओं का यह विचार बिल्कुल ठीक है क्यों कि इस पानी पर सदा से उनका अधिकार रहा है। यह गरोखर का पानी खाली पानी नहीं अपितु उनके शरीर का लहू है और जिन्दगी का निचोड़ है। रोजी-रोटी का एक मात्र सहारा यह पानी ही है।

मलाही गाँव के इन मछुओं को अपने अधिकारों के प्रति जागरूक एवं सचेत करने का श्रेय मोगन मांझी को है। उसने किसान प्रतिनिधियों का वार्षिक सम्मेलन बुलाया। पचास गाँव के किसान और खेतिहार मजदूरों ने उसमें भाग लिया। उसमें तकावी-वसूली को पाँच साल के लिए स्थगित करने की मांग की गई तथा दूसरे प्रस्ताव में गढ़पोखर के तथाकथित मालिकों को और भावी सतघरा के जमींदारों को अगाह करते हुए कहा गया है कि- "वे युग की आवाज की अनसुनी न करें। मलाही-गोंढ़ियारी के मछुओं को गरोखर से मछिलियां निकालने के पुश्तैनी हकों से वंचित करने की उनकी कोई भी साजिश कामियाब नहीं होगी। रोजी-रोटी के अपने साधनों की रक्षा के लिए संघर्ष करने वाले मछुए असहाय नहीं हैं, उन्हें आम किसानों और खेत- मजदूरों का सक्रिय समर्थन प्राप्त होगा।"[28]

इस प्रकार उपन्यासकार अपने अधिकारों को पुनः प्राप्त करने के लिए किये गये संघर्ष के साथ-साथ उनके अनोखे जीवन का यथार्थ चित्रण किया है। बाह्य परिवेश और आन्तरिक अनुभूतियों की छोटी सी छोटी

बात भी लेखक ने पकड़ी है। आडम्बरहीन और सहज चित्रण इस उपन्यास में पाया गया है। मछुआरों की जीवन यपन करने की पद्धति उनकी आन्तरिक अनुभूतियों, उनके हर्ष विशाद एवं नित्य-प्रति होने वाली घटनाएँ , उनकी धरती व परिवेश से सम्बद्ध समस्याएँ आपसी नोक-झोंक, झगडे-फसाद इत्यादि अपने सही रूप में व्यक्त हुए हैं। कुल मिलाकर 'वरूण के बेटे' उपन्यास में मछुआरों की जीवन संघर्ष के अतिरिक्त उनकी संस्कृति को उजागर करने वाले वे सभी तत्व हैं जिनमें चित्रात्मक पद्धति द्वारा पात्रों को प्रस्तुत किया गया है। उनके हाव-भाव, उनके हँसी-मजाक के वे क्षण जिसे लेखक ने बड़ी बारीकी से उजागर किया है। मछुआरों को जीवन की समग्रता को बनाये रखने के लिए उन्होंने आँचलिक भाषा का प्रयोग किया है, खान-पान, आस्थाएँ, रीति-रिवाज सभी अंचल से लिए गये हैं। 'वरूण के बेटे' साधारण लोगों के अति साधारण जीवन की एक असाधरण कथा है।

2.8. गाथा भोगनपुरी - किशोर कुमार सिन्हा

किशोर कुमार सिन्हा का पहला उपन्यास है 'गाथा भोगनपुरी' जिसका प्रकाशन 1986 में वाणी प्रकाशन, दिल्ली द्वारा हुआ। इसमें उत्तर प्रदेश के बुन्देलखण्ड से संबंधित एक कोल आदिवासी बंधुआ मजदूर की कहानी है। यह उपन्यास हिन्दी उपन्यास साहित्य में काफी प्रशंसित हुआ है।

उपन्यास के केन्द्र में आदिवासी बंधुआ मजदूर बँगडू की कहानी है। साहूकार से अपने बाप-दादा द्वारा ली गई, कर्ज चुकाने के लिए बचपन से काम कर रहा है। उसकी पत्नी रमई भी उसी घर में काम कर रही है। उसे खुद को ही पता नहीं है कि वह साहूकार के यहाँ ही क्यों काम करता है। वह यह मानता है कि उसके बाप-दादा ने इसी साहूकार के बाप, दादाओं के पास काम किये थे, और उसे भी वही करना है। खुद को ही पता नहीं है कि वह बंधुआ मजदूर है। बंधुआ मजदूरी को हटाने तथा उनके पुनर्वास के संदर्भ में बनाई गयी योजनाओं के असफल होने का चित्रण है।

'गाथा भोगनपुरी' जिसे लघु उपन्यास, लम्बी कहानी, रिपोर्ताज या विस्तृत रपट कह सकते हैं। कहने को तो यह लेखक का पहला उपन्यास है लेकिन इसकी सामाजिक और राजनैतिक अन्तर्दृष्टियाँ उसके निजी और गहरे व्यक्तिगत अनुभवों की गवाही देती हैं। इसमें एक ऐसे युवा प्रशासनिक अधिकारी की कथा है जो अपने आसपास के मजदूरों और आदिवासियों को अन्याय से पिसते, शोषित होते देखता है और उनका पक्ष लेने की

जोखिम-भरी भूल कर बैठता है। उपन्यास जिस चरमोत्कर्ष पर आकर समाप्त होता है उसमें हताशा या कुण्ठा नहीं है बल्कि हमारे समय की त्रासद सच्चाई के का एहसास है। इस कृति की सबसे बड़ी शक्ति यह है कि यह भावुकता, दया, करुणा की बैसाखियों का सहारा नहीं लेती। यह वास्तविकता का बयान बड़ी ठेठ भाषा में करती है। इसे एक अफसर की प्रतिवेदन के रूप में भी पढ़ा जा सकता है। 'गाथा भोगनपुरी' हिन्दी उपन्यासों की तुलना में छोटा उपन्यास है किन्तु इसमें पहली बार हमारे समाज में फैली सामाजिक अवस्था और राजनीति को अन्तर्दृष्टि के स्तर से देखा गया है। यह उपन्यास उत्तर प्रदेश के बुन्देलखण्ड से सम्बन्धित आदिवासी बंधुआ मजदूरों तथा उनके प्रति सहानुभूति प्रकटकर उनका पक्ष लेने वाले एक युवा प्रशासनिक की भी कहानी है जिसका अंग्रेजी में भी अनुवाद हुआ है।

2.9. गगन घटा घहरानी - मनमोहन पाठक

'गनन घटा घहरानी' 1991 प्रकाशन संस्थान, दिल्ली से प्रकाशित है। उपन्यास के केन्द्र में झारखण्ड के पलामू क्षेत्र के उराँव आदिवासी समाज का चित्रण है। इस उपन्यास में मुख्यरूप से बंधुआ मजदूरी की समस्या पर विचार किया गया है। सहज और सपाट लगने वाली ऊपरी घटनाओं के अंत में प्रवाहित मानवीय संवेदना तथा प्रतिरोध की निर्णायक एवं वैकल्पिक चेतना का एक ऐसा उपन्यास है, जिसमें लोकतत्व कथानक का बाह्य उपादान मात्र नहीं है, उसकी आत्मा की धड़कन भी है। ऐसी धड़कन, जिसमें कथानक का सच, परिवेश का सच होने के साथ-साथ देशव्यापी सच भी होता है और पूरे देशकाल में गूंजता है। लोकतत्व का यह बाह्य और आंतरिक संयोग उपन्यास के कथानक में बड़ी बारीकी से हुआ है। इससे कथानक के पारदर्शी होने में मदद मिली है, जिससे यह एक विशिष्ट कृति बन गयी है।

उपन्यास के कथानक की शुरूआत होती है एक लोक कर्म से, जिसे लोक विश्वास और लोक-संस्कृति पल्लवित करती है। बरसात का मौसम और धान की रोपनी। दिन भर की धनरोपनी से छुटकारा मिलने पर सांझ समय अपने-अपने घरों को लौट रही बनिहार तरुणियों द्वारा लोक गीत की टेर छेड़ना और उस टेर से अंधेरे में पहाड़ी रास्ते की थाह नापती पीछे-पीछे आ रही बनिहार माँ-बहनों द्वारा प्रत्युत्तर की टेर हांकना लोक जीवन की प्रस्तुति ही तो है, जो आज भी गंवई जीवन में हूबहू और यथावत है। भारत में साल भर की खेती-किसानी में रोपनी का समय पर्व के सामान होता है। दूसरे और पर्वों की तरह रोपनी पर्वों में भी सामंती चिंतन और पुरोहितवाद की खासी पैठ है। रोपनी का श्रीगणेश कब हो, समापन कब किया जाये आदि सब कुछ

पुरोहित और पोथी पतरे की लग्न-मुहूर्त गणना पर निर्भर करता है और लोक मान्यता ऐसी है कि पोथी-पतरे का निर्देश मानना ही है। नहीं मानने पर धान फूटेगा भी तो उसमें दाना नहीं भरेगा, और खेतिहर को भला यह कैसे गवारा होगा कि केवल दिन के फेर से उसके खेत की बालियों में दाना न भरे। उपन्यास में रोपनी का समापन भी पुरोहित जमुना पंडित के निर्देशानुसार होता है। जमुना पंडित का कहना है कि- "आज ही रोपनी खतम हो जानी चाहिए। कल रोपने से धान तो फूटेगा लेकिन धान नहीं भरेगा।"[29]

कर्ज और बंधुआगिरी सामंती भारत का सामाजिक कोढ़ रहा है। इसमें न जाने कितनी जिन्दगियां होम हुई हैं। पिछड़े समाज में यह कोढ़ आज भी बरकरार है। पलामू का परिवेश और यथार्थ, जो उपन्यास का वर्ण्य-विषय है, कर्ज और बंधुआगिरी के लिए देश भर में चर्चित रहा है, जिसमें कभी-कभार हस्ताक्षेप कर देने भर से सत्ता-संस्कति के स्वामी अग्निवेश मीडिया के पसंदीदा स्टार रहे हैं। स्वाभाविक है कि 'गगन घटा घहरानी' में इस कुरीति का विशद आख्यान है और कथारम्भ से ही यह अपने पूरे विद्रूप में चर्चित है। उपन्यास का एक प्रमुख चरित्र है जागो। वह चढ़ती जवानी में ही कर्ज के भंवरजाल में फंस जाता है। वह भी लोक मरजाद बचाने के लिए। जागो अपने ससुर के श्राद्धकर्म के वास्ते इलाके के सामन्ती जगधारी राय से अन्न और धन का कर्ज लेता है और यही उसका काल बन जाता है। वैसे कथानक के विकास में यह जागो और जगधारी राय दोनों के लिए काल साबित होता है। बहरहाल जागो का आगे का हाल उसी के मुंह से- "मालिक से दू मन गोंदली और 60 रूपया मैं लइन रहूँ। इकर बाद में जे हो गइल कि नीं, सकलो दइलो। दू मन का तीन साल में बारह मन लौटाया। तबो से कटिये नइखे, बाकिए है। और मांग करते ग्यारह मन तुम और देओ। ... ग्यारह मन अनाज नहीं दिया सो चलो सेवकिया। सो चल गइली।"[30]

लुपुंगा और खजुरी को देखने से कुछ खास नहीं दिखाई देता, जिनके आधार पर मानवीय संवेदना की कोई सार्थक पहचान बनती है। गांव है और गरीबी है तो गरीबी और शोषण की घटनाएँ होंगी ही। राय बाहादुर जगधारी राय के कर्ज और शोषण का चक्रव्यूह इतना विकट और अकाट्य है कि उसमें फंसकर लुपुंगा और खजुरी सहित अधिकांश गांवों के अनेक जन अपना सर्वस्व गवां बैठते हैं। बंधुआ बन जाते हैं। टूना पहान बोलता है- "सोनाहातु में जहां हाट लगती है वहां जंगल का विस्तार था। यह तो उसका देखा हुआ है। उसी के

पूर्वजों ने जंगल काटकर खेत बनाये थे। उन खेतों में धान कभी नहीं मरता, कैसा भी अकाल क्यों न हो। जिसने भी उन खेतों को रेहन रखा सबने तो यही सोचा था कि मेहनत-मजूरी कर छुड़ा लेंगे। पर राय बहादुर के हाथ चढ़ा खेत भी कभी छूटा है। बाघ के मुह से नुचे-चिथे जीतन के बाप को सब छुड़ा लाये थे। आकर पंद्रह बरस जीया था बुढ़वा। पर राय बहादुर के मुंह लगा खेत या आदमी कोई नहीं छूटा।"[31] किन्तु इससे उन आदिवासियों के जीवन की गति और लय में कोई फर्क नहीं पड़ता। परन्तु जागो सेवकिया को जब उसके घर से खींच लाया जाता है और गढ़ी में उसके हाथ बांधकर चीते के अहाते में फेंक दिया जाता है, तो तूफान खड़ा हो जाता है। लुपुंगा और खजुरी की हवा जैसे बहने से इंकार कर देती है और ग्राम प्रधान टूना पहान की डुगडुगी के स्वर मिलाकर दिगदिगंत को आलोड़ित करने लगती है। फिर सदियों के शोषित, दलित जब अंगडाई ले उठते हैं तो रायबहादुर की गढ़ी की दीवार ध्वस्त करके जागो के साथ-साथ जुल्म और धौंस के लिए कैद कर रखे गये चीते को भी मुक्त करा लेते हैं। उपन्यास के कथानक में यह घटना उरांओं के बहाने जन-गण की अजेय शक्ति तथा क्रांतिकारी चेतना की मिसाल बन जाती है। और यही वह स्थल है, जहां पहुंचकर कथानक पारदर्शी और अनेकार्थी बन जाता है। जाहिर है कि उपन्यास अपनी परिणति तक पहुंचते-पहुंचते मनुष्य की विराट मुक्ति-गाथा कई स्तरों और कई रूपों में घटित होती है। स्थूल रूप में कथा जागो और वन्य पशु चीते की मुक्ति में ध्वनित है। टूना पहान का सोनाराम से सवालों के आगे निरूत्तर होना वस्तुतः जड़ परंपराओं तथा पाप-पुण्य की रूढ़ मान्यताओं से मुक्ति ही तो है। इसी तरह पैरूगुनी का सोनाराम में देवड़ा के दर्शन करना तथा उसका अनुगामी बन जाना टोना-टोटका, गंवई निरीहता तथा भाग्यवाद से मुक्ति है और इन मुक्ति प्रयासों की समन्वित तथा संगठित परिणति राय बहादुर की साजिश से अपनी ही जमीन से बेदखल लोगों द्वारा पुनः दखल जमाने तथा डंके की चोट पर फसल काट लेने में होती है। इस प्रकार यह उपन्यास नये भूमि-संबंधों और शोषितों, दलितों में पनप रही अधिकार भावना तथा परिवर्तनकामी चेतना का उपन्यास बन जाता है।

2.10. जंगल के फूल - राजेन्द्र अवस्थी

'जंगल के फूल' उपन्यास के केन्द्र में है छत्तीसगढ़ राज्य के, जिला बस्तर में निवास करने वाले मड़िया / मुड़िया गोंड नामक आदिवासी। इस क्षेत्र में आज भी नगरी सभ्यता का प्रकाश नही पहुँचा है। वहाँ से सौ

मील दूर तक कोई रेल मार्ग नहीं है। जहाँ आज भी युवक-युवतियों के मनोविनोद और जिज्ञासा के केन्द्र घोटुल होते हैं। 'जंगल के फूल' इसी अछूते क्षेत्र की एक अन्यतम, सशक्त कथा कृति है। बस्तर के जनजीवन पर अवस्थी जी का यह दूसरा उपन्यास है। सघन वनों, घाटियों, और नदी-नालों से भरी यहां की हरी-भरी धरती के 75 प्रतिशत से भी अधिक निवासी आदिवासी हैं। उनके अपने रीति-रिवाज हैं, अपनी संस्कृति है, अपनी मान्यताएँ हैं।

बस्तर पहले एक स्वतंत्र रियासत थी। इसका इतिहास बहुत पुराना है। कहा जाता है कि ग्यारहवीं सदी में मुसलमानों के आक्रमणों से त्रस्त होकर एक नागवंशी राज परिवार भागकर यहां आया था और बारसूर में अपनी राजधानी स्थपित की थी। बाद में राजधानी बस्तर चली गई और फिर वहां से जगदलपूर।

बस्तर का इतिहास बहुत लम्बा है। यह मान लेना पर्याप्त है कि अंग्रेजों ने आगे चलकर इसे अपनी सत्ता का एक अंग बना लिया था। तब भी गद्दीपर उत्तराधिकार राजवंश का ही था। राज्य में बदलाव होते रहे, परन्तु बस्तर राज्य की प्रजा को कुछ भी पता न चला। ये सीदे-सादे, भोले-भाले लोग राजा के प्रति वफादार बने रहे। हर दशहरा में राजा दर्शन देता था और ये उसे नज़राना भेंट करते थे। बस्तर में असल गड़बड़ी का सूत्रपात कर्नल फेगन और ग्रेयर के एडमिनिस्ट्रेटर होते ही शुरू हुआ। इन अफसरों ने शिफ्ट कल्टिवेशन बन्द करने, जंगल की कटाई रोकने, जंगल-कर लगाने आदि के लिए नये कानून पास किए। परन्तु इन सब का सारा दोष बैजनाथ के सिर पडा। ये अफसर कानून बना ही पाये थे कि यहां से चले गए और पंडा बैजनाथ को दीवान नियुक्त किया गया। यह सन् 1904 की बात है, पंडा बैजनाथ पुराने ई.ए.सी. थे। उनके समय में सरकारी अफसर भी मनमानी करने लगे थे और इन सब का परिणाम था राज्यव्यापी भूमकाल या विद्रोह। बस्तर में विद्रोह कई बार हुए हैं किन्तु इतना बड़ा भारी आन्दोलन कभी नहीं हुआ था। इतिहास में इसका अपना महत्व है।

इस उपन्यास का मूल मुद्दा है विद्रोह। लेखक ने इस उपन्यास में उपलब्ध ऐतिहासिक तथ्यों के अलावा कहानी को रोचक बनाने के लिए उपन्यास में बस्तर के घोटुल जीवन, वहां की संस्कृति, वहां के निवासियों के रीति-रिवाज और उनके जीवन के समग्र चित्र को प्रस्तुत किया है। इस उपन्यास द्वारा घोटुल का पूरा परिचय मिल जाता है। उपन्यास के नायक सुलकासाय और नायिका महुआ रचनाकार के काल्पनिक पात्र हैं, और

गुण्डाधूर और डेबरीधूर जो विद्रोह के यथार्थ पात्र हैं उनके नामों को जैसे का वैसे ही उपन्यास में रखा है।

इस उपन्यास के नायक और नायिका हैं सुलकासाय और महुआ, इन दोनों की प्रणय कहानी का आधार गढ़ बंगाल का घोटुल है, और विद्रोह का पूरा संगठन घोटुल से हुआ था। सन् 1908 ईस्वी में यहाँ के भोले-भाले आदिमवासियों ने आम की डाल और लाल मिर्च भेजकर राज्यव्यापी भूमकाल व विद्रोह का संघटन किया था।

उपन्यास में जंगल का जीवन अपनी समस्त सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक विशेषताओं के साथ मूर्त हो उठा है। कथाकार ने समूचे कथानक को एक तरह से वास्तविक घटना का आधार देकर बहुत ही असरकारक एवं जीवन्त रूप में प्रस्तुत किया है। उपन्यास में कई छोटी-छोटी उपकथाएँ सामने आती हैं जैसे गोरे अफसर की कथा, झिरिया की कथा, मुँदरी की कथा, नेताना के सिरहा की बेटी भुसरी की कथा, हिरमे-सताया की कथा, हबका की कथा, अन्तागढ़ के तहसीलदार द्वारा दिये गये जमीन के पट्टों का किस्सा, गूमा-गंघी की कथा, जलिया-गुबरी के विवाह का प्रसंग, रतिया की कहानी, नेतानार की सभा का प्रसंग आदि अनेक कथाओं की भरमार है। वैसे तो इन उपकथाओं का अपना-अपना महत्व है और हमारे लिए इनके मध्य, गौण और प्रधान जैसी कोई भेदक रेखा खींच पाना एकाएक संभव नहीं है, फिर भी उपन्यास के अधिकांश भाग में महुआ और सुलकासाय की प्रेम कहानी प्रमुख बनी रहती है और आदि से अन्त तक हमारे मन को बाँधे रहती है। जैसा कि उपर बताया जा चुका है, उपन्यास की ज्यादातर उपकथाएँ गोंड जीवन की सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक परम्पराओं एवं उसकी आर्थिक एवं राजनीतिक समस्याओं से सम्बद्ध है और कथा का कोई-न-कोई तार उन्हें परस्पर जोड़े हुए लगता है।

उपन्यास का ग्यारहवां प्रकरण एक ऐसा प्रकरण है जहाँ से कथावस्तु नया मोड़ लेती है। नेतानार की प्रसिद्ध परगना सभा में, प्रमुख आदिवासी नेता एकत्र होकर, अपने जंगल और जमीन पर किये जा रहे अनुचित शासकीय हस्ताक्षेप तथा सरकारी पुलिस के लोगों द्वारा उनके साथ किये जा रहे दुर्व्यवहार के प्रति, हल्के स्वर में विद्रोह प्रकट करते हैं। इसी सभा में गुण्डाधूर द्वारा अंग्रेजों को भगाने की योजना का संकेत देकर, एक दूसरी महत्वपूर्ण बात की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया जाता है। इस सभा की समाप्ति के बाद समूचे अंचल को एक नई दिशा प्राप्त होती है। उसका एक बदला हुआ रूप हमें इसके बाद देखने को मिलता है। अतः यदि हम

चाहें तो सुविधा कि दृष्टि से नेतानार की सभा को केन्द्र में रखकर कथानक को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। इसके अनुसार पहला भाग होगा नेतानार की सभा के पूर्व का कथानक तथा दूसरा होगा नेतानार की सभा के पश्चात् का कथानक। जहाँ तक कथानक के पहले भाग का सम्बन्ध है वह गोंड-जीवन के लोक रंग को अत्यंत ही व्यापक रूप में प्रस्तुत करता है। कथा इस भाग की बुनावट में जिन तारों का उपयोग किया है उनमें गोंड जीवन के घोटुल प्रसंग, उनकी मान्यताएं, परम्पराएं एवं उनके विविध सांस्कृतिक उत्सवों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि कथा का यह भाग आँचलिक गंध से ओतप्रोत है।

कथानक के दूसरे भाग में बस्तर का यह गोंड अपने अधिकारों के प्रति सजग एवं उनकी रक्षा के लिए संघर्ष करता पाया जाता है। यहां उसमें स्वतंत्रता और प्रगतिशील नवीन सामाजिक चेतना के दर्शन होते हैं। गुण्डाधूर, डिबरीधूर, सुलकासाय और महुआ के नेतृत्व में समूचा अंचल अपनी जड़ता तोड़कर खड़ा हो जाता है और शोषक ताकतों के खिलाफ बगावत का बिगुल बजाता दिखाई देता है। इन प्रकृति-पुत्रों के इस संघर्ष की प्रेरणा के दो स्त्रोत हैं। पहला है उनका परिवेश और दूसरा है उनके साथ किया जाने वाला सरकारी कर्मचारियों एवं गोरों का दुर्व्यवहार। अब यह आदिवासी निरा आदिवासी नहीं रह गया है कि कोई भी बाहरी शक्ति उसे भ्रमित करके अपना काम बना ले जाए। दो-दो एकड़ जमीन के पट्टे पाकर ही इन लोगों में यह संदेह जाग गया है कि जिस जंगल के हम मालिक हैं, जहाँ का चप्पा-चप्पा हमारा है, उसे बाँटने वाले गोरे लोग कौन होते हैं।

नेतानार की इस सभा में तहसीलदार और पुलिस कर्मचारियों द्वारा की जाने वाली ज्यादतियों एवं आदिवासियों के साथ उनके दुर्व्यवहार पर भी खुल कर चर्चा होती है। परगना मांझी, हिरमे, झालरसिंह आदि यहाँ अपने-अपने साथ किये गये दुर्व्यवहारों की चर्चा करते हैं। फलतः सभा में उत्तेजना फैल जाती है। उपस्थित जन-समूह में विद्रोह की चिनगारियाँ फूटने लगती हैं। यहीं इस बात के संकेत प्राप्त हो जाते हैं कि सारी जवान पीढ़ी गोरों को अपने अंचल से बाहर निकालने के लिए कटिबद्ध है।

कथा का यह भाग एकदम उत्तेजक, जीवन्त और बस्तर की इस जनजाति के शौर्य एवं संगठन-शक्ति को उजागर कर रहा है। गुण्डाधूर और सुलक ने मिलकर गाँव-गाँव में क्रांति का अलख जगा दिया। अंचल का प्रत्येक सांस्कृतिक केन्द्र घोटुल क्रांति का केन्द्र हो जाता है। इस कार्य में सुलकासाय की भूमिका बड़ी महत्वपूर्ण

रहती है। उसका कहना था कि "हमारा सारा संगठन घोटुल से ही हो सकता है। सच्चे लड़ाके सिपाही तो यहीं मिलते हैं। यही तो गाँव मौर हैं। इन्हें जगाओ, गाँव जग जायेगा।"[32] कथा के इस भाग में जागरण की चनगारियां इतनी तेज हो उठती है कि लगता है मानो कभी भी समूचा अंचल गोरों के विरुद्ध धधक उठेगा।

2.11. सूरज किरण की छाँव - राजेन्द्र अवस्थी

'सूरज किरण की छाँव' उपन्यास 1997 परमेश्वरी प्रकाशन दिल्ली से प्रकाशित है। उपन्यास के केन्द्र में बस्तर के आदिवासियों का चित्रण प्रमुख रूप से अंकित किया गया है। आदिवासी बंजारी की कथा उपन्यास में प्रमुख स्थान पाती है।

बंजारी का गाँव के गायता के लड़के के साथ अनुचित संबन्ध हो जाता है। विलियम गाँव के गायता का अकेला लड़का है, सारे गाँव में छैला बना फिरता है। इस तथ्य की ओट में चाहे जिस लड़की को छेड़ना उसका कार्य बन जाता है। विलियम बंजारी को विवाह का आश्वासन देता है किन्तु वास्तविकता तब मालूम होती है जबकि बंजारी का बाप उससे पूछता है और विलियम कहता है कि- "बंजारी तो मेरी बहिन है पटेल और मैं किस तरह उससे विवाह कर सकता हूँ"[33] न्याय के लिए पंचायत बुलाई जाती है, किन्तु विलियम अपनी सभी बातों से इन्कार कर देता है। अन्त में लोक लाज के भय से बंजारी का विवाह जोसेफ के साथ कर दिया जाता है। चर्च का पादरी बंजारी का नाम बदल देता है और मिसेज बोंजो नाम रख दिया जाता है। यह नया जीवन उसे सुखमय प्रतीत नहीं होता, सदा जोसेफ उसे शंका भरी नज़रों से देखता रहता है। एक दिन जोसेफ उसे ट्रेवलर्स होम के मैनेजर को पाँच सौ रूपये में बेचकर चला जाता है। यहाँ आकर मिसेस बेंजो मिस उषा बन जाती है। अपने इस नारकीय जीवन से उसे अन्त में घृणा हो जाती है। अपनी युक्ति से किसी प्रकार इस जीवन से मुक्ति पा जाती है और कंगला के साथ गाँव वापस आ जाती है। गाँव और गाँव वालों की सेवा कर अपने आप का मोचन करना चाहती है। गाँव आकर वह देखना चाहती है कि अब किसी बंजारी को निर्वासित होकर मिसेज बेंजो जोसफ न बनना पड़े।

बंजारी उपन्यास की प्रमुख नारी पात्र है। अन्य पात्रों में ग्रेसरी, कंगला, विलियम, पटेल, जोसेफ आदि आते हैं जो बंजारी ही की कथा को आगे बढ़ाने में अपना सहयोग प्रदान करते हैं। उपन्यास के ये पात्र एक

आदिवासी क्षेत्र विशेष से संबंधित तथा आदिवासी जीवन से जुड़े होने के कारण इसे आदिवासी उपन्यास कह सकते हैं। किन्तु कतिपय पात्र ऐसे भी हैं जिनमें नागरिक जीवन की स्पष्ट छाप दीख पड़ती है।

ग्रामीण वातावरण प्रस्तुत करने में लेखक सचेष्ट है। गाँव में फैले अंधविश्वासों के प्रति उसकी दृष्टि भी जाती है। ये अंध विश्वास भारत के ग्राम्य जीवन के प्रमुख पहलू भी बन गये हैं। लेखक कहता है कि "उल्लू के भेष में वह चुड़ैल रही है। उस उल्लू ने ढेला पानी में भिगोकर किसी टौरिया में रख दिया होगा...और अन्त में बेचारा चल बसा होगा।"[34] इस प्रकार के अंधविश्वास उपन्यास के सजीव पक्ष कहे जा सकते हैं।

उपन्यास का केन्द्रीय पक्ष बस्तर के आदिवासियों का अंकन करना ही है। वस्तुतः उपन्यास को आंचलिकता के ताने बाने से बुनने का लेखक प्रयास भी करता है। कदाचित उसका मूल ध्येय आदिवासियों का चित्रण करना ही है। इस प्रकार इस अंचल में मिशनरियों और ईसाई अस्पतालों का भी अंकन लेखक ने प्रस्तुत किया है। बस्तर के इन आदिवासियों का अंकन उपन्यास में समग्रता के साथ हुआ है। किस प्रकार से आदिवासी ईसाई बनाये जा रहे हैं इसका मार्मिक विवेचन लेखक प्रस्तुत करता है।

ग्राम्य जीवन में बसे इन आदिवासियों में लोक गीतों का प्रचुर प्रवेश है। स्थानिक रंग और लोक गीत उपन्यास को एक पूर्णता प्रदान करते हैं। लेखक का आदिवासियों के जीवन से परिचय मात्र ही रह गया है। गहरी पैठ लेखक ने नहीं की है। प्रस्तुत उपन्यास में आदिवासियों के चित्रण उनके लोक-गीत तथा स्थानिक वातावरण ने आंचलिक जीवन विधि को प्रस्तुत किया है। उपन्यास की भाषा लोक भाषा नहीं रह सकी है। यह भाषा एक प्रकार की खिचड़ी कही जा सकती है। आदिवासी बोली का उपन्यास में बहुतायात से प्रयोग हुआ है। इस प्रकार उपन्यास के कतिपय तत्वों ने सम्मिलित होकर, उसे आंचलिक उपन्यास की संज्ञा के समीप भी पहुँचा दिया है।

2.12. जहां बाँस फूलते हैं-श्रीप्रकाश मिश्र

'जहाँ बाँस पूलते हैं' उपन्यास पार्श्व पब्लिकेशन, अहमदाबाद से प्रकाशित है। उपन्यास के केन्द्र में मिजोरम के ईसाई आदिवासी विद्रोहियों की गाथ है, जो शेष भारत से पृथक अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित करना चाहते हैं। जिनका नेता लालडेंगा है। इतिहास का यह तथ्य सर्वविदित है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से भारत-

सरकार की यह नीति रही है कि पूरा देश एक सूत्र में बंधे। देश में भावनात्मक और राष्ट्रीय एकता स्थापित हो। पूर्वोत्तर भारत की समस्त जन-जातियाँ भी राष्ट्र की प्रमुख धारा से जुडें। इसके लिए जहाँ कल्याणकारी योजनाओं को प्रारम्भ किया गया, स्थानीय जनता की इच्छाओं-अभिलाषाओं की पूर्ति एवं प्रादेशिक विकास हेतु छोटे-छोटे प्रांतों का निर्माण किया गया, वहां दूसरी ओर सशस्त्र सेनाओं द्वारा पृथकतावादी शक्तियों को परास्त करने की मुहिम भी छेड़ी गई। लालडेंगा ने विदेश में रहकर विद्रोह का संचालन किया। भारत की क्षेत्रीय अखंडता तोड़ने का षडयंत्र रचनेवालों की मदद से मिजोरम को आजाद करने की लड़ाई काफी लंबी चली। आज भी उत्तर-पूर्वी भारत में भारतीयता और भारतीय परम्पराओं के विरुद्ध प्रचार जारी है, जिसका अनेक मोर्चों पर सामना किया जा रहा है। धर्म-निरपेक्षता का जीवन-मूल्य इस दिशा में सर्वाधिक सहायक हुआ है और स्थानीय जनता शेष भारत से उत्तरोत्तर जुड़ती जा रही है। वस्तुतः उत्तर-पूर्वी भारत की यह राजनीतिक व सांस्कृतिक समस्या ब्रिटिश- शासन की देन है। श्रीप्रकाश मिश्र ने ऐसे विवादास्पद विषय पर, तटस्थ व वस्तुपरक दृष्टि से प्रस्तुत उपन्यास लिखकर महत्वपूर्ण कार्य किया है। उनका यह कार्य प्रामाणिक बन पड़ा है क्योंकि उन्होंने स्वयं मिजोरम में रहकर स्थानीय लोगों के बीच घुल-मिल कर मिजोरम के हृदय और मस्तिष्क को जाना-समझा है।

लेखक ने प्राक्कथन में बताया है कि- "यह उपन्यास ऐतिहासिक नहीं है। यह उपन्यास आम पाठक को पूर्वोत्तर भारत की समस्या समझाने में काफी सामग्री देगा।"[35] मिजोरम सरकार के पूर्व सचिव स्व. सुरेन्द्रनाथ की टिप्पणी भी प्रस्तुत उपन्यास के संदर्भ में महत्वपूर्ण है- "जनजातियों और गिरिजनों का जीवन हमारे लिए अभी भी रहस्यमय है। श्रीप्रकाश मिश्र ने इस उपन्यास में लुशाइयों की समस्याओं को उनके जीवन संदर्भों के बीच से उभारकर और जन तथा सरकार दोनों के दृष्टिकोण को सामने रखकर एक बड़ी जरूरत को पूरा किया है। उन्होंने जो इसकी आन्तरिक यात्रा प्रस्तुत की है, पहचान और झांकी प्रस्तुत की है। वह हमें बेलौस सच्चाइयों से रू-ब-रू खड़ा कर देता है। वहाँ तक तथ्यपरक जीवन और दास्तान इस तरह से प्रस्तुत हुआ है कि इससे गुजरते हुए आप वहां की पहाड़ियों की ऊंचाई, कटानों का तीखापन, नदी का बहाव, आसमान की चमक, पानी का स्वाद, भूख से ऐंठते आदमी का रंग, बूटों की आवाज, शिकारी की चालाकी, पशुओं का

बर्ताव, नाचते पाँव, हवा की छुवन, धूप की गर्मी अपनी नस-नस में महसूस करेंगे।"[36]

'जहां बाँस फूलते हैं' में मिजोरम की टोपोग्रफी, वहां की नदियां, वहां की जलवायु, वहां के पशु-पक्षी, वहां के जंगल आदि का विशद व चित्रात्मक विवरण उपलब्ध है। वस्तुतः यह उपन्यास एक आदिवासी जीवन परक उपन्यास है। आदिवासी उपन्यासों का समग्र सौंदर्य उसमें समाहित है। प्रकृति ही नहीं, जन-जीवन के विभिन्न कार्य-कलाप ही नहीं, अंचल विशेष (मिजोरम) के मूल निवासियों की मानसिकता भी अपनी पूरी शिद्दत से उसमें अवतरित है। पात्रों व स्थानों के नामों से ही नहीं, शिष्टाचार एवं सामान्य वार्तालाप के संभाषणों से भी आंचलिक परिवेश स्पष्ट रंगों व रेखाओं में उभरा है। इन अंशों के हिन्दी-अनुवाद फुटनोट में दे दिए हैं। इससे उपन्यास में कहीं भी भाषा-व्यवधान उत्पन्न नहीं होता। हिन्दी पाठक को उपन्यास पढ़ने-समझने में किसी प्रकार की बाधा नहीं आती। लेखक के मिजो लुशाई लोगों की दिनचर्या, उनकी आदतें, उनके स्वभाव, उनके आचरण, उनके चिंतन, विभिन्न प्रश्नों पर उनके विचारों आदि को अविकल रूप में प्रस्तुत करने की कोशिश की है। उनका खान-पान उनकी शारीरिक स्वच्छता व गंदगी का स्वरूप, उनकी वेश-भूषा, आदि सभी यथार्थ रूप में वर्णित है। इस भू-भाग के लोगों के हृदय व मस्तिष्क पर ईसाई धर्म के प्रति अंध श्रद्धा के ही वे शिकार नहीं, उनकी मानसिकता में यह बात जैसे कूट-कूट कर भर दी गई है कि वाई और वाईरमा (गैर-ईसाई और शेष भारत) उन्हें नेस्त-नाबूद कर देने पर तुले हैं। हर मिजो जैसे आत्म-रक्षा के लिए कटिबद्ध दिखाई देता है। भारतीय इतिहास, संस्कृति, सभ्यता, राष्ट्रभाषा, आदि उनके लिए जैसे एकदम विदेशी हैं और इनसे वे कोई संबंध रखना नहीं चाहते। लुशाई जन-जाति ही नहीं, पूर्वोत्तर भारत की अन्य जनजातियों को भी एक सुनियोजित षडयंत्र के अंतर्गत इस कदर भड़काया गया है कि वे वस्तुस्थिति को जानने-समझने की क्षमता ही खो बैठे हैं। बाहरी शक्तियां उन्हें हथियार ही नहीं पहुँचाती, युद्ध के लिए भी उन्हें प्रशिक्षित करती हैं। पूरे मिजोरम में स्वदेश (भारत) के प्रति ज़बरदस्त भ्रांतियां परिव्याप्त हैं। अशिक्षा अभिशाप है किन्तु विरोध-विद्रोह और पृथकतावादी दृष्टिकोण का सर्वाधिक प्रचार शिक्षित ईसाई वर्ग द्वारा ही हो रहा है। जैसा कि और-और धर्मों में पाया जाता है। मानवता को इस धार्मिक कट्टरवाद का सामना पता नहीं कब-कब करना पड़ेगा। प्रस्तुत उपन्यास का धरातल यथार्थ होते हुए भी लुशाई लोगों के प्रति हमारी मानवीय संवेदना को जगाता है। उनसे हम अपनापन महसूस करते हैं। उनके सुख-दुःख के प्रति रागात्मक संबंध स्थापित करते हैं। यह उपन्यास की बहुत

बड़ी सफलता है।

प्रस्तुत उपन्यास ऐतिहासिक न होते हुए भी इतिहास से संबद्ध है। तमाम घटना चक्र इतिहास सम्मत हैं। उसमें कल्पना के लिए कोई स्थान नहीं। लेखक ने राजकीय पक्ष के प्रति भी पर्याप्त तटस्थता बरती है। भारत सरकार की नीतियों एवं कार्य-प्रणाली की संगतियों-असंगतियों पर स्पष्ट लिखा है। भारतीय अफसरों के व्यवहार को बनावटी होने से बचाया है। विभिन्न कोणों से 'जहाँ बाँस फूलते हैं' प्रामाणिक उपन्यास सिद्ध होता है।

प्रस्तुत उपन्यास का कोई व्यवस्थित कथानक नहीं है। उसमें किसी एक परिवार की कथा नियोजित नहीं है। वह तो एक संपूर्ण जनजाति की गाथा है। उसमें मिजो-विद्रोह का एक क्रमिक विवरण है। मिजो को शेष भारत से पृथक रखने का षडयंत्र प्रस्तुत कृति में आकार विस्तार लेता है। मिजोरम में भयंकर अकाल पड़ता है। धर्म की घुट्टी पिये हुए मिजोरम की पूरी कौम एक भटकी हुई कौम है, वह शेष भारत से पूरी तरह कटी हुई है। शेष भारत से मिजोरम के आम आदमी का संपर्क नहीं के बराबर है। उनका विद्रोह ही इस कृति के कथानक को आकार देता है। विद्रोह होता है, मिजो बागियों की पराजय होती है। शांति-वार्ता की चर्चा होती है फिर असफल रह जाती है। तमाम मिजो बागी मारे जाते हैं। बचे हुए सुदूर जंगलों में बिखर जाते हैं।

इसी प्रकार प्रस्तुत उपन्यास में कोइ प्रमुख पात्र नहीं है। न कोई नायक है- न कोई नायिका। कुछ पात्र उपन्यासों में आदि से अंत तक विद्यमान रहते हैं और अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। कृति के अविस्मरणीय पात्र जोवा और रिनपुई हैं। रिनपुई पाठकों को अभिभूत करती है। उसके असमायिक निधन से पाठक को भावात्मक आघात पहुँचता है। कामी के प्रति भी हमारी कोमल भावनायें जाग्रत होती हैं। जोरमी के साथ भी बहुत कुछ ऐसा ही है। प्रस्तुत उपन्यास के नारी पात्र भी पुरुष पात्रों के समान सजीव हैं।

रूआलखूमा उपन्यास का सर्वाधिक सशक्त व महत्वपूर्ण पात्र भले हो किंतु लेखक ने उसकी भूमिका पर वांछित प्रकाश नहीं डाला है। उसके व्यक्तित्व को प्रमाणित करने वाले दृश्यों का अभाव है। लालडेगा के संबंधों को फ्लैश-बैक पद्धति से सफलतापूर्वक उजागर किया गया है, जो पर्याप्त कलात्मक भी है। माइकल यद्यपि उपन्यास के उत्तरार्द्ध में आता है। किंतु अपनी सूज-बूझ का अच्छा परिचय देता है। राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने के लिए ऐसे ही अफसरों की उपादेयता है। सरकारी-तंत्र की शिथिलता, अफसरों-कर्मचारियों का

पारस्परिक व्यवहार, फौजी अफसरों का मिथ्याभिमान आदि पर उपन्यास ने बैलौस लिखा है।

परिप्रेक्ष्य से नहीं किंतु विषय से हटकर, प्रस्तुत कृति में बड़े ही सुंदर व मोहक प्राकृतिक दृश्यों के विवरण हैं। प्रकृति के सूक्ष्मतम उपादान बड़े ही कलात्मक परिधान में सज्जित हैं। संपूर्ण कृति के ऐसे अंशों को यदि पृथक से संजोया जाए तो मिजोरम के प्राकृतिक परिदृश्य की एक उत्तम काव्य-कृति आकार ले सकती है।

प्रदेश व परिवेश को देखते हुए जहां स्त्री-पुरुष के दैहिक संबंधों और उनकी प्रेम-क्रीड़ाओं को विस्तार से चित्रित किया जा सकता था किंतु लेखक ने ऐसा नहीं किया। वस्तुतः इसलिए प्रस्तुत उपन्यास की रचना ही नहीं हुई है। लेखक ने अपने उद्देश्य की गरिमा को सर्वत्र बनाये रखा है। 'जहां बाँस फूलते हैं' अपने अभिनव शिल्प और विशिष्ट अन्तर्वस्तु के कारण निर्विवाद रूप से हिन्दी उपन्यास-साहित्य में उल्लेखनीय है।

2.13. अल्मा कबूतरी

अल्मा कबूतरी उपन्यास 2000 में राजकमल प्रकाशन, दिल्ली से प्रकाशित है। उपन्यास के केन्द्र में खानाबदोश कबूतरा जनजाति के जीवन गाथा है। कबूतरा जनजाति खानाबदोश हैं लेकिन इसे लेकर जो परिधि बनती है उसके भीतर आज के उत्तर भारतीय जन-जीवन और राजनीति के यथार्थ का एक बड़ा हिस्सा आता है।

कहानी कदमा बाई से शुरू होती है। कबूतरा जनजाति की खूबसूरत लड़की कदमा बाई अपनी रिवाजों के अनुसार सयानी होते ही, जगलिया से ब्याह दिया जाता है। कबूतरा खानाबदोश जनजाति है जिनके गांव नहीं, डेरे होते हैं। खानाबदोशी धीरे-धीरे छूट रही है और ये लोग एक ही जगह रहने के अभ्यस्त होने लगे हैं। इनके नाम मडरोरा खुर्द की वोटर लिस्ट में भी आ गए हैं। इसी लोभ में बस्ती के मंसाराम इन लोगों के बीच आना-जाना करते हैं। उसकी नजर में इन लोगों के वोट है। उनकी बदौलत अपने प्रतिद्वंद्वी लल्लूराजा को प्रधानी के चुनाव में हराने का गणित बैठाते हैं। कबूतरा लोग मंसाराम की ही जमीन पर बसे हुए हैं उनके रहमोकरम पर, इस लिए उनके बीच इनका अपने तरीके से रौब भी है। कबूतरा लोगों के बीच जाने पर मंसाराम की नज़र कदमाबाई पर पड़ती है। खूबसूरत जवान कदमाबाई उनके दिल में बैठ जाती है। कबूतरा लोगों का मुख्य काम है चोरी करना। स्त्रियां शराब पिलाती है और धंधा करती है। थाना-पुलिस हर दम इन्हें परशान किये रहता है। पुरुष प्रायः जंगलों में भागे रहते हैं। चोरी-छिपे ही वे अपने डेरों में आते हैं। मंसाराम षडयंत्र करता है। कदमा

बाई अपने पति जंगलिया के लिए फसल भरे खेत में आती है, लेकिन मदहोशी में उसके साथ संभोग करता है मंसाराम। लगभग इसी समय जंगलिया थाने में मारा जाता है। कदमा बाई गर्भधारण करती है। वह मंसाराम से घृणा करते हुए भी अपने गर्भ से खिलवाड़ नहीं करती। मां बनती है। उसका बेटा होता है। नाम रखती है राणा। कबूतरा लोगों को विश्वास है कि राणा प्रताप उनकी ही जात-जमात के थे।

मंसाराम और कदमा बाई दो अलग दुनिया के वासी है। दोनों एक-दूसरे से मुक्त होना चाहते हैं, लेकिन नहीं होते हैं। राणा उनके बीच एक डोर की तरह है। राणा से अपने लगाव को मंसाराम छुपा नहीं पाते। नतीजतन अपने घर में बड़े बेटे जोधा से अपमानित होते रहते हैं। छोटा बेटा करण, अपने पिता और मित्र राणा का हम दर्द है।

राणा को उसकी माँ और अन्य कबूतरा लोग अपराध करने के लिए उकसाते हैं, मगर राणा को उत्साह नहीं होता, वह पढ़ना चहता है। स्कूल में प्रवेश तो किसी तरह मिल जाता है, लेकिन उसे बार-बार अपमानित होना पड़ता है अपनी जाति को लेकर। वह नल नहीं छू सकता, बच्चों के साथ हेल-मेल नहीं रख सकता। उसकी भारी मुसीबत है। इतने पर भी वह पढ़ाई नहीं छोड़ता। मंसाराम की ब्याही बीवी आनंदी उस पर अपने कुत्ते को छोड़ देती है, जब वह स्कूल से लौट रहा होता है। बुरी तरह घायल राणा स्कूल छोड़ देता है।

उसे उस रामसिंह के पास भेजा जाता है, जो कबूतरा जाति का एकमात्र पढ़ा-लिखा आदमी है और मास्टर है। रामसिंह पढ़ाई-लिखाई की बात करता है। वह उस भूरी बाई का बेटा है जो स्वप्नदर्शी थी। उसी ने रामसिंह और कबूतरा लोगों को अपना इतिहास बतलाया था। उस इतिहास को सुव्यवस्थित ढंग से रामसिंह जानते थे। जिस-तिस रूप में कदमा बाई भी जानती थी। इस इतिहास का बिरवा उसने राणा के मन में भी बो दिया था। रामसिंह के यहां आने के बाद राणा को अनुकूल माहौल मिलता है। यहीं आकर उसे अपना पूरा इतिहास भी मालूम होता है। मां का लगाया हुआ बिरवा लहलहा उठता है। राणा प्रताप, रानी पद्मिनी सब उसके इर्द-गिर्द घूमने लगते हैं। पद्मिनी की कथा को वह चाव से सुनता है और रामसिंह की बेटी अल्मा में उसे तलाशता है।

रामसिंह की मास्टरी छूट जाती है, क्योंकि लोग उसे मास्टर के रूप में नहीं, कबूतरा के रूप में ही

देखते हैं। रामसिंह अब क्या करें। उसने कोई कसर नहीं छोड़ी है, कज्जा (सभ्य) बने रहने की। थाने पर दयनीय भी बना, तय हुआ कि वेतन का आधा थाने को दो, देने लगा, लेकिन कभी-कभार देर हो जाती हजार तरह की घरेलू कठिनाइयां। कभी बीमारी, कभी बीवी का मां बनना। थानेदार नहीं मानता। चाहे जैसे दो, दो। सब कुछ छोड़कर रामसिंह थाने का दलाल बनता है और अंततः मारा जाता है।

रामसिंह की गतिविधियों को देखकर राणा अपनी मां के पास भाग आया है। मंसाराम ने बेटे से अपमानित होकर दलाली का धंधा शुरू किया है, लाइसेंस शुदा धंधा है। कदमा बाई और अन्य कबूतरा लोगों की स्थिति में सुधार होता है, क्योंकि मंसाराम उनके पूरे उत्पाद के लिए बाजार मुहय्या करा चुका है। राणा यहां आकर उदास रहता है।

अल्मा की तरफ से कथा का एक नया प्रभाग खुलता है। राणा अपने मुकाम मडोरा खुद भाग जाता है। राणा से वह प्रेम करती है। उसका पिता मारा जाता है, जिसने उसे पाला था। करवट लेती उसकी ज़िंदगी अब डाकुओं से होते, नये डाकू सूरजभान के हाथ में है, जो प्रान्त में नई राजनीति का एक मजबूत पाया है। सूरजभान पिछड़ावाद की दुहाई देता है। अपनी ही जाति के एक नौजावान धीरज यादव (जिसके दो लाख रूपये उसने नौकरी दिलाने के नाम पर ऐंठ लिए थे और इसके एवज में फिलहाल अपनी चाकिरी करा रहा है) को वह सामाजिक न्याय का इतिहास बोध कराता है। नौजवान जिसकी चाहत बस नौकरी है, और जिसके लिए उसने मां-बाप की गाढ़ी कमाई के दो लाख रूपये दिए हुए हैं।

अल्मा ऐसे सूरजभान के यहां से धीरज की मदद से भागती है। सूरजभान के कैदखाने से भागी अल्मा पहुँचती है डाकू श्रीराम के मंत्री निवास में जो अब डाकू श्रीराम की जगह श्रीराम शास्त्री मंत्री, समाज कल्याण हैं। रामसिंह की बेटी श्रीराम शास्त्री की बीवी बनकर अल्मा शास्त्री बनती है और उपन्यास के आखिर में पति की हत्या हो जाने पर बबीना विधान सभा सीट (जो मंत्री के निधन से खाली हुई थी) के लिए सत्तारूढ़ पार्टी की संभावित उम्मीदवार है।

2.14. जंगल जहाँ शुरू होता है - संजीव

'जंगल जहां शुरू होता है' उपन्यास के केन्द्र में बिहार के पश्चिमी चंपारण क्षेत्र के थारू जनजातियों के जीवन गाथा का चित्रण मिलता है। थारू जनजाति को राजस्थानी रानी से जोड़ने का प्रसंग उपन्यास में कई बार

आया है। जनजाति की इतिहास गाथाएँ, भौगोलिक सीमाओं की गहरी सूझ बूझ बौद्धिक वैज्ञानिक समझ के बलबूते संजीव जी डाकू समस्या को कई कारणों से उठाते हैं और धर्म, वर्ग, राजनीति के अंतःसंबंधों को व्यंग्य भाषा के पैने औजारों के सहारे साहसिक ढंग से उकेरते हैं।

उपन्यास का नायक कुमार उप-अधीक्षक की हैसिहत से आपरेशन ब्लैक पाइथान के तहत डाकू उन्मूलन के लिए चुना जाता है। उसे परशुराम, परेमा, नोनिया व काली जैसे डाकुओं को पकड़ना है जिन पर सैकड़ों हत्या, बलत्कार, अपहरण आदि के आरोप हैं। ये डाकू कहीं रक्षक हैं तो कहीं भक्षक, कहीं न्याय कर्ता हैं तो कहीं लुटेरे, अद्‌भुत है इनका चरित्र। कुमार इन्हें पहचानने में भटक जाता है।

कथा में एक ओर मंत्रियों और धनाढ्यों की धूर्तता भरी चालें हैं दूसरी ओर पुलिस अफसरों के हथकंडे हैं। कथा का सशक्त पात्र है काली, जो बचपन में अत्यंत शर्मीला था और स्कूल के मास्टर उसे मर्द बनने के लिए ललकारते थे। सुन्नर पाण्डे की पत्नी द्वारा किया गया अपमान, फेंकन बहू के साथ किया गया बलत्कार, पंचायत का खोखला न्याय और पुलिस अफसर झा के इशारे पर निरीह ग्रामीण की हत्या कर डाकू लखन के एनकाउंटर में मारे जाने का झूठा समाचार, सब कुछ उसकी आत्मा को झकझोर देते हैं। काली न्याय के लिए भटकता है किंतु न्याय कहां है ? वह तो तिजोरी में बंद है। राजनीति के चक्रव्हूह में बंध फँसा है, जन-मानस की पहुँच से दूर है। काली की पत्नी जोगी द्वारा भोग कर बेच दी जाती है। पाप-पुण्य की व्याख्या करने में उसके ह्दय का जंगल अधिक घना हो जाता है। वह झा जी की हत्या कर न्याय करना सीख जाता है। अब वह नामर्द नहीं रहा। सांस्कृतिक मूल्यों के खोखलेपन व पंगू होती व्यवस्था उसे डाकू काली बना देती है। रामजतन नोहिया, ददीचन मल्लाह व जोगी जैसे न जाने कितने लोग समाज में अवैध व्यापार से जुड़े हुए हैं।

उपन्यास समकालीन सफेदपोश मंत्रियों की पोल खोलता है। मंत्री दुबे जी का सिद्धांत है रंडी और गुण्डा से दोस्ती रात के अंधेरे में ही अच्छी, इस लिए बेटी की शादी में परशुराम, गोकुल और विंदा जैसे डाकुओं से उपहार ले उन्हें पनाह देता है, किन्तु कुमार जब बिन्दा और गोकुल को उन्हीं के घर में हत्या करता है तब उसे शाबाशी दे, पुरस्कृत करवाने का आश्वासन भी देते हैं। मंत्रियों के दोहरे चरित्र को उद्‌घाटित करने में उपन्यास सक्षम है। डाकुओं पर मंत्रियों का वरद हस्त है। डाकू वंशी के हत्याचार से उत्पन्न ग्रामवासियों के चीत्कार की आवाज किसी के कानों तक नहीं पहुंचती। लेखक के शब्दों में- 'पूरा इलाका चुप है, देश चुप है... कुल

मिलाकर तेरह मरे। यह बेतिया की दस लाख, बिहार की आठ करोड, और देश की सत्र करोड़ आबादी की मौत है, कोई हक नहीं होता किसी को ज़िंदा कहलाने का।"[37] उपन्यासकार दीमक लगी राजनीति व व्यवस्था के प्रति क्षोभ प्रकट करता है जिसमें तत्काल परिवर्तन अपेक्षित है।

पाण्डे जी उन पुलिस अफसरों का प्रतिनिधित्व करते हैं जो प्रमोशन के लिए नीति-अनीति किसी भी मार्ग का बेझिझक अनुसरण करते हैं। कुमार वह हताश व विक्षुब्ध पुलिस अफसर है जो बहुत कुछ करने की आकांक्षा रखने के बावजूद भी व्यवस्था के हाथों कठपुतली बन कर रह जाता है।

उपन्यास पढ़ने के बाद न डाकुओं के प्रति आक्रोश उत्पन्न होता है और न ग्रामीणों के प्रति क्षोभ ही बल्कि उस सड़ी व्यवस्था को कुचल देने का भाव जागृत होता है। जिसने सम्पूर्ण राष्ट्रा को पंगु कर दिया है। उपन्यास में ग्रामीण जीवन के सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य एवं वहाँ फैले अंध-विश्वासादि को अभिव्यक्ति मिली है। यथार्थ का चित्रण कहीं-कहीं अति यतार्थ तक जा पहुँचता है जो पाठक के हृदय में वितृष्णा उत्पन्न करता है।

2.15. काला पादरी - तेजिन्दर

तेजिन्दर का यह उपन्यास 'काला पादरी' 2005 नेशनल पब्लिकेशन्स, दिल्ली से प्रकाशित हुआ है। उपन्यास के केन्द्र में मध्य प्रदेश के जिला सरगुजा क्षेत्र के उराँव आदिवासी समूह के धर्मांतरित एक पादरी के जीवन संघर्ष का चित्रण है। उपन्यास के दो प्रमुख पात्र हैं, आदित्य और जेम्स खाखा। आदित्य बैंक कर्मचारी है और जेम्स पादरी। आदित्य का स्थानांतरण भोपाल से अंबिकापुर हुआ था। जिला का नाम सरगुजा और जिला मुख्यालय अंबिकापुर। जेम्स से आदित्य का परिचय एक रेलवे स्टेशन पर होता है, दोनों को भी वहाँ से विश्रामपुर, और फिर वहाँ से अंबिकापुर जाना था।

अंबिकापुर में आदित्य का कोई दोस्त था तो केवल जेम्स। आदित्य बैंक में काम करने के बाद अक्सर जेम्स से मिलने के लिए जाता था, दोनों के बीच उस क्षेत्र के समस्याओं, राजनीति, आदिवासियों के आर्थिक स्थिति आदि मुद्दों पर बात चलती थी। आदित्य कभी-कभी जेम्स के साथा उस क्षेत्र के दौरे पर निकल जाता था। एक बार आदित्य ने सरगुजा के आदिवासियों के देखने के बाद जेम्स से पूछा कि 'यहाँ के लोग बाहर से

आने वाले लोगों के प्रति किस तरह रिएक्ट करते हैं ?' जेम्स ने कहा "सरगुजा की दिक्कत यही है कि आज भी यहाँ के लोग बाहर से आनेवाले आदमी को देवदूत मानते है और आज भी वह उनके लिए ईश्वर का भेजा हुआ बंदा होता है।"[38] उपन्यास के आरम्भ के कुछ पन्नों के बाद यह वाक्य पड़ने पर पाठक को जेम्स द्वारा कही गई यह बात बहुत ही साधारण रूप से दी गई उत्तर के रूप में लगता है, किन्तु इस प्रकार का उत्तर जेम्स ने क्यों दिया, उपन्यास के मध्य में ही पता चलता है। जेम्स स्वयं उराँव आदिवासी का समूह का व्यक्ति है। उसके परदादा के पीढ़ी से ही अंग्रेजों ने दूध का पाउडर तथा चोकलेट देकर उन्हें धर्मांतरण कराया था। और अंग्रेज कहा करते थे कि ईशू ने तुम्हारी मदद के के लिए हमें भेजा है। ये सारी चीजें ईशू ने ही तुम्हारे लिए दिया है। यह भोले-भाले आदिवासी उनकी बातों का विश्वास कर लेते थे और धर्मांतरण होने पर अपना नाम बदलने के लिए विवश हो जाते थे। उपन्यास में हमें इस प्रकार अनेक संदर्भ मिलते हैं।

मिशनरियों द्वारा आदिवासियों का उद्धार तो हुआ, उन्होंने आदिवासियों को शिक्षा दी, हस्पताल बनवाये, रहन-सहन में बदलाव लाया, अच्चे कपड़े दिये, इन सबके बावजूद क्या उन्होंने उन्हें अपनी बराबरी का दर्जा दिया, नहीं वे हमेशा जेम्स को उनके दादा, पिता के पीढ़ी के बौंनेपन को याद दिलाते रहते थे जिससे जेम्स को बहुत दुख होता था। सारे सरगुजा जिला में अकाल के दौरान लोग भूख मे मर रह थे। जेम्स को पता था कि चर्च के पास अनाज है अगर वे चाहे तों अनाज को बूख से मर रहे लोगों में बंटवा सकते हैं। इसी प्रस्ताव को चर्च के बिशप के सामने रखने पर उनके जवाब में- यह संभव नहीं। हमें यह पता नहीं कि मरने वालों में कौन ईसाई है और कौन हिन्दू, हम केवल धर्म परिवर्तन किये लोगों में ही अनाज बाँट सकते हैं। इस प्रकार के आदेश हमें ऊपर से मिले हैं- सुनने के बाद जेम्स को चर्च की राजनीति पर गुस्सा आ जाता है। और कुछ संदर्भों में फादर होने के नाते उसे हिन्दू कट्टरवादियों का शिकार होना पड़ा। चर्च के इस राजनीति से घृणित जेम्स सोचता है- चर्च ने हमारे पिता और दादा को रोटी दी थी, काम दिया था और राजा की बेगारी से मुक्ति दिलवाई थी, इस लिए हमें अपना पूरा जीवन चर्च की सेवा में बितानी है। क्या यह एक तरह का बंधुआ विचार नहीं है। इस प्रकार उपन्यास में धर्मांतरण के बाद आदिवासियों के सामाजिक जीवन पर पड़े प्रभाव का उल्लेख मिलता है। लेखक ने जेम्स के माध्यम से धर्मांतरित आदिवासियों की स्थिति का उल्लेख किया है। साथ ही प्रत्येक आदिवासी अपनी परम्परा और इतिहास को जनने की आवश्कता बताते हुए उराँव आदिवासी के

इतिहास तथा रीति-रिवाजों और परम्पराओं का भी उपन्यास में उल्लेख किया है।

कुल मिलाकर 'काला पादरी' उपन्यास उत्तर आधुनिक काल के आदिवासियों के यथार्थ के अनजाने दुर्गम इलाके की प्रामाणिक साक्ष्य है। मध्य प्रदेश के गहन आदिवासी क्षेत्रों में घटित होती घटनाओं और जंगलों के पार सांस लेते जीवन का विवरणात्मक, संवेदनशील और सूक्ष्म आकलन है।

2.16. रेत - भगवानदास मोरवाल

'रेत' उपन्यास 2008 में राज कमल प्रकाश, दिल्ली से प्रकाशित है। इस उपन्यास के केन्द्र में अनुमानतः गुड़गाँव के आसपास का कोई गाँव, मान गुरू और माँ नलिन्या की संतान, अंग्रेजों द्वारा घोषित अपराधी बंजारा जनजाति के कंजर समाज पर केंद्रित है। कंजर यानी काननचर अर्थात जंगल में घूमने वाला। अपने लोक-विश्वसों व लोकाचारों की धुरी पर अपनी अस्मिता और अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करती हुई एक स्वतंत्र जनजाति है।

हिन्दी में अपराधी जनजातियों पर अब तक लगभग आधा दर्जन उपन्यास लिखे गये हैं। मोरवाल का यह उपन्यास अपराधी जनजाति कंजर के जीवन, समाज और संस्कृति को जिस रोचक कथा शैली में उठाता है उसे पढ़ने पर लगता है आप उपन्यास नहीं पढ़ रहे हैं, आप के सामने चलचित्र की तरह उस जनजाति के जीवन का दृष्य ही रोचकता और खिलंदड़े अंदाज में उभर नहीं रहा है बल्कि आप उस समाज की व्यथा-कथा, बिडंबना और अंतर्विरोधों के चश्मदीद गवाह भी बन रहे हैं, एक ऐसा निरीह गवाह जो अदालत में गवाही देने से डर जाता है।

उपन्यास का आरम्भ प्राकृतिक दृश्यों के बीच धूल भरे रास्ते की रेत से गुजरते गाजूकी गाँव पहुंचने से होता है। कथा के सूत्रधार नैरेटर घनश्याम 'कृष्ण' उर्फ बैद्यजी द्वारा साइकिल से गाजूकी गांव तक पहुँचने का रास्ता आसान नहीं है। उपन्यासकार ने उनके जीवन की तरह इसे कठिन बनाया है। अब गाजूकी गांव पहुँच गये बैद्य साहब। वहां बना है विशाल भवन, जिसका नाम है कमला सदन। कमला सदन इस उपन्यास में संज्ञा ही नहीं, सर्वनाम भी है और कहना चाहिए कि विशेषण भी। कमला बुआ इस उपन्यास का केन्द्रीय पात्र है, यद्यपि इसके इर्दगिर्द सुशीला, माया, रूक्मणी, वंदना और पूनम हैं तो दूसरी तरफ संतो और अनिता भाभी।

वस्तुतः कमला सदन इस उपन्यास का वह रंगमंच है जिसमें जरायमपेशा कंजर जनजाति की तीन पीढ़ियां शामिल हैं। कमला बुआ इसकी सरगना है, सबसे बुजुर्ग पीढ़ी की। उसके बाद उसकी बेटी सुशीला, माया, रूक्मणी और नई पीढ़ी की पिंकी, वंदना और पूनम। कंजरों के गांव गाजूकी में कमला सदन एक बड़ी सत्ता है जिसके इर्दगिर्द पुलिस, राजनेता और नवधनाढ्य मंडराते रहते हैं। कमला सदन में राग-रंग का व्यापार बड़ी शालीनता से चलता रहता है। कंजर समाज की संस्कृति और परम्परा की नींव सुदृढ़ है, पंचायत की शर्तें भी। कंजर समाज अपनी संस्कृति की सुरक्षा अपनी अस्मिता के लिए लड़ते हुए ही कर सकता है, उसे मालूम है। जरायम पेशा में आने के पूर्व मत्था ढकाई के कठोर नियम हैं जिसमें बड़ी रकम ली जाती है और उसके बाद ही नई लड़की पेशा कर सकती है। ऐसे पेशेवालियों को खिलावड़ी कहते हैं और उसके ग्राहकों को कज्जा। ठीक इसके विपरीत यदि परिवार में किसी लड़के की शादी हो गई तो परम्परा है कि उसे भाभी कहा जायेगा, वह पेशा नहीं करगी और एक इज्जतदार औरत की तरह रहेगी जैसे मंगल की बहू संतो है। लेकिन संतो ने विद्रोह किया क्योंकि उसके भीतर अपमान की आग नहीं, वासना की चिनगरी भी थी।

इस उपन्यास में कई अंतर्कथाएं हैं, उपकथाएं हैं। पुलिस के छापे हैं। कज्जा को पटाने के अपराध के लिए माया-सुशीला के बीच मनमुटाव है, पंचायत है। कमला सदन की राजी-खुशी, वसंत और पतझड़ की तरह है। कंजर जाति के आदि देवता हैं। मजार है, पीर है। कंजरों में विवाह का मामला टेढ़ी खीर है।

इस उपन्यास का प्रमुख पात्र है कमला बुआ जिनके चलने-फिरने का अंदाज, व्यावहारिकता, वैद्य जी से बातचीत, पुलिस संबंध और सुगंधित गुटका खाने की लत। कंजरों के समाज में यहां तक की अपने बेटियों की ग्राहक पटाने या तोड़ने के कारण हुए मनमुटाव में वे हस्ताक्षेप नहीं करतीं, चुपचाप पंचायत का फैसला मान लेती हैं। नई पीढ़ी की लड़कियों पिंकी, वंदना और पूनम में बहन होते हुए भी पेशे की प्रतिस्पर्धा है, चालाकियां हैं लेकिन सब कुछ स्वाभाविक डंग से।

उपन्यास के अन्त में रूक्मणी-मुरली प्रसंग जिसके बीच में राजनीतिक समाज सेविका सावित्री बहन है। कमला सदन के भीतर अपनी नियती बदलने की कोशिश है और रूक्मणी-मुरली प्रसंग के राजनीतिक चुनाव के द्वारा कंजर जाति के अंधकारमय भविष्य को उज्वल बनाने की महत्वाकांक्षा, जो जनजाति महिला उद्धार सभा की स्थापना के बाद विधानसभा चुनाव में रूक्मणी की जीत और राज्यमंत्री बनने की परिणति तक

पहुंचती है। लेखक ने कंजर जनजाति के समाज का रेशा-रेशा खोलते हुए नज़र आते हैं। यही कारण है कि यह उपन्यास अपनी संरचना में विशिष्ट बन सका है।

2.17. मादल का दर्द - श्याम व्यास परमार

'मादल का दर्द' उपन्यास कृषि व्यवस्था पर जीते हुए भील आदिवासी समाज के आर्थिक संघर्ष को उजागर करता है। यह कृति लेखक की पहली कृति है। स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व ब्रिटिशकाल में आदिवासी जनजीवन का वर्णन इस उपन्यास का केन्द्र बिन्दु है।

उपन्यास में धार-झाबुआ के भीलों की आर्थिक संरचना की जटिलताओं का विषद चित्रण किया गया है। अधिकतर भील फथरीले तथा पहाड़ी इलाकों में रहते हैं। जंगल-वृक्षों महुए, ताड़ आदि से प्राप्त वस्तुएं इनके जीवन निर्वाह का माध्यम है। जमीन पथरीली होने के कारण कम उपजाऊ होती है इस लिए गेहूँ की खेती कर पाना असंभव है। लेकिन फिर भी थोड़ी बहुत मक्का आदी की खेती कर लेते हैं जिसका पानिया बनाकर नमक और मिर्च घोलकर पी जाते हैं। हालांकि उपन्यास में भीलों की खेती करने की प्रक्रिया पर लेखक ने स्पष्ट रूप से अधिक नहीं लिखा है, लेकिन गाँव के मुखिया का सभी गांव वालों के साथ बैठकर तौजी भरने तथा लगान चुकाने जैसी, खेती से संबंधित समस्याओं पर विचार करने से इस बात का सूचना मिलती कि इन भीलों का आर्थिक आधार कृषि व्यवस्था पर आधारित है। संक्षेप में इस उपन्यास में दिखाया गया है कि दो गावों- ताल और आली के दो युवकों, औलिया और लच्छू में आपसी बैर हो जाने के कारण वे हिंसा पर उतारू हो जाते हैं। सारे गाँव में तबाही फैल जाती है। उधर गाँववासियों को सूखे जैसे प्राकृतिक प्रकोप का भाजन बनना पड़ता है। इसी क्रम में उन्हें तौजी भरने तथा लगान चुकाने जैसी विकट समस्याओं का सामना करना पड़ता है तथा पटवारी व तहसीलदार के अमानवीय अत्याचारों को सहन करना पड़ता है।

गांव के प्रमुख एकत्रित होकर भावी खतरों की चर्चा करते हैं और जब मुकदमा में गवाही देने जाते हैं, गुलाल कहता है- छलिया, औलिया का बैर क्या हुआ, आली और ताल डूब गये। कहते हैं कि सरकार ताल और आली के कुछ और लोगों को पकड़ेगी। गाँव में झगड़े की आशंका है। और भावी खतरे की आशंका मात्र से गुलाल सिहर उठता है। पटवारी रामधुन को आता देख उससे कहता है- "पटवारी जी, आली गाँव की दशा इस बरस खराब है। क्या-क्या नहीं हुआ इस गांव में। दंगे-फसाद, खून, अगजानी... है प्रभु। हम किसानों को

खाने के लिए लाले पड़े हुए हैं।"[39] यहां से आदिवासियों के आर्थिक शोषण की राजनैतिक प्रक्रिया आरम्भ होती है। पटवारी आदिवासी किसानों की माली हालत की नाजुकता को भांप जाता है। वह गांव वालों से सहानुभूति जताते हुए कहता है कि उसने गांव वालों का नज़राना माफ करने की शिफारिश की है, "मैंने गिरदावर साहब से गुजारिश की है, गिरदावर साहब ने नायब साहब को और नायब साहब ने तहसीलदार से गुजारिश की है। कुछ खर्च भी कर दिया है। देखो क्या होता है।"[40] पटवारी के कथन से इस बात का संकेत मिलता है कि शोषण चक्र की प्रक्रिया कितनी लम्बी है। भील आदिवासी इस तंत्र में फंसा हुआ है। इस तंत्र से बाहर निकलने की कोई रास्ता नहीं है। इससे छूटने की जितनी कोशिश की जाती है, उसकी पकड़ और तेज होती जाती है। वर्ग संघर्ष तेजी से बढ़ने लगता है।

लेखक ने पटवारी द्वारा किये गये गाँव वालों के आर्थिक शोषण को इस प्रकार प्रस्तुत किया है- "पटवारी गांववालों को हर साल दूध देने वाली गाय समझता है, जब चाहा तब दूध लिया। पिछले पच्छीस बरसों से पटवारी इस गाय को दुह रहा है और गाय के अपने बछड़े तड़प रहे हैं.... छटपटा रहे हैं। परन्तु कोई करें तो भी क्या करें। इसके पास सरकारी पटवारे का जो बस्ता है वह किसी अलादीन के चिराग से कम नहीं। इसी बस्ते से जो चाहे वह वसूल हो सकता है। इस गांव के लोग इस बस्ते के मालिक को बेगार कर चुके हैं। इस गांव से बिस्तर उठाकर दूसरे गांव तक पहुँचया है, साहबों के पांव दबाये हैं और कितनी बार भेट पूजा चढ़ चुकी है इस बस्ते को।"[41]

भील आदिवासियों के सामने लगान चुकाने व तेजी भरने की विकट समस्या है। जब वे इसे चुकाने में असमर्थ रहते हैं तो जबरन उनसे उनकी जमीन पर अधिकार छीन लिये जाते हैं। गांव की हालत किसी से छिपी हुई नहीं है। भूख, अकाल और अभाव का जो चक्र गांव में घूम रहा है उसकी चपेट में हर व्यक्ति आया हुआ है। लेकिन सरकारी नुमाइंदों को इस बात से क्या लेना दाना। वे तो लगान वसूलने आये हैं और उन्हें लगान चाहिए। जिस गांव के व्यक्तियों को दो जून रोटी जुटा पाना असम्भव सा जान पड़ता है, वहाँ तहसीलदार पूरे आदर-सत्कार की मेहमाननवाजी की अपेक्षा कर रहा है। गांव का पटेल गाँव की बिगड़ती हालत को बताते हुए तहसीलदार से रहम की भीख मांगता है तो तहसीलदार गरज कर कहता है- "चुप रहो... यह मक्कारी नहीं

चलेगी। जो भूखे हैं वे मर जायें, उनकी जमीन हम नीलाम कर देंगे और लगान वसूल कर लेंगे। जो देना चाहता हो, वह अभी यहां रख दे वरना जमीन-हल सब नीलाम हो जायेंगे... ज़प्त कर लिये जायेंगे।... मैं तुम सब को मुर्गा बनाकर कोड़े लगवाऊँगा। बोलो, कौन देता है लगान।"[42]

'मादल का दर्द' में जिस प्रकार थानेदार तथा तहसीलदार धमकियां देकर तथा जोर जबरदस्ती से भील किसानों की जमीन को हड़पने का प्रयत्न करते हैं उससे स्पष्ट हो जाता है कि आदिवासियों की आर्थिक स्थिति को कमजोर बनाने का सशक्त माध्यम उनकी जमीनों पर कब्जा करना है।

'मादल का दर्द' में थानेदार और तहसीलदार दोनों की भूखी आँखें पटेल की जवान बेटी जमनी पर पड़ती है। थानेदार तहसीलदार से कहता है- "लगान तो मिल गया, अब वसूली बाकी है। क्यों न आज रात को वसूली कर ली जाये।"[43] हसीलदार मौन सम्मति देते हैं और गिलास गटका लेते हैं। पास ही गोश्त पकने की खुशबू दोनों को उन्मत्त कर देती है। वे जमनी को बुला लाने के लिए चौकीदार को पटेल के घर भेजते हैं। जमनी सारी स्थिति को भांपकर मजबूत आवाज में कहती है- "बापू मैं तेरी बेटी हूँ। इस भूमि पर पली हूँ। तू मुझ पर यकीन कर... मैं जाती हूँ। आज देखना चाहती हूँ कि लगान के नाम पर क्या होता है। बापू आज बुझदिल इरादों और विन्ध्याचली इरादों की तलवारें खनककर रहेंगी।"[44] और फिर दोनों सभ्यताओं का रू-ब-रू सामना होता है। परस्पर संघर्ष होता है। जमुनी अपनी इज्जत को बचाने के लिए अपने खंजर जैसे दांतों से थाने दार की भुजा का गोश्त तोड़ लेती है। थानेदार दर्द से चीत्कार कर अलग हटता है तो तहसीलदार उसे पकड़ लेता है। अब जमुनी बुरी तरह हाँफने लगती है, थानेदार डण्डे का लोह मूठ वाला हिस्सा उसके सिर पर मारता है और वह लड़खड़ा जाती है। तहसीलदार उसे घसीट कर खाट की ओर ले जाने लगता है। तभी जमनी सिंहनी की भांति पुनः उछलती है। वह हाथ में शराब की बोतल उठा लेती है और उसे तहसीलदार के ललाट पर अपनी पूरी शक्ति से टकरा देती है। तहसीलदार का सर फट जाता है। चारों ओर खून फैल जाता है और जमनी चीखती है.... बापू.....रे।

अचानक मादल का स्वर गूँज उठता है। इस बार मादल का स्वर बदला हुआ है। उसमें हिंसा और प्रतिरोध की आग धधक रही है। सारा गाँव एकत्रित हो चुका है और मरने मारने को तत्पर है। तम्बू के अन्दर

तहसीलदार छटपटा रहा है और बाहर चौकीदार प्रजा के विद्रोह से अंग्रेजी सल्तनत के पायेदारों को बचाने के लिए पहरा दे रहा है। आदिवासी विद्रोह को दबाने के लिए थानेदार पिस्तौल चलाता है और सब कुछ शान्त हो जाता है।

हिन्दी में आदिवासी जीवन पर लिखे गये उपन्यासों का प्रकाशन राष्ट्र की आज़ादी से पहले ही आरम्भ होता है। आजादी के बाद आदिवासी जीवन पर अनेक महत्वपूर्ण उपन्यासों की रचना हुई, किन्तु उन्हें आंचलिक उपन्यास कहा गया और उसी दृष्टि से आलोचना अथवा समीक्षाएँ लिखी गईं। अब तक हिन्दी में लिखे गये आदिवासी उपन्यास करीब 80 तक हैं।

हिन्दी में लिखे गये पहला आदिवासी उपन्यास वनविहंगिनी को माना जा सकता है। क्योंकि 1909 से पहले आदिवासी जीवन पर लिखे गये उपन्यास का उल्ले हमें कहीं नहीं मिलता। इनमें स्वातंत्र्यपूर्व प्रकाशित उपन्यास बहुत ही कम हैं, स्वतंत्रता के बाद इन उपन्यासों का प्रकाशन बड़ी तेजी से हुआ और वर्तमान में आदिवासियों को केन्द्र में रख कर अनेक उपन्यास प्रकाश में आ रहे हैं। इनमें से कुछ उपन्यास आज बाजार में उपलब्ध नहीं हैं। फिर भी जितने उपन्यास उपलब्ध हैं उन सारे उपन्यासों को पढ़ने के बाद कई दृष्टियों से इनका विभाजन कर सकते हैं।

संदर्भ-सूची

1. कचनार - वृन्दावनलाल वर्मा, पृ. 6
2. कचनार - वृन्दावनलाल वर्मा, पृ. 6
3. कचनार - वृन्दावनलाल वर्मा, पृ. 12
4. वनलक्ष्मी - योगेन्द्र नाथ सिन्हा, पृ. 26
5. वनलक्ष्मी - योगेन्द्र नाथ सिन्हा, पृ. 27
6. वनलक्ष्मी - योगेन्द्र नाथ सिन्हा, पृ .40
7. वनलक्ष्मी - योगेन्द्रनाथ सिन्हा, पृ. 41
8. हिन्दी उपन्यासों में वर्ग भावना - पृ. 115

9. वनलक्ष्मी - योगेन्द्र नाथ सिन्हा पृ. 30

10. कबतक पुकारूं - रांगेय राघव, पृ. 47

11. कबतक पुकारूं - रांगेय राघव, पृ. 628

12. कबतक पुकारूं - रांगेय राघव, पृ. 37

13. कबतक पुकारूं - रांगेय राघव, पृ. 39

14. धरती मेरा घर - रांगेय राघव, पृ. 6, 7

15. धरती मेरा घर - रांगेय राघव, पृ. 17

16. धरती मेरा घर - रांगेय राघव, पृ. 5

17. धरती मेरा घर - रांगेय राघव, पृ. 75

18. धरती मेरा घर - रांगेय राघव, पृ. 125

19. धरती मेरा घर - रांगेय राघव, पृ. 156

20. धरती मेरा घर - रांगेय राघव, पृ. 96

21. कगार की आग - हिमांशु जोशी, पृ. 8

22. कगार की आग - हिमांशु जोशी, पृ. 46

23. कगार की आग - हिमांशु जोशी, पृ. 51

24. कगार की आग - हिमांशु जोशी, पृ. 49

25. कगार की आग - हिमांशु जोशी, पृ. 99

26. वरूण के बेटे - नागार्जुन, पृ. 34

27. वरूण के बेटे - नागार्जुन, पृ. 36

28. वरूण के बेटे - नागार्जुन, पृ. 219

29. गगन घटा घहरानी - मनमोहन पाठक, पृ. 2

30. गगन घटा घहरानी - मनमोहन पाठक पृ. 4

31. गगन घटा घहरानी - मनमोहन पाठक, पृ. 180

32. जंगल के फूल - राजेन्देर अवस्थी, पृ. 202

33. सूरज किरण की छाँव - राजेन्द्र अवस्थी, पृ. 29

34. सूरज किरण की छाँव - राजेन्द्र अवस्थी, पृ. 94

35. अक्षरा-47, जनवरी 2000 पृ. 106

36. अक्षरा-47, जनवरी 2000 पृ. 106

37. जहाँ बाँस फूलते हैं - श्रीप्रकाश मिश्र, पृ. 37

38. काला पादरी - तेजिन्दर पृ. 10

39. मादल का दर्द - श्याम व्यास परमार, पृ. 52, 53

40. मादल का दर्द - श्याम व्यास परमार, पृ. 53

41. मादल का दर्द - श्याम व्यास परमार, पृ. 55

42. मादल का दर्द - श्याम व्यास परमार, पृ. 94

43. मादल का दर्द - श्याम व्यास परमार, पृ. 95

44. मादल का दर्द - श्याम व्यास परमार, पृ. 96

तृतीय अध्याय

हिन्दी के जनजाति परक उपन्यास : कथानक का बहुआयामी संदभ

तृतीय अध्याय

हिन्दी के जनजाति परक उपन्यास : कथानक का बहुआयामी संदर्भ

3.1. आर्थिक संदर्भ

इस अध्याय का प्रमुख केन्द्र है हिन्दी के जनजातिपरक उपन्यासों में कथानक के बहुआयामी संदर्भ। इसमें आदिवासी जीवन से सबंधित आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक पक्षों को देखने और समझने की कोशिश की गई है। जो उपन्यास आदिवासी जीवन के जिस पहलू को अधिक उजागर करता है उसको उसी श्रेणी के अन्तर्गत रखा गया है तथा कथा-प्रसंगों के माध्यम से आदिवासी जीवन के उस पक्ष-विशेष की समस्याओं का विश्लेषण किया है। इसके अतिरिक्त प्रसंगवश उपन्यास में जहाँ कहीं भी जीवन के अन्य पक्ष से संबंधित प्रसंग सामने आये हैं उसका भी उल्लेख किया गया है।

आदिवासी आज विज्ञान के युग में भी अधिकांशतः प्रकृति पर ही आश्रित हैं। हजारों वर्षों से जंगल, पहाड़, घाटियाँ एवं नदियॉ ही रही हैं। जंगलों तथा पहाड़ों से खाद्य संग्रह करना, नदियों तथा तालाबों से मछली पकड़ना तथा कहीं-कहीं घाटियों तथा अन्यत्र पहाड़ी ढालों पर कृषि करना ही उनकी आजीविका के प्रमुख साधन रहे हैं। स्वभावतः ये लोग संतोषी अधिक होते हैं, इस लिए इनमें भविष्य के लिए संग्रह करने की प्रवृत्ति नहीं होती है। यदि वे कुछ एकत्रित भी करते हैं तो उसे लम्बे अर्से तक सुरक्षित रखना नहीं जानते। पारस्परिक दायित्वों तथा सामूहिकता की भावना से बंधे होते हैं। इसलिये वे एक दूसरे से मुनाफा लेने की बात नहीं सोचते

हैं। इस समाज में उत्पादन बेचने के लिए नहीं किया जाता है। इनके यहाँ आदिमकाल से वस्तु विनिमय होता आया है। मुद्रा के बिना लेन-देन छोटे स्तर पर ही सम्भव हो पता है। भविष्य के प्रति आश्वस्त होना तथा संघर्षमय जीवन व्यतीत करना ही इनका एक लक्ष्य बन जाता है। उनके हजारों निवास स्थानों व अन्य भौतिक सामग्री से यह स्पष्ट अनुमान लगाया जा सकता है कि उनकी वस्तुएँ एवं आवश्यकताएँ उनकी स्वयं संग्रहित साधनों तक ही सीमित है।

"जीवन यापन के लिए जनजातियां नृत्य व कला बाजी दिखाने तथा साँप नचाने का काम करते हैं। मध्य प्रदेश के कुछ समूह गोदना गोदने का काम करते हैं। बहुत से जनजातीय समुदाय उसे अपनी आय में वृद्धि हेतु एक सहायक व्यवसाय के रूप में अपनाते हैं। 'मड़िया गोंड' वन उत्पादनों से अनेक वस्तुओं का निर्माण करते हैं और 'सवरा' जनजाति अपने को धातु कर्म, बुनाई, बेंत का कार्य, बर्तन बनाने जैसे कार्यों में व्यस्त रहते हैं। उसी प्रकार भील पुराने कपड़ों तथा सूती रेशों से सुन्दर दरियां तथा गद्दियां बुनते हैं।"[1] पशु चराने व खाद्य सामाग्री संग्रह करके शिकार पर निर्भर रहने वाली जनजातियाँ तेजी से विलुप्त हो रही हैं या कृषि कार्य को अपना रही हैं। कुछ आदिवासी अपने शर्मीले स्वभाव के फलस्वरूप दीर्घ समय तक बाह्य समाज से प्रथक रहे हैं। आरम्भ में वे लोग गुफाओं एवं कन्दराओं में रहते थे। जीवन यापन के अभाव में भूख से मृत्यु के अनेकों प्रमाण उपलब्ध हैं।

3.1.1. कृषि

आदिवासी समाज में अस्थाई कृषि का प्रचलन मानव के उद्‌भव काल से ही जुड़ा हुआ है। इस अस्थाई कृषि पद्धति में कुल्हाड़ी से घने जंगलों को काटकर गिरा दिया जाता है। जब पेड़ या टहनियाँ सूख जाती है तो उनमें आग लगा दी जाती है। आग ठँढी पड़ने पर राख को बिखेर दिया जाता है। वर्षा होने के बाद उस राख में बीज बो दिया जाता है। दो-तीन साल तक फसल करते हैं। जमीन की ऊर्वरा शक्ति कम हो जाने के कारण जंगल के किसी दूसरे स्थान पर आग लगाते हैं। इस पद्धति को दक्षिण भारत में 'पोडू' कहा जाता है। दक्षिण भारत के जंगलों तथा नदी के किनारों पर बसने वाली जैसे कोया, चेंचू, भगता, वाल्मिकी, कोंड़ा रेड्‌डी, कोंडा दोरा आदि जनजातियाँ इस प्रकार की खेती करती हैं। यह स्थानांतरण कृषि पद्धति (अस्थाई) जंगल नीति के

खिलाफ होने के कारण से सरकारी तौर पर बंद कर दिया गया है।

सभ्य समाज के संपर्क में आने तथा अस्थाई खेती के कम उपजाऊ होने से अधिकतर भारतीय जनजातियों ने देश के अन्य कृषकों के समान ही कृषि के प्रचलित तरीके अर्थात् 'स्थाई हल कृषि' को अपना लिया है। जिन जनजातियों ने ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया है वे अन्य की तुलना में कृषि में अधिक उन्नत हैं। मिशनरियों ने न केवल ईसाई धर्म का संदेश का प्रचार किया है, अपितु अपने अनुयायियों को आधुनिक साधनों द्वारा खेती करना सिखाया है, तथा सरकारी व अन्य विकासात्मक योजनाओं का लाभ उठाने के लिए भी तैयार किया है। फिर भी वे आधुनिक साधनों का समुचित उपयोग करने तथा आधुनिक तकनीकों का उपयोग से अच्छी मात्रा में फसल उगाने में हमेशा असफल रहे हैं।

कुछ आदिवासी समूह जैसे नट घुमक्कड़ होते हैं। गाँव के बाहर डेरे डालकर कुछ दिन रहकर अगले गाँव में पड़ाव डालते रहते हैं। यायावरी जीवन जीते नट कृषि तकनीक से अनभिज्ञ होते हैं। इस लिए उपन्यास 'शैलूष' की प्रमुख पात्र सावित्री कहती है- "नट खेती करना नहीं जानते। मैं चाहती हूँ कि हमारे जमीन में गर्मी में होने वाली धान की नर्सरी बनाया जाय। मतलब यह कि सारा काम-धाम करवाना आप को पड़ेगा और करना नटों को।"[2] जिस भूमि के लिए नट आजीवन लड़े, उस खेती पर फसल दूसरों से करवाते हैं। इसके ठीक विपरीत 'गगन घटा घहरानी' में उराँव की स्थिति है। वे कृषि कार्य से परिचित हैं। उपन्यास के आरम्भ में ही आदिवासी स्त्रियाँ द्वारा खेतों में काम कर वापस लौटने का दृश्य आँखों के सामने उभरता है। कृषि कार्य में स्त्रियों का योगदान होता है। कृषक आदिवासी पुरुष खेत जोतते हैं जिसका प्रमाण उपन्यास में 'जागो' के पात्र से उजागर होता है। जागो अनुभवी कृषक है, पर जमींदार का ऋण बंधक है। उपन्यास में भूमि जोतने का यथार्थ वर्णन हुआ है। आंखों के सामने जुताई का दृश्य साकार हो उठता है। "रोपनी के दिनों में होता यह कि पहले खूब अच्छी तरह जोतकर खेत तैयार कर लिए जाते, बारिश होने के बाद जुते हुए खेतों में पानी भर जाता तो फिर जुताई होती। जुताई के बाद हेंगा देकर कीचड़ को बराबर किया जाता। दो बैलों के पीछे लकड़ी का एक लम्बा सा पट्टा बाँध दिया जाता और उस पर हलवाहा खड़ा होकर बैलों को हांकता जाता। घुटने तक नहीं आज तो सारा बदन कीचड़ के हवाले था। कमर में खुसे हुए गठियाये कपड़े के ऊपर का खाली बदन भी

चिपचिपा रहा था। कादो से चहरे पर भी छीटे पड़े थे। कुछ सूख कर त्वचा में खुजली पैदा कर रहे थे। कुछ बैलों की पूँचों से छिटक कर फिर-फिर चिपकते जाते थे।"[3]

इसी प्रकार उपन्यास 'वरूण के बेटे' में भी कृषि कार्य का वर्णन हुआ है- "कई खलिहानों में धान की अगहनी फसलों के बोझ करीने से सजाकर रखे हुए थे। रात अभी ढाई पहर बीत चुकी थी तो भी दो-तीन खलिहानों से दंवरी पर जुते बैल हाँकने की ललकार बढ़-बढ़के कानों से टकरा रही थी। आवारा कुत्तों की दुहरी-तिहरी आवाज निशा-शेष के ताज़ा-दम कंठों की किसानी ललकारों में जाने कहाँ खो गई थी।"[4] । यूँ तो कृषिकार्य से परिचित आदिवासी समाज अपने खेतों में फसल उगा लेते हैं किन्तु वह फसल अपने घर तक नहीं पहुँचता। कभी महाजन खेतों में से ही फसल उठा ले जाता है तो कभी किसान ही सारी फसल साहूकारे के यहाँ पहुँचा देता है, क्योंकि वह ऋण ग्रस्त रहता है। साहूकार के द्वारा लिए ऋण को चुकाने के लिए वह अपनी फसल को देने के लिए बाध्य किया जाता है। आदिवासी जीवन में साहूकार या महाजनों के आतंक के साथ साथ-साथ जंगली जानवरों का भी आतंक रहता है। आज भी आदिवासियों के खेतों में फसल जंगली जानवरों द्वारा नष्ट की जाती है। इस प्रसंग का उल्लेख वृन्दावनलाल वर्मा के 'मृगनयनी' उपन्यास में मिलता है। उपन्यास में चित्रित दृश्यों के माध्यम से स्पष्ट होता है कि गूजर आदिवासी समूह का जीवनाधार कृषि ही है और वे अपनी फसल को जंगली जानवरों के आतंक से रक्षा करने के लिए रात भर पहरा देकर बचाने की कोशिश करते हैं- "आधी घड़ी के उपरान्त उस (मृगनयनी) को भासित हुआ, मानो नदी के लहरों की कलकल से अटल के खुर्राटे जा टकराए हों। हड़बड़ाकर आँखें खोलीं। देखा तो खेत के बीच में एक बड़ा सुअर चकाड़ों के साथ अन्न का संहार कर रहा है। निन्नी ने तीर-कमान सँभालकर आसन जमाया। साँस साधकर लक्ष्य बाँधा। तीर सर्र के साथ सुअर के एक बाजू को फोड़कर गरदन के पार आधा निकल गया। सुअर हुड़-हुड़ करके वहीं चक्कर खाने लगा। अटल जाग पड़ा। निन्नी ने कमान की डोर पर दूसरा तीर साध लिया था। कुछ क्षण उपरांत सुअर समाप्त हो गया।"[5]

'क्लावे' में कृषिकार्य हेतु बीज, खाद्य ठाकुर के यहां से लाते हैं। 'धूणी तपे तीर' में आदिवासी कृषक फसल काट कर तैयार करने की प्रक्रिया को लेकर चिंचित रहते हैं। 'गगन घटा घहरानी' में पूरे गाँव के खेत

ऋण की एवज में जमींदार के यहाँ रहन होते चले गये। तब भूखों मरते उरांव पेट भरने के लिए चोरी करते हैं। नये अनाज खाते बच्चों के चित्रण में मनमोहन पाठक ने विलक्षण संवेदन शीलता का परिचय दिया है- "नया बसा गाँव, नये धान की खुशबू से महक उठा। बच्चे तो मुँह में भरकर चबाने लगे। धान के दूध से मुँह भर गया। कइयों के तालू में सट गया धान, कइयों की जीभ कट गई, सुई की नोक की तरह गड़-गड़ कर मुँह से खून निकल गया।"[6] 'जंगल के फूल' में आदिवासी जंगल व जमीन को अपना मानते हैं। जब सरकार की तरफ से दो व्यक्तियों को इनाम के रूप में पट्टा आते हैं तो कई सवाल उठ खड़े होते हैं। "ये सारे जंगल हमारे हैं। लिंगो (गोंड आदिवासी के देवता) ने इन्हें बनाया और हमें सौंप दिया। हम उस जंगल के पूरे मालिक हैं। यहाँ कि हर जमीन हमारी है, यहाँ का हर झाड़ हमारा है। बैजनाथ ने दो आदमियों को दो-दो एकड़ जमीन दी, मतलब यह कि बाकी जमीन हमारी नहीं है।"[7] यहाँ सरकार की नीति उनकी सामूहिक भावना के विपरीत पड़ती है। सरकारी आदेश में वर्ग विभेद की नीति का आभास हो जाता है। इस लिए आदिवासी विरोध के रूप में कहते हैं- "हम खायेंगे क्या, जिन्हें खेत मिलेगा वे मौज उड़ाएंगे, बाकी भूखों मरेंगे। एक गाँव के चार आदमी मजे में खाएँगे और चालीस भूखे तड़पेंगे।"[8] इसी के पूरक 'धूणी तपे तीर' में राज्य के खिलाफ विरोध की चिंगारी फूट पड़ती है- "इन दिनों राज के आदमी हमारे खेतों की नपाई कर रहे हैं। मुझे यह खबर मिली है कि खेतों पर लगान बढ़ाया जायेगा, इस लिए खेतों की नापजोप की जा रही है। खेत हमारे पुश्तैनी हैं या हम झाड़-झंखाड़ साफ करके खेती के लायक जमीन तैयार करते हैं। अव्वल बात यह है कि खेत हमारे हैं, उन पर किस बात का लगान ? दूसरे, यह कि चलो राजा लगान लेता आया है और कभी संकट में हमारी खोज-खबर लेगा, पर लगान में बढ़ोतरी करने का क्या मतलब ?"[9] इसी प्रकार गोंड आदिवासियों की कृषि समस्या को सत्यार्थी जी 'रथ के पहिए' में सहकारी स्तर पर कृषि करके समाजवाद का रास्ता अपनाते हैं। गाँधीवादी विचारधारा के स्तर पर जमीनवालों का हृदय परिवर्तन हो और तब- "दस हल की जमीन तो लाला की थी, नब्बे हल की जमीन वाले चालीस किसानों को उसने सम्मिलित कर लिया। और उनसे कहा हम बराबर काम करेंगे, बराबर मेहनत का फल लेंगे।"[10] ठीक इसी प्रकार 'नदी के मोड़ पर' उपन्यास में भी सामूहिक कृषि का प्रसंग उभरकर सामने आता है। 'नदी के मोड़' पर उपन्यास में रचनाकार दामोदर सदन का प्रतिनिधि पात्र 'राम सिंह' कृषि

सुधार के लिए कहता है- "हम सब एक जुट होकर काम करें, ब्याज का पैसा बिल्कुल न लें। मैं बी.डी.ओ साहब से मिलता हूँ। ट्रैक्टर से जमीन की जुताई करेंगे और खेती के दफ्तर से बीज लेंगे। खाने के लिए कुछ-न-कुछ पैदा हो जायेगा।"[11] किन्तु जीवन इतना सरल नहीं होता जितना उपन्यास में रचनाकार बताता है।

बस्तर पहाड़ी और जंगल में पड़ता है। गोंडों के पास जमीन नहीं है। किसी तरह अस्थायी खेती के लिए जंगल का एक कोना तैयार कर लेते हैं। 'जंगल के फूल' में यही उत्सव का रूप ले लेता है। "सामने की आग बुझ चुकी थी। डालों से गहरा काला धुँआ निकल रहा था और ऊपर आसमान में समाता जा रहा था। गाँव से कुछ औरतें आ गई थीं। वे अपने साथ नुकांग (चावल) लाई थीं। वह अधजले थे। उन्होंने सारे चेलिकों में नुकांग बाँटे और रिवाज के अनुसार प्रत्येक को वे खाने पड़े। खाकर सब मैदान में कूद पड़े। अधजली डगारें बाहर फेंक दी गई और सब मिलकर धोसना (राख बगराने का एक औजार) से सारी राख बराबर मैदान में फैलाने लगे। हलका-हलका पानी राख पर सींचा गया। यह काम मोटियारियों का था। महुआ भी उनमें शामिल थी। सब मिलकर उत्साह से काम कर रहीं थीं। इसी जमीन से सब मिलकर बरस बर खाने के लिए अनाज उगाएंगे। जो यहाँ उग आये वही बहुत है। सब मिलकर बाँट लेते हैं। दीपा तैयार हो गया तो हल चलाए गये। सामने मोटियारियों को बैल की जगह फांदा गया और चलिकों ने हल चलाये"[12] कृषि उपज से चावल व स्त्री का संबन्ध आदिकाल से जुड़ा हुआ है। उस समय स्त्रियाँ कृषि से संबंधित सारी क्रियाएँ संपन्न करती थी। इस संदर्भ में देवी प्रसाद चटोपाध्याय अपनी पुस्तक 'लोकायत' में कहते हैं कि- "खेतों की उर्वरता को बढ़ाने के लिए किये जाने वाले जादू या धार्मिक अनुष्ठान स्वभावतया स्त्रियों के ही विशेष कार्यक्षेत्र थे, क्योंकि स्त्रियों ने ही खेती की तकनीक को विकसित किया था।"[13] आदिवासी तथा सभी प्राचीन जातियों का विश्वास रहा है कि स्त्रियों में प्रजनन शक्ति का होना कृषि ऊर्वरता का सीधा संबन्ध है। आदिवासी लोग मानव प्रजनन क्रिया और पेड़ पौधों की ऐसी ही क्रिया को एक समझ बैठे और उन्होंने कल्पना की कि मानव प्रजनन क्रिया से वे पेड़-पौधों की उपज भी साथ ही बढ़ा रहे हैं।"[14] धार्मिक अनुष्ठान में लिंग व योनि प्रतीक रूप में पूजे जाते हैं तथा उर्वरता से संबन्ध जोड़ते "बुआई करने से पहले भील लोग खेत के किनारे एक पत्थर को सिंदूर से रंग देते हैं। यह सिंदूर मासिक धर्म से होने वाला रक्त स्राव का प्रतीक है। इस लिए पत्थर को इस सिंदूर से रंग देने का

उद्धेश्य यह है कि खेत की उत्पादकता में वृद्धि हो।"[15] इसी संदर्भ में कृषि कार्य के दौरान किये जाने वाले उत्सव भी प्राचीन मान्यताओं या विश्वासों से जुड़े होते हैं।

पारम्परिक रूप से चलते आ रहे अस्थाई कृषि प्रकृति पर आधारित होती है। बंजर, पहाड़ी क्षेत्रों में निवास करने के कारण जीवन यापन की आवश्यकताएँ पूरी नहीं हो पाती है। अपने जीवन को चलाने के लिए लम्बे समय तक अस्थाई खेती चलन में रही। जब वन नीति लागू हुई तो आधुनिक कृषि को अपनाना तो था किन्तु कृषि योग्य साधन नहीं थे, खाद्य, बीज की पूर्ति के लिए साहूकारों के चंगुल में फँस जाते हैं। इसका समाधान सरकारी कृषि तथा सरकार की व्यवहारिक नीति के माध्यम से किया जा सकता है।

3.1.2. जनजाति और वन

प्रकृति ने मानव के पृथ्वी पर अवतरित होने से पूर्व सम्पूर्ण वसुन्धरा को वन संपदा से आच्छादित किया। वनों पर आश्रित वन्य जातियों की आवश्यकता पूर्ति के लिए फलों से लदे वृक्षों के उपवन बनाये। इसके एवज में जनजातीय समाज ने वृक्षों को मातृछाया या धर्मपुत्र के रूप में संजोये रखा। आज जनजातीय समुदाय का अस्तित्व संतुलित पर्यावरण का ही प्रतिफल है। जनजाति समाज के उद्‌भव, विकास तथा प्रगति में प्राकृतिक संसाधनों की भूमिका महत्वपूर्ण है। जनजातियों के विकास की प्राथमिक अवस्था से लेकर वर्तमान अवस्था तक का इतिहास वन-उत्पादों के उपयोग का इतिहास रहा है। परन्तु वर्तमान में ऐसी अनेक परिस्थतियों का सूत्रपात हो गया है कि व्यक्ति निजी स्वार्थ के चलते जीवन रूपी उसी वृक्ष की डाल को काटता जा रहा है जो उसकी जीवन की आधार शिला रहा है। स्वतंत्रता पूर्व की ब्रिटिश नीति हो या वर्तमान के स्वतंत्र भारत में भूमण्डलीकरण एवं उदारीकरण की प्रक्रिया या औद्योगिक नीति, इतना निश्चित है कि विभिन्न कारणों से जनजाति समुदाय स्वयं को बेसहारा महसूस कर रहा है।

प्राचीन काल से ही वन भारतीय पुराणों, लोक कथाओं, वीर कथाओं, और साहित्य का अभिन्न हिस्सा रहे हैं। विश्व में भारत एक मात्र ऐसा देश है जहाँ कई वृक्षों तथा पशुओं तक की पूजा की जाती है। जिसका जीता जागता उदाहरण उपन्यास 'वन-लक्ष्मी' में दिखाई देता है- "घुम घुमाव रास्ते पर चलते-चलते विशाल शाल वृक्ष मिला, स्तंभ सा सुडौल, ऊँचा डेढ़ सौ फुट से कम न होगा। सफेद रंग से उसके तन पर लिखा गया था, चौदह फुट सात इंच घेरा। वन विभाग ने वनस्पति के इस श्रेष्ठ गौरव को संरक्षित कर लिया है ताकि भावी

पीढ़ियाँ परमात्मा की ऐसी महान कृति से प्रेरणा पाएँ। आँख उठाकर चोटी निहारते सर चकरा जाता है। अक्षत-फूल दिखला कर जम्बीरा ने बतलाया कि आसपास के आदिवासी इस पेड़ की पूजा करते हैं। क्यों न पूजा करें, जब अनायास मस्तक नत हो जाता है उस अलौकिक अचिन्त्य शक्ति के सम्मुख जिसकी सृष्टि यह अद्‌भुत विशाल वृक्ष है। इसी शक्ति को कोई प्रकृति कहता है, कोई परमात्मा कहता है। आदिवासी इसे बोंगा कहते हैं, जिसका अर्थ देवता या भूत प्रसंगानुकूल होता है।"[16]

सामान्यतः भारत में वन-प्रबंधन की पद्धति का इतिहास मौर्य काल से भी पहले का है एवं सम्राट अशोक के साम्राज्यकाल में भी प्राकृतिक संसाधनों से संबद्ध कई कानून मौजूद होने के प्रमाण मिलते हैं। भारत में ब्रिटिश शासन से पहले आदिवासी जहाँ वनों का प्रयोग केवल अपनी रोजी-रोटी के लिए करते थे वहीं बाद में राज्यों द्वारा वन-संसाधनों का व्यवसायिक लाभ तथा राजस्व प्राप्ति के स्त्रोत के रूप में इस्तेमाल किया जाने लगा। खासतौर से ब्रिटिश शासन-काल में दो विश्वयुद्धों के दौरान लकड़ी तथा वन्य भूमि की बढ़ती माँग ने वन-विनाश में प्रमुख भूमिका निभाई है। वर्तमान में वनों के अनियंत्रित दोहन से वन बर्बादी की कगार पर पहुँच गये हैं। वनों के लुप्त होने का मूल कारण वन के अधिकारी ने अपने फायदे के लिए स्थानीय साहूकारों, जमींदारों तथा ठेकेदारों से मिलकर जंगल कटवा देते हैं, इस गैर कानूनी कार्य में साथ देने वाले अधिकारियों को ठेकेदार उनका हिस्सा उन्हें दे देते हैं। इस प्रकार के प्रसंग उपन्यासों में चित्रित किये गये हैं। ऐसा लगता है सरकार जो वननीति लागू की है वह मात्र आदिवासियों के खिलाफ ही है और बाहर की दुनिया में यह अपवाद फैलाया गया है कि आदिवासी ही जंगल को बरबाद कर रहे हैं क्यों कि वे जंगलों में ही रहते हैं, उनका जीवन जंगल पर ही निर्भर होता है। किन्तु हम इस ओर ध्यान नहीं देते कि वास्तव में जंगल में क्या होता है। जहाँ आदिवासियों को एक लकड़ी का टुकड़ा भी जंगल से लाने नहीं देते वहाँ ठेकेदारों को किस प्रकार प्रवेश मिल जाता है ? इन्हीं सवालों को उठाते हुए 'पाँव तले की दूब' उपन्यास का एक पात्र किस्कू पूछता है- "सरकार तो बहुत मेहरबान है न हम पर ?... ये ही मेहरबानी है न, कि जिस छोटा बरू के जंगल शालवनी से हमारा बाप-दादा काठ काट के लाता रहा, अब हमारा लड़का-जनाना दतुअन भी नहीं तोड़ने सकता ? (जंगल बचे रहें, इसी में हम सब का फायदा है न।) हुँह बचाने के लिए ... और ठेकेदार, आँफीसर टरक-का-टरक जंगल काट

कर ले जाता, सो...? हियाँ प्रीतम सिंह का गोला में का है जाके देखिए।"[17] । 'वन लक्ष्मी' उपन्यास में सरकारी जंगलों में 'मुलहॉउस' अंग्रेजी कम्पनी का ठेका था। कम्पनी का मुख्य व्यापार था शाल के मोटे-मोटे पेड़ों को कटवाना, इनसे रेल-स्लीपर चिरवाना या बोटे तैयार करना। किन्तु वे आवश्यकता से भी अधिक पेड़ काटते हैं "परिणाम यह होता कि, चलान के बाद भी जंगल में कटी लकड़ियों के ढेर लगे रह जाते। यह छोड़ी हुई लकड़ी या तो जंगल की आग में जल जाती अथवा धीरे-धीरे सड़ जाती।"[18] इसके चलते 'जंगल के आसपास' उपन्यास में पेड़ों का स्मग्लिंग किस प्रकार होता है यह देखा जा सकता है। ठेकेदार पेड़ों को कटवाकर नदी के मार्ग से शहर तक पहुँचा देते हैं जिससे जंगल नष्ट तो होते ही हैं साथ ही साथ जल प्रदूषण भी होता है। उपन्यास का पात्र दादा कहता है- "हाँ, यह सोन नदी ही है, लेकिन यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते पीतल हो गई है। देख नहीं रही हो, जैसे लकड़ी का बोझ ढोते-ढोते थककर हाँफने लगी है। एक-एक कदम बड़ी मुश्किल से उठा रही है। स्लीपरों के बीच की झाग जैसे थकी-मांदी इस सोन नदी के मुँह में से निकलने वाली झाग है। पुल पार करते ही दिनेश ने देखा सड़क के दोनों ओर जहाँ तक उसकी नजर पहुंच पाती है, लकड़ी के स्लीपर ही स्लीपर पड़े हैं। वह समझ गया कि पहाड़ी लकड़ी को देश के दूसरे भागों तक पहुँचाने वाला सबसे बड़ा लकड़ी गोदाम यही है। पहाड़ी सम्पदा पर इस मण्डी के सेठों का इस तरह कब्जा देख उसकी आँखें फटी की फटी रह गई।"[19] आदिवासी जंगल से सूखी लकड़ी प्राप्त करने के कारण भी अपराधी हो जाते हैं। जब कि वनाधिकारियों व ठेकेदारों की मिलीभगत से बड़ी-बड़ी चोरियाँ होती है। 'गगन घटा घहरानी' में इन विसंगतियों को पकड़ा गया है- "जंगल में कटी लकड़ियों की संख्या एक। चेक पोस्ट पर की उनकी संख्या दूसरी। डीपो में ढुलाई की गई लकड़ियों की संख्या तीसरी। डीपो से बिक्री होकर निकली हुई लकड़ियों की संख्या और स्टॉक भी कभी नहीं मिलता। हर हफ्ते सड़ी हुई लकड़ियों की संख्या और चोरी में वृद्धि ज्यादा, जंगल में आग लगी की दुर्घटनाएं दिखाई जातीं।"[20] उपन्यास में अधिकारियों द्वारा की गई अनियमिताओं की जाँच पड़ताल हुई है। लकड़ी की कमी को आदिवासियों पर चोरी के दोष लगाकर छुपाया जाता है तथा ठेकेदारी प्रथा से साफ होते वनों को रोकने के लिए इस प्रथा को समाप्त कर दिया जाता है और "वनविभाग जंगल की कटाई अब अपनी देख-रेख

में करवाता है पर लकड़ी काटने के मजदूर ठेकेदार के हैं। कटी हुई लकड़ियों को वन से ढोकर डिपो तक ले जाने वाले ट्रक ठेकेदार के हैं। डिपो से ढोकर बाजार और उपभोक्ता के दरवाजे तक ले जाने वाले ट्रक भी ठेकेदार के हैं।"[21] किन्तु इसके विपरीत वन आदिवासी लोगों के हाथों में सुरक्षित है। इस बात को 'नदी के मोड़' पर में सफल तरीके से कहा गया- "लकड़ी की इतनी समस्या नहीं है भाई.... साल जंगल हमारे बाप दादाओं ने लगाया था। उसकी निगरानी हमीं करते हैं। मुट्टी भर नाकेदारों (सिपाही) में यह दम नहीं है कि शहर में चोरी-छिपे पार होने वाले लकड़ी के ट्रकों को रोक सकें।"[22]

इस प्रकार बड़े पैमाने में जंगल का दोहन होने के कारण आज वन उत्पादों पर निर्भर जनजाति समुदाय का अस्तित्व संकट में पड़ गया है। आज आदिवासी बाहुल्य क्षेत्रों में वन धीरे-धीरे समाप्त हो रहे हैं। इसके बावजूद सत्य तो यह है कि वन आज भी न्यूनाधिक आदिवासियों का पोषण कर रहा है। उपन्यासों में आदिवासी अपनी आजीविका के साधनों के विकास के लिए लकड़ी, शहद, गोंद तथा घास एवं अन्य वन उत्पादों को प्रमुख स्त्रोत मानते रहे हैं। जंगल में पाई जाने वाली वनोत्पादित उपज में प्रमुख दोक, पीपल, सागवान, धावड़ा, गुदी, इमली, आम, महुआ, टीमरू, बाँस, शीशम आदि प्रमुख वृक्ष हैं जो आदिवासियों को संगठित-असंगठित व्यवसायिक आधार प्रस्तुत कर रहे हैं। साथ ही उनके द्वारा आवश्यक वन उत्पादों जैसे तेंदू पत्ता, गोंद, रबड़, महुआ के फूल आदि को हाट बाजारों एवं आस-पास क्षेत्रों में विक्रय करते हैं।

वन संरक्षण के वैज्ञानिक प्रबन्धन की हम बात करें तो भारतीय संदर्भ में वैज्ञानिक वन प्रबन्धन 19 वीं शताब्दी से प्रकाश में आया। जब सर्वप्रथम जनरल लॉर्ड डलहोजी ने भारतीय वन क्षेत्र के संबन्ध में चार्टर का निर्माण किया। हाँलाकि इस चार्टर से जनजातीय समुदाय प्रभावित नहीं हुआ तथा उनका वन क्षेत्रों पर स्वामित्व यथावत रहा फिर भी तब से वन एवं पर्यावरण संरक्षण हेतु अनेक विधानों का निर्माण किया गया।

मुख्यतः भारत में वन प्रबंधन के प्रथम कानून का निर्माण वर्ष 1865 में किया गया। जिसे भारतीय वन अधिनियम 7, 1865 के माध्यम से संविधान पुस्तिका में भी स्थान दिया गया गया है। उक्त अधिनियम में वनीय क्षेत्रों में वृक्षों के संरक्षण, आग से बचाव तथा वनों की कटाई तथा चिराई को नियंत्रित करने संबंधी प्रावधान हैं। वर्ष 1865 का वन अधिनियम जो कि ज्यादा विस्तृत था अतः इसमें वर्ष 1890, 1901, 1918

तथा 1919 में संशोधन किए गये। इस अधिनियम को सभी प्रान्तों में लागू किया गया, जिसमें आरक्षित वन तथा संरक्षित वन क्षेत्रों को शामिल किया गया। जिससे वन पर आधारित आदिवासी जीवन संकटमय हुआ और वे वन उत्पादों के संग्रह में न जाकर खेतों में मजदूरी करने के लिए विवश हो गये। जिसका जीता जागता उदाहरण राकेश कुमार सिंह के 'पठार पर कोहरा' उपन्यास में दिखता है- "लाह, गोंद, चिरौंजी, गोलोचन, वंशलोचन, शहद, लकड़ियाँ...पहले जीवन के लिए जरूरी सारे सरंजाम (चीजें) जुट जाते थे जंगलों से। वनोपज बाहर में बेचकर चार पैसे नकद भी हाथ में होते थे। जब से जंगल पर 'गोरमिंट' का रोक-छोंक लगा है, सब चीजें सपना हो गई हैं। नमक-भात चलाने के लिए आदिवासियों को अन्य दूसरे कई तरह के काम करने पड़ते हैं।"[23]

जंगल से संबंधित बनाये जाने वाले नियमों में आदिवासियों का समर्थन व विश्वास न होने से वे नियमों का उल्लंघन करते हैं। 'क्लावे' में भील सुरक्षित वन की चौकीदारी व सुरक्षा का मतलब लगाते हैं- "और भी अधिक चोरियां करेंगे, जहाँ वे रोक लगाने से पहले नहीं करते थे।"[24] अपने आसपास की जंगल की छोटी-छोटी बातों से परिचित भीलों के लिए सुरक्षित वन से लकड़ी काट लाना असंभव नहीं है। वे मजाक के लहजे में कहते हैं- "बेचारे फॉरेस्ट गार्ड जंगले में घुसने वाले रास्तों की अंधेर-अंधेरे नाकाबंदी कर निश्चिंत होगी कि उसने किसी को जंगल में नहीं घुसने दिया। अब वह बाहर से जैसे हमारी रखवाली कर रहे हैं। अब कोई आदमी हम तक नहीं पहुंच सकेगा।"[25] ये लोग जंगल पर निर्भर हैं। इस लिए सुरक्षित वन के नियम व नियंत्रण की स्थिति में आदिवासियों की मजबूरी अपराध करने को मजबूर करती है। वन नीति लागू करने में सरकारी असफलताएं, रिश्वतखोरी, बेइमानी व चोरी की घटनाओं के संबंध में अधिकारियों की नियत साफ नहीं है। 'नदी के मोड़ पर' में जंगल के सिपाहियों की रिश्वतखोरी के संबंध में लिखा है- "फिर मोली और पेड़ों में भी हिस्से लगने लगे थे। नाकेदार भी आ धमकता था। उसे भी दो चार आने देने पड़ते थे।"[26] जंगल के नाकेदारों व सिपाहियों द्वारा होने वाला शोषण 'जंगल के फूल' में दिखाया गया है। थाने में बंद करने के बाद सिपाही मांग करते हैं- "दरोगा सहब के लिए दो मुरगियां, बस हम सबके लिए दो।"[27] 'क्लावे' का दौलत इन रिश्वतखोरों

की नस-नस को पहचानता है- "सिपाहियों का कोई डर नहीं है, वे तो एक चौअन्नी लेकर समझ जाते हैं।"[28] कचरू उससे भी आगे बढ़कर राज खोलता हुआ कहता है- "आज तो बुध है इस लिए इस ओर से नहीं आयेंगे, अगर आ गये तो, एक बोतल साथ रखना चाहिए जहाँ भी मिल जाय, बस बोतल का डाट खोलकर उसकी नाक में अड़ा देना चाहिए। फिर तुम जहाँ भी उसे ले जाओ वह साथ-साथ चलेगा।"[29] यहॉ मध्यस्थों द्वारा किया जाने वाला शोषण है, क्योंकि वनवासियों की वनों पर निर्भरता देखते हुए सूखी लकड़ी लाने का अधिकार दिया गया है। यह लोग अपने परिवार का पालन-पोषण करते हैं। यह संपदा लाने के लिए भी इन्हें अनुमति प्राप्त होती है। अपने घरों की मरम्मत करने, जाड़ों के मौसम में जलाने तथा अपने कुटीर उद्योगों को चलाने के लिए भी इन्हें लकड़ी की आवश्यकता होती है। तब भी इन्हें चोरी करनी पड़ती है। थाने में बंद होना पड़ता है। और रिश्वत देकर बचाना होता है। यह नयी वन नीति की विसंगति है।

कुछ आदिवासी ऐसे भी होते हैं, जिनके पास खेती करने के लिए पर्याप्त भूमि नहीं रहती, वनोपज को एकत्रित करने में रोक के कारण कायाश्रम पर निर्भर होकर जीवन यापन करते हैं। इनकी स्थिति का फायदा उठाते हुए महाजन, साहूकार इनका शोषण करते हैं। "कुछ लोग बेचू तिवारी की पत्थर तोड़नेवाली क्रशर में लगें हैं। कुछ आसपास के गाँवों के सादनों (गैरआदिवासी) के खेतों में कमाने जाते हैं। औरतें घर का काम-काज निपटाने के बाद जुते पड़े खेतों में लकड़ी की हथौड़ों से ढेले फोड़ती हैं। सादनों के खेतों में रोपनी-कटनी करती हैं। फसल कटने और बोझे उठ चुकने के बाद खाली खेतों में टूटी-गिरी अनाज की बालियाँ बिनती हैं।"[30] जंगल में रोक लगने के कारण वे खेतों में काम करने जाते हैं, जहाँ उनके श्रम का दोहन किया जाता है। "मालिक के खेत की रोपनी का आज आखरी दिन था। वैसे सच पूछिए तो पूरा एक दिन का काम और था। रोपनी में मजदूरी रोज के हिसाब से मिलती है। लेकिन मालिक ने कहा था, जमुना पण्डित का कहना है आज ही रोपनी खतम हो जानी चाहिए। कल रोपने से धान तो फूटेगा लेकिन धान नहीं भरेगा।"[31]

जनजातीय समुदाय कालान्तर से वनों को निजी संपत्ति के रूप में मानते हैं साथ ही जनजातीय समुदाय की सामाजिक-आर्थिक पूर्णतः वनों पर निर्भर रही है जैसे "जंगलों की उपज पर हमारा पुश्तैनी हक था। यह

हमारे उपयोग की चीज रही है।"[32] और भावात्मक रूप से भी इनका लगाव वनों से रहा है। परन्तु स्वतंत्रता पूर्व तथा पश्चात वन संरक्षण कानून और एवं अनुचित नियंत्रण के फलस्वरूप जनजातीय समुदाय की आर्थिक संपन्नता विपन्नता की ओर अग्रसर हो रही है। वर्तमान में वनों का निर्मम विनाश एवं सरकारी नीतियों से जनजातीय समुदाय का वनों से भावात्मक अलगाव की ओर अग्रसर है।

वन नीति एवं जंगल से संबंधित नियमों की अव्यवहारिकता के विरुद्ध उपन्यासकारों का मानवीय पक्ष उजागर हुआ है। 'क्लावे' में भील युवक अपने परम्परागत अधिकारों की स्वाभाविक प्रक्रिया को स्पष्ट करता है- "अगर बाँस न काटे जायें तो वे सूख कर अपने आप ही नष्ट हो जाएंगे। जंगल आदमी के हाथ लगने से ही बढता है।"[33] यह भावना प्रधान कथन उनके विश्वास और मान्यताओं को स्पष्ट करता है। इसी बात को और अधिक स्पष्टता 'रथ के पहिए' में मिलता है। "जंगल की मालिक है सरकार। यह सब कैसे संभव हुआ, कल तक तो सारा जंगल इन्हीं लोगों का था जो जंगल में रहते थे। जंगल काटकर खेती शुरू की गई तो, किस प्रकार सरकार कूद कर जंगल पर अधिकार जमाने चली आई, सरकार जंगल की मालिक रहे, पर जंगल से लकड़ी तो लाने दें।"[34]

आदिवासी अर्थव्यवस्था पूरी तरह वन उत्पादों पर निर्भर रहती है, वे वनों से अनेक प्रकार के उत्पादनों का संग्रह करते हैं। आज़ादी के बाद वननीति लागू की गई जिससे वे वनों में जाकर उत्पादों का संग्रह करने में कठिनाई महसूस करने लगे। अनेक नियमों के चलते इन्हें वनों से दूर कर दिया गया जिससे इनके जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा। वर्तमान में आदिवासियों की आर्थिक स्थिति को सुधारने के प्रयास क्रम में, साहूकारों द्वारा किये जाने वाले बैइमानी, छल-कपट को तथा ठेकेदारों द्वारा किये जाने वाले शोषण को रोकने के लिए सरकार ने कई योजनाएँ बनाई हैं। जिससे आदिवासियों द्वारा संग्रह किये हुये वन उत्पादों को सही मूल्य चुकाते हुए सरकारी दुकानों द्वारा उत्पादनों को खरीदने की योजना तथा जंगल में रहने के कारण जंगल के विकास हेतु सरकार द्वारा किये जा रहे अनेक कार्यों का ठेका आदिवासियों को ही देने की आदि। ये योजनाएं कहाँ तक सफल हो रही हैं ? अथवा ठेकेदारों द्वारा योजनाओं का किस प्रकार से गलत फायदा उठाया जा रहा है आदि का विश्लेषण उपन्यासों में किया गया है। आज वे आदिवासी ठेकदारों के पास मजदूरों का काम करते हैं तथा

उनके हाथों शोषण के शिकार हो रहे। अधिक समय काम करना, सही मुआवजा न मिलना आदि समस्याओं से पीड़ित हैं। इसी प्रकार के प्रसंगों को सामने लाते हुए लेखक उपन्यास 'पठार पर कोहरा' में कहता है "बेचू तिवारी की तीन पीढ़ियों से ठेकेदारी चलती है जंगलात में। जंगल में कोई सड़क-पुलिया बनवानी हो तो बेचू तिवारी। बीड़ी के पत्ते तुड़वाने हो तो ठेका बेचू तिवारी के नाम। व्यावसायिक लकड़ियों की टाल का ठेका भी बेचू तिवारी का है। कोयल नदी से बालू उठवाने-बेचने का ठेका भी बेचू तिवारी का ही है। वैध-अवैध शराब का व्यापार, ईंट-भट्ठे, कनखोजर की टाँगों की भाँति कई-कई कारोबार हैं बेचू तिवारी के। अलग बात है कि इसमें तो एक भी सरकारी ठेका बेचू तिवारी के नाम से नहीं। जंगल से जुड़ा हर ठेका किसी आदिवासी के नाम पर ही लिया जाता है। कोई ऐसा आदिवासी जो बेचू तिवारी का नमक मानता हो और जंगल-सेना का भय खाता हो। हर कागज-पत्तर पर चुपचाप अँगूठा निशान लगाता हो और किसी पूछगच्छ के समय मालिक-मुख्तार बनाकर बिजूके की भाँति सामने खड़ा कर दिया जाता हो। डोर बेचू तिवारी के हाथ में होती है जिसके खिंचने पर कागभगौआ जैसे आदमी की मुण्डी हाँ-नहीं में डोलती है।"[35]

जनजातीय जीवन एवं वन एक-दूसरे के पर्याय हैं अतः वनों से न सिर्फ जनजाति समाज को मातृत्व तुल्य स्नेह प्राप्त होता रहा है, बल्कि इन्हें आश्रय, भोजन, रोजगार तथा सुदृढ़ संस्कृति की प्राप्ति हो रही है। वन आदिवासियों की धरोहर रहे हैं। वनों के संरक्षण से ही आदिवासियों की सामाजिक तथा आर्थिक जीवन को सक्षम बनाया जा सकता है। वास्तव में वन, आदिवासियों के सच्चे पोषक हैं, वन इन्हें प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से विभिन्न प्रकार के लाभ पहुँचाते हैं। वनों से ईंधन, चारा, लकड़ी, खाद, फल-फूल, खाद्य योग्य कन्द मूल, जड़ी बूटियों तथा अन्य वाणिज्य उपयोगी लघु वन उत्पादित वस्तुओं के साथ-साथ सुरक्षित वातावरण भी प्राप्त होता रहा है। जनजातियों की आत्मा तथा शरीर दोनों वनीय पर्यावरण से ओत-प्रोत हैं।

3.1.3. जनजातीय बाजार-हाट

जनजातीय जीवन में हाट-बाजारों का विशिष्ट महत्व होता है। हाट जनजातियों के सामाजिक आर्थिक जीवन के केन्द्र बिन्दु होते हैं, जिनमें लोगों को औपचारिक ढंग से बाँधने की क्षमता होती है। हाट-बाजार गप-शप-तमाशा, समाचार एवं त्यौहार के भी स्थल होते हैं। जनजातीय क्षेत्रों में हाट-बाजारों में ही डाक-वितरण,

विज्ञापन एवं प्रचार तथा राजनैतिक क्रिया-कलाप सम्पन्न किये जाते हैं। हाट के दिन प्रायः सभी जनजातीय महिला-पुरुष अपने उत्पादित सामग्रियों की बिक्री तथा आवश्यक चीजों की खरीदारी हेतु हाट चले जाते हैं। आज भी इन हाट बाजारों में मापने के परम्परागत पैमाने, जैसे- पैला, भागा आदि का प्रयोग किया जाता है। इन हाटों में बाजार भाव से अनभिज्ञ जनजातियाँ बड़ी सहजता से व्यापारियों तथा बिचौलियों द्वारा शोषित किये जाते हैं। इनसे कम भाव से सामग्रियाँ खरीदी जाती है तथा उन्हें अधिक कीमत पर बेचा जाता है। इन हाटों में आज भी अंशतः वस्तु विनिमय (एक्सचेंज ऑफ गुड्स) प्रचलन देखने को मिलता है। लेकिन वर्तमान में इन हाटों की स्थिति में कुछ परिवर्तन देखने को मिलता है। परिणाम स्वरूप परम्परागत जनजातीय अर्थव्यवस्था पर शहरी अर्थ व्यवस्था का प्रभाव पड़ा है। जनजातीय हाट-बाजारों में मिल उत्पादित सामग्रियाँ नगर व्यापारियों द्वारा आजकल बेचते देखा जा सकता हैं। इससे जनजातीय गाँवों के परम्परागत कुटीर उद्योग में ह्रास की स्थिति पनपने लगी है।

'वन के मन में' उपन्यास में हाट का वर्णन करते हुए लेखक ने लिखा है कि- "कहा गया है कि संसार में सुख और दुःख सहोदर हैं। जहाँ सुख है वहाँ दुःख भी है। बल्कि एक साजी सुख तो तीन टोकरी दुःख। इसी अनिवार्यता से ऊबकर देवताओं ने सागर मथा और अमृत निकाला है। हाट वह गुलाब है जिसमें सुगन्ध है लेकिन काँटा नहीं, वह पोखरा है जिसमें पंकज है, पर पंक नहीं। यहाँ जो काम लेकर आये वे निष्काम हो जाते हैं, और बेकाम के आये उनसे आप खुद पूछ लें।"[36]

ये बाजार-हाट आदिवासियों का मिलन स्थल होता है। हफ्ते में एक बार लगने वाली बाजार में आसपास के सभी गाँव वाले एकत्रित होते हैं, एक दूसरे से कुशल समाचार अपने बंधुवर्ग को पहुँचाते हैं। कई दिनों बाद मिलने पर उनके बीच की भावनात्मक मिलन का चित्रण 'सूरज किरण की छांव' उपन्यास में मिलता है। ग्रेसरी बंजारी से बाजार चलने के लिए आग्रह करती है, तो बंजारी बहुत खुश हो जाती है और सोचती है- "जरा जी बदल जाएगा और गाँव का कोई मिल गया तो आवा और तापे का हाल पता लग जायेगा। बाजार भारी था। पचास-साठ दुकानें लगी थीं, हिंडोला भी झूलता था। सामने गुम्मा, झरपन और सरपा खड़ी थीं। मुझे देखकर दौड़ पड़ीं। मैंने खूब मिलकर भेंट की, जोर-जोर से चिल्लाकर रोयी। एक के बाद एक और इस तरह

तीनों से भेंट हुई। बाद में मैंने कुशल-क्षेम पूछी। गाँव भर के आदिवासियों को याद किया। झरपन ने बताया, आवा और तापे मेरी याद में दिन-रात नदियाँ बहाते रहते हैं। आवा की आँखें कमजोर पड़ गई हैं। तापे का भगवान मालिक है। कमर टूट गई है उसकी। सरपा ने बताया कि आजकल झरपन की चकाचक है। कंगला की नजरें उस पर सीधे हैं। झरपन ने मेरे गाल पर चुहिंटी ली, इशारा किया, दो कदम बाजू ले गई। उसने धीरे से कान में बताया कि कंगला अब भी मेरी याद नहीं भूला। दिन भर रोता रहता है।"[37] जिस प्रकार उपर्युक्त कथन में हाट को मिलन स्थल का बताया गया है उसी प्रकार इन हाटों में मिलने वाले सभी चीजों का, हाट में आने वाले लोगों का वर्णन उपन्यास 'पाँव तले की दूब' में किया गया है- "मनसा पुल पर कारखाने की चहारदीवारी से सटी हुई ही हाट थी। शाक-सब्जी, केकड़े, मिट्टी के बरतन, मुर्ग-मुर्गियाँ, बकरे-बकरियाँ और भेड़ें। पता लगा शनिवार को पशुओं की हाट भी लगा करती है यहाँ पर। आज बुधवार था, चेटी हाट, यहाँ बेचने वाले आदिवासी थे, मुख्यतः औरतें। नवीनाओं ने ब्लाउज पहन रखे थे, लेकिन प्रौढ़ाओं के बदन पर सिर्फ मलिन साड़ियाँ ही थीं और खरीदने वाले प्रायः गैर-आदिवासी। जगह-जगह मटके में भात की शराब और पकौड़े बिक रहे थे। हाट में आदिवासी लड़कियों की अलग भीड़ थी जो अपने ढंग से उटंग कसे हुए पहनावे, जूड़े में चाँदी की लड़ियों से और इससे भी ज्यादा अपने उन्मुक्त चुहल से अलग से पहचानी जा सकती थीं। इनका आकर्षण मुख्यतः मोटे चावल, ज्वार, कोदों, नमक, सरसों और मिट्टी के तेल तथा पाउडर, चोटी, आलता, दर्पण, फीता, कंगा, नेलपालिश गमछा, चोली, साड़ी और ब्लाउज की दुकानें थीं। यहाँ बेचने वाले दिकू थे। इन सबसे अलग एक और चीज बिक रही थी- तीर। बेचने वाला ठुस्स-सा दिखता एक आदिवासी था।"[38]

आमतौर पर आदिवासी हाट के दिन बड़े उत्साहित रहते हैं और हर दिन की तरह नहीं बल्कि उससे पहले ही जागकर सारा काम समेट लेते हैं क्योंकि एकत्रित वन उत्पादों को बेचने तथा अपने आवश्यक चीजों को खरीदने के लिए उन्हें हाट जाना होता है। इसी प्रसंग का निरूपण 'पठार पर कोहरा' में हुआ है- "कोई और दिन होता तो कुछ और देर तक भी सो लेता गजलीठोरी। कम-से-कम चुहचुहिया के बोलने तक, पर आज

पाखी-पखेरू के बोलने की प्रतीक्षा भी नहीं की किसी ने। आज गाँव भोर होने से पहले ही जग पड़ा है। नित्य के कार-व्यापार समय से पहले कुछ पहले निपट लेना जरूरी है। आरखाण्ड (बाजार-हाट) है आज।"[39] 'पठार पर कोहरा' उपन्यास की नायिका रंगेनी का जीवनाधार हाट पर ही निर्भर है। वह घर के आसपास की जमीन में कुछ तरकारी, घर में मुर्गियों को पालने से उनके अण्डे लेकर हाट जाती है, जहाँ वह बेच कर अपना जीवन चलाती है। अपनी माँ का साथ देते हुए सोनारा भी लाल चींटे पकड़ कर अपने माई के साथ बाजार जाता है, जहाँ उसे उन चीटों का अच्छा दाम भी मिल जाता है- "पुरनकट रूख-बिरिख के खोंढ़र में बसते हैं लाल चींटों की खट्टी चटनी खूब बनती है। तुपकाड़ीह हाट में अच्छे भाव पर बिक जाते हैं चींटें। माई जब बाजार में अपने अण्डे-तरकारी बेचती रहती है, बगल में बोरा बिछाए सोनारा भी अपने लाल चींटों की दुकान सजाए रहता है। मोल भाव भी बढ़िया कर लेता है सोनारा। खड़ी बोली में भी बतिया लेता है।"[40] इस प्रकार आदिवासी बच्चे बचपन से ही हाट के सम्पर्क में आते हैं तथा वहाँ के व्यापार कार्यकलापों को देखते हैं। बाहरी लोगों का व्यवहार तथा उनके द्वारा बोली जाने वाली भाषा को समझने तथा बोलने का प्रयास करते हैं। हाट ही उन्हें बाहरी दुनिया से जोड़ती है। किन्तु वे अपने वन उत्पादों को बेचने में हमेशा साहूकारों द्वारा ठगे जाते हैं। जिसका कारण है अशिक्षा- "हमारे लोगों के सामने सबसे बड़ी दिक्कत यही है कि ये गिनती एकदम नहीं जानते। अगर भाट सही-सही उनके पास है, तब भी उन्हें ठग लेना बहुत आसान है।"[41]

जैसा कि ऊपर कह चुके हैं आदिवासियों की अर्थ व्यवस्था में वस्तुविनिमयम पद्धति का प्रचलन आज भी विद्यमान है। वे हमेशा अपने समाज के लोगों से प्रेम और सामूहिकता की भावना रखते हैं। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आपस में वस्तुविनिमय करते हैं। यह प्रथा अपने ही समाज के भीतर प्रचलित थी। वे हमेशा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति की ओर ही ध्यान देते रहे, किन्तु बाहरी दुनिया में इन उत्पादनों का क्या मूल्य हो सकता है उसकी जानकारी नहीं होती। बाहरी लोगों के संपर्क में आने के बाद आदिवासियों की कमजोरी को देखकर वे उन्हें ठगने लगे और आर्थिक रूप से उन्हें अक्षम बनाते रहे। यह स्थिति केवल भारत की ही नहीं बल्कि संसार के अन्य आदिवासी समुदायों में भी विद्यमान है। इस संदर्भ में हम कई उदाहरण प्रस्तुत कर कते हैं, उनमें से एक अंग्रेजी सिनेमा 'पेपिलोन' का उदाहरण देना उचित समझता हूँ। आदिवासी

समूह जो एक द्वीप में निवास करती है, उनका पेशा है मछली पकड़ना, नाव बनाना आदि। वे समुद्र में जाकर सीपियाँ लाते हैं तथा उनमें से मोती निकालते हैं। उन मोतियों को खरीदने के लिए बाहर से व्यापारी आता है। अतः मोतियों के बदले में उन्हें आइना, और श्रृंगार की छोटी मोटी-मोटी वस्तुओं को देकर उनसे मोतियाँ लेता है। इस उदाहरण से स्पष्ट होता है कि आदिवासी समुदाय संसार के किसी भी कोने में रहे, वे बाह्य व्यक्तियें द्वारा सदियों से ठगते हुए आ रहे हैं। इसी प्रकार का प्रसंग उपन्यास 'पठार पर कोहरा' में मिलता है। जहाँ आदिवासी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कम मूल्य वाली वस्तुओं के लिए अधिक मूल्यवान वस्तुओं को देना पड़ता है। "एक गज कपड़े के बदले एक मुर्गी! छोटे कठौते-भर अनाज के लिए एक बीसी, यानी बीस अण्डे! गुड़-चीनी लेनी हो तो बराबर माप में शहद चुकाना होता है। ऐसी और भी कई मापक इकाइयाँ हैं जंगल में।"[42] वे इस प्रकार ठगे जा रहे हैं यह मालूम होते हुए भी वे विवश हैं क्यों कि इन आदिवासियों को इस वस्तु विनिमय में ही सुविधा दिखती है। "नकद पैसों की जरूरत पड़ने पर उन्हें अपने वनोपज बेचने तुपकाडीह के बनियों के शरण में जाना पड़ता है या फिर डालटनगंज, बरवाडीह या बरकाकाना की गलियों-कालोनियों में फेरी लगानी पड़ती है। गजरीठोरी वालों के पास समय तोढ़ा तो है ही, ऊपर से रेल के टिकट का खर्चा भी तो है। टिकट न लें तो रेल-पुलिस के सिपाहियों को रूपये देने पड़ते हैं। आदम खर्च जोड़ने बैठें तो 'नौ की लकड़ी, नब्बे खर्चा' वाला मामला हो जाता है।"[43] इन परेशानियों को न झेल पाने की वजह से तथा बाहरी व्यापार की या बाज़ार की जानकारी न होने का कारण तथा अपनी नादानी की वजह से वे जहाँ रहते हैं वहीं के साहूकारों के हाथों अपने उत्पादनों को सौंप देते हैं। "शहर बाजार की समझ न होने के कारण आदिवासी शहरों में प्रायः ठगे भी जाते हैं। कभी निमोंछिए शहराती लौंड़े भी धोंस-रौब दिखाकर सोने जैसी चीजें कौड़ियों के मोल उठा लेते हैं। कुल मिलाकर जंगल के बाहर व्यापार करने जाने में हजार झमेले हैं। सूहू तो अपने जंगल का अपना ही आदमी है।"[44]

3.1.4. जंगली जानवरों का योगदान

भारतीय आदिवासियों के आर्थिक जीवन में वन उत्पादों का ही नहीं बल्कि जंगली जानवरों का भी महत्वपूर्ण योगदान होता है। कई जनजातियाँ हैं जो जंगली जानवरों को साथ लेकर अनेक कर्तब दिखाते हुए

गाँव-गाँव, शहर-शहर घूमते हुए आजीविका चलाते हैं। जिन्हें हम नट, करनट, कलिंदर, मदारी आदि नामों से संबोधित करते हैं। वे जंगली जानवर जैसे भालू, बंदर, साँप, नेवले तथा विविध प्रकार के पक्षी आदि को पकड़कर उन्हें पालतू बना लेते हैं। उनके माध्यम से करतब दिखाते हैं जिसका वर्णन 'सूरज किरण की छाँव' में नजर आता है जैसे- "कोने में भीड़ लगी हुई थी। बढ़कर देखा एक मदारी दो बंदरों को नचा रहा था। मदारी हुक्म देता तो बन्दर तुरंत हुक्म बजाते। उसने डंडे पर चोट की, कमर से मुरली निकाली और उसको बजाने लगा, तो दोनों बंदर झूलने लगे। एक दूसरे से लिपट गये। मदारी के साथ एक औरत थी। उसके हाथ में डुगडुगी थी। उसने वह जोर से पीटी। कमर में लचक देकर दोनों गोड़ों के बल झूलती हुई वह गाने लगी। आभा के खांदी हो हो... एक बंदर नीछे से उचका और उसके दाहिने कंधे पर बैठ गया। दूसरा जमीन पर उसकी पिंडरी पकड़कर खड़ा हो गया। मदारी ने मुरली की तान छेड़ी। औरत ने गीत को ददियाया।"[45] कुछ आदिवासी हाथी जैसे जानवरों का शिकार करते हैं, उन्हें पकड़कर अपनी जान को दांव पर लगाकर उनके द्वारा काम लेने में निष्णात होते हैं। इसी प्रकार का प्रसंग उपन्यास 'पठार पर कोहरा' में दिखाया गाया है। रंगेनी का पति होकाना एक ऐसा पात्र है जो जंगली हाथी को पकड़कर अपने काबू में लाता है। "बचपन से ही होकाना को महावतगीरी का शौक था। हाथियों का शौकीन था। हाथियों के क्रियाकलाप, उनकी गतिविधियाँ, आदतें, इशारे और उनकी जरूरतों की भाषा समझता था होकाना। छुटपन से ही टाल के काम में लग गया था और प्रायः हाथियों के आसपास ही डोलता फिरता था। नित्य सामने पड़ने वाले होकना से हाथी भी परिच गये थे। इन्हीं हाथियों में से सबसे बिगड़ैल हाथी था सुरजा, वह न भूख बर्दाश्त कर सकता था न ही कोई अंकुश...। जब होकाना ने सुरजा को भी साध लिया और बेचू तिवारी को होकाना की इस कला की खबर लगी तो तिवारी ने होकाना को मजदूरी के काम से हटाकर महावत रख लिया था।"[46] इस प्रकार होकाना के प्रवीणता को देखकर जंगल विभाग ने अस्थाई रूप से महावत के काम में लगा दिया था। किन्तु उसके परिश्रम का सही मुआवजा नहीं मिलता था। वह घर जाने के लिए भी समय निकाल नहीं पाता था। हाथियों से काम लेने के बाद उनकी देख-भाल का काम भी संभालना होता था। क्योंकि "हाथी के साथ खटने के बाद उसके आराम-जेवनार...नहाना-सेवा की जिम्मेदारी भी तो महावत की ही होती है।"[47] इस प्रकार होकाना बेगार किया करता

है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कुछ आदिवासी समूह जंगली जानवरों का उपयोग कर अपनी आजीविका चलाते हैं और वही उनका पेशा है, जो सदियों से पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपनाते आ रहे हैं। किन्तु जिस प्रकार जंगल को बचाने के लिए वननीति लागू की गयी है उसी प्रकार जंगली जानवरों को बचाने के लिए भी अनेक नियम लागू किए हुए हैं। इसके समर्थन में अनेक स्वायत्तशासी संस्थाएँ अपना समर्थन दे रही हैं। बिडम्बना यह है कि जंगली जानवरों को किस वर्ग से खतरा है यह जाने बिना सक्रिय रूप से काम किया जा रहा है। वास्तव में जंगली जानवरों को खतरा आदिवासियों से नहीं गैर आदिवासियों से है जो अपनी विलासिता तथा बहादुरी को साबित करने के लिए बंदूकें उठाकर जंगल में चले जाते हैं और शेर, चीते, साबर, बारहसिंगा आदी बड़े-बड़े जानवरों का शिकार करते हैं। आजादी के पहले भारत में शेर की संख्या अधिक संख्या में थी किन्तु अंग्रेज अपनी विलासिता के आखेटप्रेम स्वभाव का प्रदर्शन करते हुए अनेक जंगली जानवरों का शिकार करते रहे और आज हमने ऐसे ही एक शिकारी के नाम पर नेशनल पार्क बनाया है। मैं यह भी नहीं कहता कि आदिवासी बिल्कुल शिकार नहीं करते, वे भी करते हैं, पर किस लिए अपनी विलासिता या बहादुरी को दिखाने के लिए नहीं, अपना पेट भरने के लिए। क्योंकि स्वभावतः वे मांसाहारी होते हैं और सभ्य समाज की भाँति वे बाहर से मांसाहार खरीद कर खाने की क्षमता नहीं रखते। उनकी आमदानी इतनी नहीं होती कि वे अपने परिवार को पौष्टिक आहार खरीद कर दे सकेगा। किन्तु इस संदर्भ में सारे आदिवासी प्रत्येक जानवर का शिकार नहीं करते।

आदिवासी और वन एक दूसरे के पूरक हैं। अतीत में जहाँ वनों ने आदिवासियों का पोषण किया वहीं आदिवासियों ने वनों तथा वन पशुओं का भी संरक्षण किया है। यदि हम उनकी सामाजिक व्यवस्था अथवा सांस्कृतिक पक्ष को गौर से देखें तो ज्ञात होता है कि प्रत्येक आदिवासी समूह अनेक गोत्रों में बँटें होते हैं और प्रत्येक गोत्र का अपना एक टोटम होता है। ये सारे टोटम प्रकृति के अंग होते हैं अर्थात् ये पशु-पक्षियों, पेड़-पौधों से जुड़े होते हैं। जिस समूह का टोटम कोई पक्षी, पशु अथवा पेड़-पौधे हो तो वह उनको किसी भी प्रकार की हानि नहीं पहुँचाता, उसे नहीं मारता, नहीं खाता। मैं एक आदिवासी होने के नाते यह निःसंकोच कह सकता हूँ कि आज हम जिस प्रकृति, जंगली पशु-पक्षियों, जंगल को बचाने की बात को लेकर चिंतित हैं तथा उनके

बचाव के लिए करोड़ों रूपयों का व्यय कर रहे हैं तथा दिन ब दिन नये कानूनों को लागु कर रहे हैं इन सारी बातों पर आदिम काल के मानव समूह ने सोच समझकर ऐसी व्यवस्था का निर्माण किया जो प्रकृति में सभी प्रकार से संतुलन बना रहे। किसी पक्षी, पेड़, पशु का अंत न हो और पृथ्वी पर उनका अस्तित्व रहे। जिस कारण टोटम व्यवस्था का निर्माण हुआ और उन टोटमों को पशु-पक्षी, पेड़-पौधों से लिया गया। एक आदिवासी एक जानवर को मारता है जो वह उसका टोटम नहीं, वह उसे खा सकता है उसी प्रकार दूसरा आदिवासी अपने टोटम को छोड़कर दूसरे पशु का शिकार करता है। इसी प्रकार यह नियम पेड़-पौधों पर भी लागू होता है। जिससे प्रकृति में किसी पशु-पक्षी या पेड़-पौधे का अभाव न रह कर संतुलन बना रहता है।

विश्व के लगभग सभी भागों में अधिक संख्या में जनजातीय समुदाय का अस्तित्व है। सामान्यतः जनजातीय समाज हमेशा वनों से रहे घनिष्ट संबंध रखकर पुष्पित एवं पल्लवित होती रही है। शायद इसी कारणवश जनजातीय समुदाय को जंगलों, पहाड़ों तथा सुदूर वनों में रहने वाले ऐसे मानव समुदाय के रूप में आधुनिक, औद्योगिक एवं नगरीय समुदायों के सामने, विशिष्ट सभ्यता तथा सामाजिक संरचना प्रस्तुत करने वाले समुदाय के रूप में परिभाषित किया गया है।

आदिवासी आज विज्ञान के युग में भी अधिकांशतः प्रकृति पर ही आश्रित हैं। हजारों वर्षों से जंगल, पहाड़, घाटियाँ एवं नदियां ही रही है। जंगलों तथा पहाड़ों से खाद्य संग्रह करना, नदियों तथा तलाबों से मछली पकड़ना तथा कहीं-कहीं घाटियों तथा अन्यत्र पहाड़ी ढालों पर कृषि करना ही उनकी आजीविका के प्रमुख साधन रहे हैं। स्वभावतः ये लोग संतोषी अधिक होते हैं, इस लिए इनमें भविष्य के लिए संग्रह करने की प्रवृत्ति नहीं होती है। यदि वे कुछ एकत्रित भी करते हैं तो उसे लम्बे अर्से तक सुरक्षित रखना नहीं जानते। पारस्परिक दायित्वों तथा सामुहिकता की भावना से बंधे होते हैं। इस लिये वे एक दूसरे से मुनाफा लेने की बात नहीं सोचते हैं। इस समाज में उत्पादन बेचने के लिए नहीं किया जाता है। इनके यहाँ आदिमकाल से वस्तु विनिमय होता आया है। मुद्रा के बिना लेन-देन छोटे स्तर पर ही सम्भव हो पता है। भविष्य के प्रति अश्वस्त होना तथा संघर्षमय जीवन व्यतीत करना ही इनका एक लक्ष्य बन जाता है। उनके हजारों निवास स्थानों व अन्य भौतिक सामग्री से यह स्पष्ट अनुमान लगाया जा सकता है कि उनकी वस्तुएँ एवं आवश्यकताएं उनकी स्वयं संग्रहित साधनों तक ही सीमित है।

आदिवासी समाज में अस्थाई कृषि का प्रचलन था। इस अस्थाई कृषि का उल्लेख जंगल के फूल उपन्यास में उल्लिखित है, यही उत्सव का रूप ले लेता है। उसके बाद लिखे गये उपन्यास जैसे 'गगन घटा घहरानी' में उराँव कृषि कार्य से परिचित हैं। उपन्यास के आरम्भ में ही आदिवासी स्त्रियाँ द्वारा खेतों में काम कर वापस लौटने का दृश्य आँखों के सामने उभरता है। कृषक आदिवासी पुरुष खेत जोतते हैं जिसका प्रमाण उपन्यास में जागो के पात्र से उजागर होता है। उपन्यास में भूमि जोतने का यथार्थ वर्णन हुआ है। इसी प्रकार उपन्यास 'वरूण के बेटे' में भी कृषि कार्य का वर्णन हुआ है। यूँ तो कृषिकार्य से परिचित आदिवासी समाज अपने खेतों में फसल उगा लेते हैं किन्तु वह फसल अपने घर तक नहीं पहुँचता। कभी महाजन खेतों में से ही फसल उठा ले जाता है तो कभी किसान ही सारी फसल साहूकारे के यहाँ पहुँचा देता है, क्योंकि वह ऋण ग्रस्त रहता है। साहूकार के द्वारा लिए ऋण को चुकाने के लिए वह अपनी फसल को देने के लिए बाध्य किया जाता है। आदिवासी जीवन में साहूकार या महाजनों के आतंक के साथ साथ-साथ जंगली जानवरों का भी आतंक रहता है। आज भी आदिवासियों के खेतों में फसल जंगली जानवरों द्वारा नष्ट की जाती है। इस प्रसंग का उल्लेख वृन्दावनलाल वर्मा के 'मृगनयनी' उपन्यास में मिलता है। 'क्लावे' में कृषिकार्य हेतु बीज, खाद्य ठाकुर के यहां से लाते हैं। 'धूणी तपे तीर' में आदिवासी कृषक फसल काट कर तैयार करने की प्रक्रिया को लेकर चिंचित रहते हैं। 'गगन घटा घहरानी' में पूरे गाँव के खेत ऋण की एवज में जमींदार के यहाँ रहन होते चले गये। तब भूखों मरते उरांव पेट भरने के लिए चोरी करते हैं। 'जंगल के फूल' में आदिवासी जंगल व जमीन को अपना मानते हैं। जब सरकार की तरफ से दो व्यक्तियों को इनाम के रूप में पट्टा आते हैं तो कई सवाल उठ खड़े होते हैं। यहाँ सरकार की नीति उनकी सामूहिक भावना के विपरीत पड़ती है। सरकारी आदेश में वर्ग विभेद की नीति का आभास हो जाता है। राज्य के खिलाफ विरोध की चिंगारी फूट पड़ती है। इसी प्रार 'धूनि तपे तीर' में शासन के खिलाफ विद्रोह की भावना फूट पड़ती है। इसी प्रकार गोंड आदिवासियों की कृषि समस्या को सत्यार्थी जी 'रथ के पहिए' में सहकारी स्तर पर कृषि करके समाजवाद का रास्ता अपनाते हैं। ठीक इसी प्रकार 'नदी के मोड़ पर' उपन्यास में भी सामूहिक कृषि का प्रसंग उभरकर सामने आता है।

प्राचीन काल से ही वन भारतीय पुराणों, लोक कथाओं, वीर कथाओं, और साहित्य का अभिन्न हिस्सा रहे हैं। विश्व में भारत एक मात्र ऐसा देश है जहाँ कई वृक्षों तथा पशुओं तक की पूजा की जाती है। जिसका जीता जागता उदाहरण उपन्यास 'वन-लक्ष्मी' में दिखाई देता है। सरकार जो वननीति लागू की है वह मात्र आदिवासियों के खिलाफ ही है और बाहर की दुनिया में यह अपवाद फैलाया गया है कि आदिवासी ही जंगल को बरबाद कर रहे हैं क्यों कि वे जंगलों में ही रहते हैं, उनका जीवन जंगल पर ही निर्भर होता है। किन्तु हम इस ओर ध्यान नहीं देते कि वास्तव में जंगल में क्या होता है। जहाँ आदिवासियों को एक लकड़ी का टुकड़ा भी जंगल से लाने नहीं देते वहाँ ठेकेदारों को किस प्रकार प्रवेश मिल जाता है ? इन्हीं सवालों को उठाते हुए 'पाँव तले की दूब' उपन्यास में चित्रित है। 'जंगल के आसपास' उपन्यास में पेड़ों का स्मग्लिंग किस प्रकार होता है यह देखा जा सकता है। ठेकेदार पेड़ों को कटवाकर नदी के मार्ग से शहर तक पहुँचा देते हैं जिससे जंगल नष्ट तो होते ही हैं साथ ही साथ जल प्रदूषण भी होता है। आदिवासी जंगल से सूखी लकड़ी प्राप्त करने के कारण भी अपराधी हो जाते हैं। जब कि वनाधिकारियों व ठेकेदारों की मिलीभगत से बड़ी-बड़ी चोरियाँ होती है। 'गगन घटा घहरानी' में इन विसंगतियों को पकड़ा गया है। उपन्यास में अधिकारियों द्वारा की गई अनियमिताओं की जाँच पड़ताल हुई है। लकड़ी की कमी को आदिवासियों पर चोरी के दोष लगाकर छुपाया जाता है तथा ठेकेदारी प्रथा से साफ होते वनों को रोकने के लिए इस प्रथा को समाप्त कर दिया जाता है।इस प्रकार बड़े पैमाने में जंगल का दोहन होने के कारण आज वन उत्पादों पर निर्भर जनजाति समुदाय का अस्तित्व संकट में पड़ गया है। आज आदिवासी बाहुल्य क्षेत्रों में वन धीरे-धीरे समाप्त हो रहे हैं। इसके बावजूद सत्य तो यह है कि वन आज भी न्यूनाधिक आदिवासियों का पोषण कर रहा है। उपन्यासों में आदिवासी अपनी आजीविका के साधनों के विकास के लिए लकड़ी, शहद, गोंद तथा घास एवं अन्य वन उत्पादों को प्रमुख श्रोत मानते रहे हैं। जंगल में पाई जाने वाली वनोत्पादित उपज में प्रमुख दोक, पीपल, सागवान, धावड़ा, गुदी, इमली, आम, महुआ, टीमरू, बाँस, शीशम आदि प्रमुख वृक्ष हैं जो आदिवासियों को संगठित-असंगठित व्यवसायिक आधार प्रस्तुत कर रहे हैं। साथ ही उनके द्वारा आवश्यक वन उत्पादों जैसे तेंदू पत्ता, गोंद, रबड़, महुआ के फूल आदि को हाट बाजारों एवं आस-पास क्षेत्रों में विक्रय करते हैं।

कुछ आदिवासी ऐसे भी होते हैं, जिनके पास खेती करने के लिए पर्याप्त भूमि नहीं रहती, वनोपज को एकत्रित करने में रोक के कारण कायाश्रम पर निर्भर होकर जीवन यापन करते हैं। इनकी स्थिति का फायदा उठाते हुए महाजन, साहूकार इनका शोषण करते हैं। जनजातीय समुदाय कालान्तर से वनों को निजी संपत्ति के रूप में मानते हैं साथ ही जनजातीय समुदाय की सामाजिक-आर्थिक पूर्णतः वनों पर निर्भर रही है।

वन नीति एवं जंगल से संबंधित नियमों की अव्यवहारिकता के विरुद्ध उपन्यासकारों का मानवीय पक्ष उजागर हुआ है। 'क्लावे' में भील युवक अपने परम्परागत अधिकारों की स्वाभाविक प्रक्रिया को स्पष्ट करता है। यह भावना प्रधान कथन उनके विश्वास और मान्यताओं को स्पष्ट करता है। इसी बात को और अधिक स्पष्टता 'रथ के पहिए' में मिलता है।

आदिवासी अर्थव्यवस्था पूरी तरह वन उत्पादों पर निर्भर रहती है, वे वनों से अनेक प्रकार के उत्पादनों का संग्रह करते हैं। आज़ादी के बाद वननीति लागू की गई जिस से वे वनों में जाकर उत्पादों का संग्रह करने में कठिनाई महसूस करने लगे। अनेक नियमों के चलते इन्हें वनों से दूर कर दिया गया जिस से इनके जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा। वर्तमान में आदिवासियों की आर्थिक स्थिति को सुधारने के प्रयास क्रम में, साहूकारों द्वारा किये जाने वाले बैइमानी, छल-कपट को तथा ठेकेदारों द्वारा किये जाने वाले शोषण को रोकने के लिए सरकार ने कई योजनाएं बनाई हैं। जिससे आदिवासियों द्वारा संग्रह किये हुये वन उत्पादों को सही मूल्य चुकाते हुए सरकारी दुकानों द्वारा उत्पादनों को खरीदने की योजना तथा जंगल में रहने के कारण जंगल के विकास हेतु सरकार द्वारा किये जा रहे अनेक कार्यों का ठेका आदिवासियों को ही देने की आदि। आज वे आदिवासी ठेकदारों के पास मजदूरों का काम करते हैं तथा उनके हाथों शोषण के शिकार हो रहे। अधिक समय काम करना, सही मुआवजा न मिलना आदि समस्याओं से पीड़ित हैं।

जनजातीय जीवन एवं वन एक-दूसरे के पर्याय हैं अतः वनों से न सिर्फ जनजाति समाज को मातृत्व तुल्य स्नेह प्राप्त होता रहा है, बल्कि इन्हें आश्रय, भोजन, रोजगार तथा सुदृढ़ संस्कृति की प्राप्ति हो रही है। वन आदिवासियों की धरोहर रहे हैं। वनों के संरक्षण से ही आदिवासियों की सामाजिक तथा आर्थिक जीवन को सक्षम बनाया जा सकता है। वास्तव में वन, आदिवासियों के सच्चे पोषक हैं, वन इन्हें प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से विभिन्न प्रकार के लाभ पहुँचाते हैं। वनों से ईंधन, चारा, लकड़ी, खाद, फल-फूल, खाद्य योग्य कन्द मूल, जड़ी

बूटियों तथा अन्य वाणिज्य उपयोगी लघु वन उत्पादित वस्तुओं के साथ-साथ सुरक्षित वातावरण भी प्राप्त होता रहा है। जनजातियों की आत्मा तथा शरीर दोनों वनीय पर्यावरण से ओत-प्रोत हैं।

जनजातीय जीवन में हाट-बाजारों का विशिष्ट महत्व होता है। हाट जनजातियों के सामाजिक आर्थिक जीवन के केन्द्र बिन्दु होते हैं, जिनमें लोगों को औपचारिक ढंग से बाँधने की क्षमता होती है। हाट-बाजार गप-शप-तमाशा, समाचार एवं त्यौहार के भी स्थल होते हैं। जनजातीय क्षेत्रों में हाट-बाजारों में ही डाक-वितरण, विज्ञापन एवं प्रचार तथा राजनैतिक क्रिया-कलाप सम्पन्न किये जाते हैं। हाट के दिन प्रायः सभी जनजातीय महिला-पुरुष अपने उत्पादित सामग्रियों की बीक्री तथा आवश्यक चीजों की खरीदारी हेतु हाट चले जाते हैं। आज भी इन हाट बाजारों में मापने के परम्परागत पैमाने, जैसे- पैला, भागा आदि का प्रयोग किया जाता है। इन हाटों में बाजार भाव से अनभिज्ञ जनजातियाँ बड़ी सहजतासे व्यापारियों तथा बिचौलियों द्वारा शोषित किये जाते हैं। इनसे कम भाव से सामग्रियाँ खरीदी जाती है तथा उन्हें अधिक कीमत पर बेचा जाता है। इन हाटों में आज भी अंशतः वस्तु विनिमय (एक्सचेंज ऑफ गुड्स) प्रचलन देखने को मिलता है। लेकिन वर्तमान में इन हाटों की स्थिति में कुछ परिवर्तन देखने को मिलता है। परिणाम स्वरूप परम्परागत जनजातीय अर्थव्यवस्था पर शहरी अर्थ व्यवस्था का प्रभाव पड़ा है। जनजातीय हाट-बाजारों में मिल उत्पादित सामग्रियाँ नगर व्यापारियों द्वारा आजकल बेचते देखा जा सकता हैं। इससे जनजातीय गाँवों के परम्परागत कुटीर उद्योग में ह्रास की स्थिति पनपने लगी है।

'वन के मन में' उपन्यास में हाट का वर्णन हुआ है। ये बाजार-हाट आदिवासियों का मिलन स्थल होता है। हफ्ते में एक बार लगने वाली बाजार में आसपास के सभी गाँव वाले एकत्रित होते हैं, एक दूसरे से कुशल समाचार अपने बंधुवर्ग को पहुँचाते हैं। कई दिनों बाद मिलने पर उनके बीच की भावनात्मक मिलन का चित्रण 'सूरज किरण की छांव' उपन्यास में मिलता है। जिस प्राकार हाट को मिलन स्थल का बताया गया है उसी प्रकार इन हाटों में मिलने वाले सभी चीजों का, हाट में आने वाले लोगों का वर्णन उपन्यास 'पाँव तले की दूब' में किया गया है।

आमतौर पर आदिवासी हाट के दिन बड़े उत्साहित रहते हैं और हर दिन की तरह नहीं बल्कि उससे पहले ही जागकर सारा काम समेट लेते हैं क्यों कि एकत्रित वन उत्पादों को बेचने तथा अपने आवश्यक चीजों को खरीदने के लिए उन्हें हाट जाना होता है। इसी प्रसंग का निरूपण 'पठार पर कोहरा' में हुआ है। आदिवासी

बच्चे बचपन से ही हाट के सम्पर्क में आते हैं तथा वहाँ के व्यापार कार्यकलापों को देखते हैं। बाहरी लोगों का व्यवहार तथा उनके द्वारा बोली जाने वाली भाषा को समझने तथा बोलने का प्रयास करते हैं। हाट ही उन्हें बाहरी दुनिया से जोड़ती है। किन्तु वे अपने वन उत्पादों को बेचने में हमेशा साहूकारों द्वारा ठगे जाते हैं। जिसका कारण है अशिक्षा है।

जैसा कि ऊपर कह चुके हैं आदिवासियों की अर्थ व्यवस्था में वस्तुविनिमयम पद्धति का प्रचलन आज भी विद्यमान है। वे हमेशा अपने समाज के लोगों से प्रेम और सामुहिकता की भावना रखते हैं। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आपस में वस्तुविनिमय करते हैं। यह प्रथा अपने ही समाज के भीतर प्रचलित थी। वे हमेशा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति की ओर ही ध्यान देते रहे, किन्तु बाहरी दुनिया में इन उत्पादनों का क्या मूल्य हो सकता है उसकी जानकारी नहीं होती। बाहरी लोगों के संपर्क में आने के बाद आदिवासियों की कमजोरी को देखकर वे उन्हें ठगने लगे और आर्थिक रूप से उन्हें अक्षम बनाते रहे। यह स्थिति केवल भारत की ही नहीं बल्कि संसार के अन्य आदिवासी समुदायों में भी विद्यमान है।

आदिवासी समूह जंगली जानवरों का उपयोग कर अपनी आजीविका चलाते हैं और वही उनका पेशा है, जो सदियों से पीढ़ी दर पीढ़ी अपनाते आ रहे हैं। किन्तु जिस प्रकार जंगल को बचाने के लिए वननीति लागू की गयी है उसी प्रकार जंगली जानवरों को बचाने के लिए भी अनेक नियम लागू किए हुए हैं। वास्तव में जंगली जानवरों को खतरा आदिवासियों से नहीं गैर आदिवासियों से है जो अपनी विलासिता तथा बहादुरी को साबित करने के लिए बंदूकें उठाकर जंगल में चले जाते हैं और शेर, चीते, साबर, बारा सिंगा आदी बड़े-बड़े जानवरों का शिकार करते हैं। जिसका जीता जागता उदाहरण जंगल के आसपास उपन्यास में हुआ है। आदिवासी और वन एक दूसरे के पूरक हैं। अतीत में जहाँ वनों ने आदिवासियों का पोषण किया वहीं आदिवासियों ने वनों तथा वन पशुओं का भी संरक्षण किया है।

3.2. सामाजिक संदर्भ

3.2.1. ग्राम अधिकारी

सामाजिक कार्यक्रम सामाज के प्रमुख व्यक्ति के माध्यम से संपन्न किये जाते हैं। इन प्रमुखों के अलग-अलग जनजातियों में अलग-अलग नाम होते हैं, यथा छोटी जनसंख्या वाली जनजातियों में (बिरहोर, जयांग) में सारे कार्य एक ही व्यक्ति के हाथ में होते हैं। बड़ी जनजातियों में (संथाल, भील, उराँव, मुण्डा आदि) सत्ता दो मुखियों के हाथ में रहती है, एक सांसारिक कार्य देखता है, दूसरा धार्मिक कार्य। इनके भी सहायक होते हैं। मुण्डा गाँव का सांसारिक मुखिया 'मुंडा' या 'मेहतो' कहा जाता है। धार्मिक कार्य का मुखिया 'पहान' कहा जाता है। मुंडा को अनेक कार्य सौंपे जाते हैं जो सरकार अथवा जमींदार द्वारा मिला रहता है। उसे गाँव की भूमि

बिना लगान वाली मिलती है। उराँव का सांसारिक मुखिया 'मेहतो' कहलाता है। मालेर का मुखिया 'माँझी' होता है। माँझी धार्मिक कार्य भी संपन्न करता है। खड़िया आदिवासी के मध्य संगठित ग्राम्य जीवन का अभाव होता है फिर भी प्रत्येक गाँव का प्रमुख 'देहरी' होता है जो सामजिक और धार्मिक मुखिया होता है। मुखिया निर्णय लेने के लिए गाँव के अन्य बड़े-बूढ़ों से सलाह लिया करता है।

'जंगल के फूल' उपन्यास में ग्राम अधिकारी के महत्व को बताया गया है। गोंडों में गाँव के नेता जिसे 'गायता' कहा जाता है। "गायता बुद्धिमान है। सारे गाँव का वह नेता है। उसकी उंगलियों के इशारे पर पूरा गाँव-क-गाँव आग में कूद सकता है। उस पर सबको अटूट भरोसा है। यही कारण है कि गाँव के किसी आदमी ने कभी अदालत तक नहीं देखी। गाँव के सारे झगड़े गायता बड़ी होशियारी से निपटा देता है। उसने कभी किसी का पक्ष नहीं लिया।"[48]

3.2.2. विवाह

विवाह मानव समाज की महत्वपूर्ण संस्था है। इस संस्था में मानव समाज के विकास के साथ अनेक परिवर्तन हुए हैं। इन परिवर्तनों ने परिवार के स्वरूप को भी बदला है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि प्रत्येक समाज में विवाह नामक संस्था पाई जाती है। सामान्यतः विवाह को पुरुष और स्त्री के मध्य शारीरिक संबंधों की स्थापना के संदर्भ में देखा जाता है, किन्तु यदि हम गहराई से अध्ययन करें तो देखेंगे कि विवाह समाज की एक महत्वपूर्ण संस्था है जो समाज के स्वरूप का निर्माण करती है। विवाह मानवीय समुदायों में सार्वभौमिक है।

विभिन्न समाजों में विवाह की रीतियाँ अलग-अलग होती हैं। सामाजिक संबंधों तथा सांस्कृतिक आधारों पर विवाह का स्वरूप बदलता रहता है। समाजशास्त्रियों का मत है कि विवाह केवल यौन संबंधों की संतुष्टि का साधन ही नहीं वरन् यह व्यक्ति की यौन इच्छाओं को नियंत्रित भी करता है।

जनजातीय वैवाहिक पद्धतियाँ एक ऐसा विषय है जिस पर संपूर्ण विश्व ने तीव्र दुर्भावना व्यक्त की है। उनके ऊपर घिनौने व निराधार आरोप लगाये गये हैं। काल्पनिक संस्थाएँ निरूपित की गई हैं। कुछ सस्ते विद्वानों ने अपनी कल्पना के घोड़े बेलगाम छोड़ दिये व पाठकों के एक वर्ग में रातोंरात लोकप्रियता हासिल

करने के लिए उनके विवाह तथा यौन संबंधी कहानियों को खूब मसाला मिलाकर पेश किया। यौन संबंधों में ढीलेपन को स्वच्छंद अथवा स्वतंत्र यौनि मान लिया गया और यौन साम्यवाद जैसे मुहावरे प्रयोग किये गये। वास्तविकता यह है कि संसार के किसी भाग में संग्रहीत नृजातीय आँकड़े इस परिकल्पना का समर्थन नहीं करते। भारत में भी ज्ञात सरलतम तथा अपरिष्कृत जनजातीय संस्कृतियां भी हैं, उदाहरणार्थ अंडमानी, कादर, पलियान, चेंचु, बिरहोर आदि, ऐसी रस्म व रिवाजों का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं। संसार के अन्य भागों के समान ही भारतीय जनजातियाँ भी अनेक प्रकार के विवाह, अपनी सुविधानुसार, अपने सामाजिक पर्यानुकूल एवं अपनी सांस्कृतिक-परिस्थितियों के अनुसार करती आई हैं। विवाह के प्रकार-

3.2.2.1. एक विवाह

एक विवाह, विवाह का वह स्वरूप है जिस में एक पुरुष किसी एक समय में एक से अधिक विवाह नहीं कर सकता। भारतीय जनजातियों का बहुसंख्यक वर्ग एक विवाह का पालन करता है। इस विवाद का खण्डन करने के लिए हम कह सकते हैं जनजातियों में विवाह की कोई निश्चित योजना नहीं पाई जाती है। कमार (मध्य प्रदेश) जैसी अनेक अत्यंत पिछड़ी जनजातियों एक से अधिक विवाह भी करती हैं। ऐसे अनेक जनजातियां एक विवाही हैं।

3.2.2.2. बहुविवाह

बहुविवाह, अर्थात एक से अधिक व्यक्तियों से विवाह, संपूर्ण संसार में पर्याप्त रूप से व्याप्त है। भारतीय जनजातियों में बहुत-सी, इस प्रकार के वैवाहिक संबंधों का अनुसरण करती हैं। बहुविवाह के दो पक्ष हैं। 1. बहुपत्नी विवाह 2. बहुपति विवाह। बहुपत्नी विवाह एक पुरूष का अनेक स्त्रियों से विवाह करना है, जबकी बहुपति प्रथा का अर्थ एक स्त्री का अनेक पुरुषों से विवाह करना है। दोनों प्रकार के विवाहों की चर्चा बहुविवाह के रूप में सामान्यतः की जाती है।

बहुपत्नी विवाह नागा जनजातियों, गोंड, बैगा, टोडा, लुशाई तथा मध्य भारत की अधिकांश जनजातियों में पाया जाता है। इस प्रकार का वैवाहिक संबंध कश्मीर से असम तक फैले हिमालय क्षेत्रों में पाया जाता है, तथा भारतीय आर्य मंगोल जनजातियों में लोकप्रिय है। अपने शास्त्रीय रूप में यह तियान, लोडा, कोटा खास (जैनसारी) तथा लद्दाखी बोटा में प्रचलित है।

भारतीय जनजातियों में निम्नलिखित तरीखों से जीवन-साथी का चुनाव किया जाता है।

3.2.2.3. परीक्षा विवाह

इस प्रकार के विवाह में पति-पत्नी विवाह से पूर्व एक साथ रहकर एक-दूसरे को भली भाँति समझने की चेष्टा करते हैं। यदि वे एक-दूसरे को चाहते हों तभी उनका विवाह संपन्न किया जाता है। असम की कुकी जनजाति के लोगों में यह रिवाज पायी जाती है कि वे युवक को उसकी प्रेमिका के घर कई सप्ताहों तक रहने की आज्ञा देते हैं। यदि प्रेमी अथवा प्रेमिका का स्वभाव एक-दूसरे के अनुकूल नहीं होता है तो ऐसी स्थिति में लड़का लड़की के पिता को क्षतिपूर्ति के रूप में कुछ रुपये देकर अपने घर वापस आ जाता है।

3.2.2.4. क्रय विवाह

यह प्रथा जनजातियों में बहुत अधिक प्रचलित है। अधिकांशतः कन्या-मूल्य देकर ही जनजातियों में विवाह संपन्न किया जाता है। भारतीय जनजातियों में कन्या-मूल्य नकद अथवा वस्तु दोनों के रूप में देने का रिवाज है। भारत में संथाल, हो, उराँव, खड़िया, गोंड, भील आदि अनेक जनजातियों में यह प्रथा विद्यमान है। लेकिन साथ ही इन्हीं जनजातियों में जब घरजवाँई रखते हैं तो क्रय विवाह की प्रथा होते हुए भी कन्या-मूल्य नहीं लिया जाता।

3.2.2.5. अपहरण विवाह

बहुत से लोगों का यह विश्वास है कि यह विवाह की प्राचीनतम प्रथा रही होगी। इस प्रथा के अनुसार वर कन्या को उसके माता-पिता अथवा उसकी मर्जी के बिना ले जाता था तथा उससे विवाह की रस्म पूरी करता था। भारत में यह प्रथा नागा, हो, भील, गोंड, तथा असम, बिहार एवं मध्यप्रदेश की अनेक जनजातियों में प्रचलित थी, परन्तु राजकीय नियंत्रण से इस प्रथा में अत्यधिक कमी आ गई है, फिर भी आज की कुछ जनजातियों में इस पुरानी प्रथा को निभाते हुए अपहरण विवाह का ढोंग रचा जाता है। गोंड जनजाति में माता-पिता की अनुमति से कन्या का अपहरण होता है। यही बात हिमालय की घाटियों में बसी भोटिया जनजाति में पाई जाती है, जो कि हरण का स्वांग करके रंग-बंग (घोटुल) से लड़की को उठा लाते हैं, हालांकि लड़की तथा उसके माता-पिता को पहले से ही इस बात की जानकारी होती है। खड़िया तथा बिरहोर जनजाति में जब लड़की का आसानी से हरण नहीं किया जा सकता है तो लड़का मेले अथवा अन्य सार्वजनिक स्थानों में लुक-छिप के

लड़की के कपाल पर कुंकुम लगा देता है। इस प्रकार लड़की पर उसका अधिकार माना जाता है। भारत वर्ष के बाहर भी, आस्ट्रेलिया में मेरीबोरो प्रदेश की जनजातियों में, अमेरिका के रेड-इण्डियनों तथा एस्किमो जनजाति के लोगो में अपहरण की प्रणाली देखने में आती है।

3.2.2.6. परीक्षा विवाह

इस प्रकार के विवाह का उद्धेश्य उन युवकों का शक्ति-परीक्षण करना होता है जो कि विवाह करने के इच्छुक होते हैं। इस प्रथा का उदाहरण गुजरात की एक भील जनजाति है जिसमें होली के अवसर पर गोल गधेडो नामक नृत्य का आयोजन किया जाता है। उस स्थान पर बीच में एक बाँस गाड़ दिया जाता है जिस पर नारियल टांग दिये जाते हैं। इस के चारों ओर अंदर के घेरे में अविवाहित लड़कियाँ और बाहर अविवाहित लड़के नृत्य करते हैं। लड़कों का प्रयत्न क्रमशः अंदर के घेरे को तोड़कर गुड़ और नारियल प्राप्त करना होता है तथा लड़कियां लड़कों को अंदर के घेरे में जाने से रोकती हैं। इस प्रकार इस होड़ में युवक अपनी वीरता तथा शारीरिक पराक्रम का प्रदर्शन करता है। यदि कोई लड़का इस में विजय प्राप्त करता है, तथा गुड़ व नारियल हासिल करने में सफल होता है तो उन लड़कियों में किसी को भी चुनने का अधिकार होता है। इसी प्रकार ब्रिटिश गयाना की अराधक जनजाति में लड़की की परीक्षा ली जाती थी। उसे एक चलती हुई नाँव में खड़े होकर एक निर्दिष्ट स्थान पर निशाना लगाना पड़ता था। अनेक कृषि-संबंधी प्रदर्शन भी करने पड़ते थे। उत्तरी अमेरिका के इण्डियन लोगों में उसी को आदर्श दामाद माना जाता है जो शिकार खेलने में निपुण हो।

3.2.2.7. विनिमय विवाह

इस प्रथा के अनुसार दो परिवारों की लड़कियों और लड़को के विनिमय से विवाह होता है। एक परिवार से लड़की लाने पर उसी परिवार में अपनी लड़की का विवाह कर दिया जाता है, जिससे कन्यामूल्य नहीं देना पड़ता। आस्ट्रेलिया तथा टोरेस-स्टेट द्वीप-समूह में यह प्रथा विशेष रूप से पाई जाती है। इस प्रथा को कन्यामूल्य से बचने के लिए विशेष रूप से प्रयोग में लाया जाता है।

3.2.2.8. सेवा विवाह

कुछ व्यक्ति आर्थिक विपन्नता के कारण विवाह में पत्नी धन (कन्या-मूल्य) दे सकने में असमर्थ होने पर कन्या के पिता के घर रहकर पत्नी को प्राप्त करना एक व्यापक प्रथा थी। गोंड तथा बैगा जनजाति में गरीब व्यक्ति इस प्रथा को अपनाते हैं। गोंड ऐसे व्यक्ति को लामानाई कहते हैं। बैगा जनजाति में उसे लमसेना की

संज्ञा दी जाता है। बिरहोर जनजाति में भावी ससुर अपने भावी दामाद को कन्यामूल्य चुकाने हेतु रूपया उधार देता है और दामाद सेवा द्वारा ही उस ऋण को लौटाता है। हिमाचल प्रदेश की गूजर तथा उत्तर प्रदेश की खस जनजाति में ऐसी व्यवस्था का प्रचलन देखने में आता है।

3.2.2.9. हठात् विवाह

ऐसे विवाह में लड़की को जब उस व्यक्ति की स्वीकृति प्राप्त नहीं होती, जिसे वह चाहती है, तो वह उस व्यक्ति से बलपूर्वक विवाह करती है। लोग ऐसे विवाह के अनादेर कहते हैं। इस विवाह में लड़की अपने प्रेमी के घर, प्रेमी तथा उसके माता-पिता की इच्छा के बिना जाकर रहने लगती है। वह उसे विवाह के लिए बाध्य करती है। उक्त लड़की को कठोर यातनाओं का सामना करना पड़ता है, परन्तु यदि वह इनसे विचलित नहीं होती है तो अंत में उसका विवाह कर दिया जाता है। संथालों में इसे निर्बोलोक बाप्ला कहा जाता है। लड़की चावल की शराब (पछावी) लेकर लड़के घर में जाकर रहने लगती है। घर के व्यक्ति उसे निकालने के लिए शारीरिक बल का प्रयोग न करके बाकी बाकी सभी प्रयास करते हैं। ये लोग आग में लाल मिर्च डालते हैं और घर के सभी सदस्य बाहर निकल आते हैं। मिर्च की खार से वहाँ रहना असंभव हो जाता है। यदि लड़की इस परीक्षा में सफल होती है तथा वहीं बैठी रहती है तो उसकी विजय समझी जाती है और विवाह कर दिया जाता है। कमार लोगों में इसे पैठू विवाह की संज्ञा दी जाती है। स्त्री-पुरुष में प्रेम संलाप चल रहा हो तथा इस बीच में गर्भ रह जाए तो इस स्थिति में भी वह अपने प्रेमी के घर पैठ सकती है। अविवाहिता अपने प्रेमी के घर में पैठ जाये तो कमरों में उसका अधिक विचार नहीं होता, किन्तु यदि विवाहिता स्त्री अपने पति को छोड़कर अन्य के यहाँ पैठ द्वारा रहने लग जाय तो एक भारी समस्या उठ खड़ी होती है।

3.2.2.10. सहमति तथा पलायन विवाह

पारम्परिक सहमति तथा पलायन भी जनजातियों में विवाह की एक विशिष्ट प्रणाली रही है। बिहार की ' हो ' जनजाति के लोग इसे राजी-खुशी विवाह की संज्ञा देते हैं, जो वर-वधू की सहमति से होता है। युवा-युवती विवाह की इच्छा प्रकट करते हैं तथा माता-पिता द्वारा विरोध होने पर घर से भाग जाते हैं तथा पति-पत्नी के संबंध स्थापित कर लेते हैं। अंत में माता-पिता अपनी स्वीकृति देने के लिए बाध्य हो जाते हैं। इस प्रकार के विवाह में किसी प्रकार का सामाजिक संस्कार नहीं किया जाता है।

वैवाहिक दृष्टि से आदिवासी समाज में अधिकतर समुदाय अंतर्विवाही होते हैं। समुदाय के बाहर विवाह करना अनुचित समझा जाता है। विवाह के संबंध में ग्राम पंचायत की स्वीकृति बहुत आवश्यक है। ग्राम पंचायत जिस विवाह को स्वीकृति नहीं देती वह विवाह मान्य नहीं समझा जाता तथा उसे समाज में कोई स्थान प्राप्त नहीं होता। समाज में अस्वीकृत विवाह संबंध त्याज्य मान लिया जाता है।

आदिवासी समाज में निर्धारित विवाह के लिए लड़कियों का दापा (दुल्हन की कीमत) चुकानी पड़ती है। कभी-कभी दापा की राशी इतनी अधिक होती है कि वर पक्ष की सामर्थ के बाहर की बात हो जाती है। ऐसी स्थिति में यह प्रथा आदिवासी समाज में एक कलंक के रूप में दिखाई पड़ती है। 'वन के मन में' उपन्यास में इस 'गोनों' प्रथा की समस्या को उठाया गया है। लुकना और मेंजो आपस में विवाह करने का निश्चिय करते हैं तथा लुकना इस बात की सूचना अपने पिता को देता है। खबर सुनकर पिता मोदाय बहुत खुश होता है लेकिन मेंजो के पिता कोमवोंग हो की संपन्नता और सामाजिक रीति-रिवाज के प्रति कट्टर-पंथिया के बाद में भी उन्होंने सुना रखा है। फिर भी मोटाय हो सोचते हैं कि- "जब लड़के लड़की ने अपने आप ही ब्याह ठीक कर लिया है तब तो रियायत करना ही चाहिए। नहीं तो ज्यादा गोनों कोई न दे सकेगा और लड़की बिना ब्याहे रह जाएगी।"[49] कन्या पक्ष के घर पहुँचने पर जैसे कि, आशंका थी मेंजो के पिता ने वर पक्ष की सामर्थ के बाहर गोनों की मांग करते हैं। गोनों के लिए तीन सौ रूपये और आठ बैल की मांग की गई है और इसके ऊपर और एक जोड़ा बैल जो गोनों की गिनती में नहीं आता। तुरी हो के यह पूछने पर कि- "आप इतने अनुचित गोनों की जिद क्यों कर रहे हो ? " कोमचौंग हो कहते हैं- गोनों तो परम्परा और रीति की मांग है।, मैं स्वयं कुछ नहीं मांगता। गोनों की प्रथा मेरी अपनी बनाई हुई तो नहीं है।"[50]

लुकना पर कोनचौंग की इस हठ की मूक प्रतिक्रिया होती है। वह मुँह से कुछ भी नहीं कहता लेकिन मन ही मन कुछ निश्चित करता है। उसके व्यवहार में तीव्र परिवर्तन होने लगता है। वह सोने की घड़ी में बाहर अविराम परिश्रम करने लगता है और दूसरे मजदूरों की अपेक्षा अधिक मजदूरी कमा लेता है। वह पहले से ही बढ़ई का काम जानता है। अब उसने बसिला, रुखानी, समक, छिद्रक इत्यादि खरीदकर अपनी झोपड़ी के बगल में एक कारखाना खोल लिया है। दिनभर की मजदूरी करके जब शाम को केम्प लौटता है तो तुरन्त ही बढ़ई के

काम में लग जाता है। बाकी मजदूर झाड़े में आग के पास गर्मी में खुले मैदान में बैठकर बीड़ी (पीका) पीते और गप्पे उढाते हैं, उस समय लुकना कुछ न कुछ बनाता रहता है- कभी स्टूल, कभी पीढ़ा, मचिया, चोटी चौकी। उसे किसी से बात करने की फुरसत नहीं है। अत्यधिक परिश्रम करने से उसके स्वास्थ पर इतना बुरा असर पड़ता है लेकिन उसको केवल एक ही धुन सवार रहती है। अन्ततः वह अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल हो जाता है तथा निर्धारित राशि जमाकर अपने पिता को दे आता है।

गोनों की राशी मिल जाने पर कन्या पक्ष के लोग विवाह के लिए तैयार हो जाते हैं तथा परम्परागत रीति से विवाह संपन्न हो जाता है। जब विवाह की तैयारियाँ चल रही होती हैं, उस समय कुछ युवकों के मन में विद्रोह की भावना प्रबल हो जाती है। लुकना से जो आज इस बेरहमी के साथ गोनों लिया जा रहा है, वह इन युवकों को अच्छा नहीं लगता। हालांकि वे कोमचौंग हो के संबंधी या सह ग्रामीण ही हैं। वे सोचते हैं कि गोनों की प्रथा 'हो' समाज में विष की तरह फैल रही है और इस विष की लपेट में आकर अनेक सुंदर लड़कियाँ अविवाहित ही रह जाती हैं।

3.2.3. सामुदायिकता

सामाजिक संगठन की दृष्टि से आदिवासी समाज को अनेक समुदायों और अनेक आंतरिक क्रिया-कलापों में विभाजित किया जा सकता है। समुदाय के रूप में पूरा समाज परस्पर सहयोग की भावना से संबद्ध होता है। सहयोग की यह भावना हर क्षेत्र में व्याप्त होती है। सामाजिक क्रिया कलापों के मूल में भी इसी भावना की प्रधानता है। आदिवासी समाज की यह विशेषता है कि यदि किसी व्यक्ति विशेष पर कोई आपत्ति आती है तो पूरा गाँव उस पर विचार करता है तथा उसका समाधान खोजता है। 'क्लावे' उपन्यास के प्रस्तुत एक उदाहरण से यह बात और स्पष्ट हो जाती है। उपन्यास में जंगल में लकड़ी बीनने के लिए गये हुए लोग जब मुसीबत में फंस जाते हैं तो गाँव के सभी लोग उससे छुटकारा पाने की कोशिश में लग जाते हैं। गाँव का मुखिया वीरजा तथा बूढ़ा गमेती खबर पाते ही उन लोगों की कुशलता जानने के लिए दौड़ पड़ते हैं। वीरजा कहता है, कैसे पता लगाया जाए कि उन लोगों को क्या हुआ चार औरतें भी साथ हैं। नहीं तो अधिक चिंता की बात नहीं थी। यहाँ प्रसंग यह है कि जंगल में दो सिपाही उन लोगों को पकड़ लेते हैं तथा स्त्रियों के साथ अभद्र

व्यवहार करते हैं। इस बात को लेकर भील युवक भड़क उठते हैं और सिपाहियों को मार-मारकर बेहोश कर देते हैं।

'गगन घटा घहरानी' उपन्यास में भी सामुदायिकता की झलक मिलती है। जागो पर आई मुसीबत को दूर करने के लिए सब एकत्रित होकर कुछ करने के लिए विचार-विमर्श करते हैं। अंततः सोनारा कहता है- "बात कर-कर के समय गवाँने से क्या होगा, दादा। फैसला करो। अगर सचमुच मार डाला होगा तो हम भी उन लोगों को नहीं छोढेंगे। हम गढ़ी में जाएँगे। पूछेंगे। अभी।"[51]

इसी प्रकार कई अन्य उपन्यासों में जैसे 'बाजत अनहद ढोल', 'धूणी तपे तीर', 'जंगल के फूल' आदि उपन्यासों में संदर्भ अनुसार सामुदायिकता की भावना दिखाई देती है। यह सामुदायिकता की भावना ने ही आदिवासियों में विद्रोह लाने में बड़ी भूमिका निभाई है। मुख्य रूप से आदिवासियों द्वारा किये गये विद्रोह को केन्द्र में रखकर लिखे गये उपन्यासों में सामुदायिकता की भावना दिखाई पड़ती है।

3.2.4. पंचायत

आदिवासी समाज में किसी भी कारणवश उत्पन्न विवादों को निपटाने के लिए सुव्यवस्थित ढंग से सदियों से चला आ रहा सामाजिक संगठन ही पंचायत है, जिसे भारत के प्रत्येक आदिवासी समूह में अलग-अलग नाम से संबोधित करते हैं। पंचायत में निर्णय लेने का अधिकार पंचों का होता है। इसके अनेक नियम होते हैं। पंचों का निर्णय ही अंतिम निर्णय होता है और उनके निर्णय का पालन अनिवार्य होता है। हिन्दी में आदिवासी जीवन को केन्द्र में रखकर लिखे गये कुछ उपन्यासों में पंचायत को प्रमुख स्थान दिया गया है। जगह-जगह पर इसका वर्णन है। पंचायत उनके सामाजिक संगठन के रूप में उभर कर सामने आता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है पंचायत में किसी भी प्रकार की समस्या का समाधान के लिए अर्थात् घरेलू झगड़े, विवाह-विवाद, तलाक, चोरी, ठगना, आरोप लगाना आदि विषयों पर पंचायत सक्रिय रूप से विचार विमर्श कर अपना फैसला सुनाती है। 'रेत' उपन्यास में कंजर जनजाति के जीवन को केन्द्र में रखकर लिखा गया है, उपन्यास के विविध संदर्भों में पंचायत का उल्लेख हुआ है। पंचायत का महत्व बताते हुए कमला बुआ के शब्दों में- "एक बात बताऊँ बैद्जी, हमारे कंजरों में कतल भी हो जाय फिर भी पुलिस नहीं आती है। हाँ, हमारी

बिरादरी की पंचायत जो फैसला करती है, वह सिर माथ पे।"[52] उपन्यास में अनेक स्त्री पात्र हैं उनमें एक है 'हेमा' दूसरी 'रेखा' जो वेश्या वृत्ति करती हैं। हेमा और रेखा के बीच व्यावसायिक मामले में विवाद उत्पन्न होता है। इस विवाद को निपटाने के लिए पंचायत बैठती है-

"हेमा अपराधिन-सी बीच पंचायत में खड़ी है।

'हाँ तो बुआ बता, क्या सजा मुकर्रर करे पंचायत ?'

पंचायत के बीच से एक स्वर उभरा।

'दुर्गा, अब वो समय रहा तो नहीं कि किसी कज्जे (उच्च वर्ग का आदमी) को तोड़नेवाली खिलवाड़ी के माथे के बाल काट दो।'

'पर सजा तो सुननी पड़ेगी। वैसे भी हेमा गुनाह छोटा नहीं है।'

'वही तो मैं सोच रही हूँ...।' इतना कह बुआ रेखा की ओर पलटी,

'रेखा वैसे तेरा उस कज्जे से कित्ते में सौदा तय हुआ था ?'

'दो हजार में।'

'ना, झूठ बोल रही है यह।'

'सच्ची-सच्ची बता रेखा ?'

'दीना की सौं बुआ, दो में ही हुआ था।'

'पर मुझे तो पाँच सौ ही दिये हैं।' हेमा ने प्रतिवाद करते हुए कहा।

'दुर्गा, ऐसा करते हैं यह हम रेखा पर ही छोड़ देते हैं। जैसे इसका पेट भरता हो यह पंचो को बता देगी।'

'ठीक है बुआ। रेखा, बता बेटी ?'

'ताऊ, मेरी तो इच्छा है कि इस हेमा की बच्ची का सिर मुँडा के गाजूकी में घुमाऊँ। फिर भी जो पंच-फैसला होगा मुझे मंजूर है।'

इसके बाद हेमा से भी पूछा गया। हेमा ने भी फ़ैसला पंचों पर छोड़ दिया।

देर तक मन्त्रणा होती रही पंचों के बीच और अन्त में पंचायत ने जो फ़ैसला सुनाया, उसे सुनकर हेमा की जैसे साँस ही अटक गई।

'इतनी कड़ी सजा ताऊ ! कहाँ से करूँगी इतनी मोटी रकम का इन्तजाम ?'

रिरियाते हुए बोली हेमा।

'शुकर मना अपने माना गुरु का जो दस हजार में फैसला हो रहा है वरना कुछ पंच तो माथे बाल काटने पर अड़े हुए हैं।'

हेमा ने पंचों के फ़ैसेले को शिरोधार्य करने में ही अपनी भलाई समझी। उसने मन ही मन अपने मान गुरू का धन्यवाद और पंचायत के प्रति आभार जताया, जो आर्थिक दंड देकर उसे मुक्त कर दिया, वरना वह उसके माथे के बाल काटने का आदेश भी दे सकती थी।"[53]

'रेत' उपन्यास के और एक प्रसंग में पंचायत का उल्लेख हुआ है। कमला बुआ अपनी नाती मंगल की सगाई कर आती है किन्तु लड़की के ताऊ जी (सिकंदर) की नीयत में खोट आई और वह सगाई तोड़ना चाहता है। इस समस्या का समाधान करने के लिए कमला बुआ तथा सिकंदर पंचायत का आश्रय लेते हैं। गौर करने की बात है आदिवासियों की पंचायत में गैर आदिवासी की उपस्थिति को स्वीकार नहीं करते हैं। इस विषय पर भी चर्चा की गई है- "वैद्यजी को भी साथ ले लिया है बुआ ने। वैद्यजी का साथ होना जरूरी है क्योंकि जब सगाई उसकी उपस्थिति में सम्पन्न हुई है, तब इस अवसर पर तो उसका साथ होना लज़िमी है। बेशक कज्जा है वह पर है तो अपना आदमी।

मगर पंचायत शुरू होते-होते वही सवाल रह-रहकर उछलने लगा, जिसका डर कमला बुआ को ही नहीं स्वयं वैद्यजी को भी था।

'बुआ कंजरों की पंचायत में इस कज्जे का क्या काम ?'

कमला- 'मैं जानती हूँ, बैद्यजी भाँतू नहीं कज्जा है पर यह सवाल सगाई पर तो नहीं उठाया किसी ने, जब लेन-

देन के सारे नेग-दस्तूर इसी के हाथों पूरे हो रहे थे। जब तो यह इज्ज़तदार आदमी था, आज कज्जा हो गया ?'

सिकंदर - 'पर बुआ, अगर तेरे इस बैद्यजी ने पुलिस में खबर दे दी तो ?'

बुआ - 'पागल जैसी बात मत कर सिकंदर।'

सिकंदर - 'ठीक है बुआ, अब आ ही गया है तो जाने दे।' सिकंदर ने अंततः बैद्यजी के पंचायत में उपस्थित रहने की स्वीकृति देते हुए एक शर्त भी रख दी, 'पर एक वादा करना पड़ेगा बुआ।'

बुआ - 'कैसा वादा ?'

सिकंदर - 'यही कि पंचों के बीच यह कुछ बोलेगा नहीं।'

बुआ - 'क्यों राह की बात तो कहनी पड़ेगी।'

सिकंदर - 'देख ले बुआ, राजी है तो पंचायत शुरू करें नहीं...'

बुआ - 'ठीक है मुझे मंजूर है।' कमला बुआ को आखिर झुकना ही पड़ा।

पंचायत शुरू होने से पहले मुखिया ने पंचायत के सारे क़ायदे-क़ानून खोलकर पंचों के सामने रख दिए, 'पंचों आज की पंचायत में जो पंच तय किये गये हैं, वे दोनों मुदी की रजामंदी से तय किये गये हैं... क्यों बुआ, मैं ठीक कह रहा हूँ ?' मुखिया ने पहले कमला बुआ की स्वीकृति ली। कमला बुआ ने अपनी स्वीकृति और सहमति प्रदान करते हुए कहा, 'सही है।'

'सिकंदर, तुझे कोई ऐतराज है तो बता ?'

'ना पंचों, मुझे कोई ऐतराज ना है।' सिकंदर ने हाथ जोड़ते हुए अपनी सहमति दे दी।

'तो ठीक है, अब दोनो मुदी धरोड़ रक्खो ! बुआ लाई है न धरोड़ ?'

कमला बुआ ने बिना एक पल गवाँए पाँच तोले की सोने की चूड़ियाँ थैले से निकालकर मुखिया की ओर बढ़ा दीं। सिकंदर ने भी उतने ही वज़न के सोने के जेवरात धरोड़ के रूप में मुखिया को थमा दिए।

पंचों यह तो दोनोमुदी के तरफ से हुई धरोड़। अब दोनो मुदी पंचो के खर्चे के लिए तीन-तीन हजार,

फैसला होने तक धरोड़ रखनेवाले को दिए जाने वाले दो सौ रूपये रोजाना के हिसाब से और पंचों को पानी पिलानेवाले को सौ रूपये... कुल मिलाके पाँच-पाँच हजार और दें।

दोनो मुदी याने दोनो पक्षों ने तुरन्त पाँच-पाँच हजार रूपये मुखिया के हवाले कर दिए।

... और पंचो, चीरणी से पहले यह बात बतानी जरूरी है कि अगर पंचो का फैसला ना माना गया, तो दोनों मुदी की धरोड़ पंचायत जपत कर लेगी... एक बात और कि अगर किसी मुदी ने धरोड़ के बारे में पुलिस को खबर दी, तो उसकी धरोड़ का इस्तेमाल पुलिस के काज में होगा - बोलो मंजूर है ?

हाँ, मंजूर है। पूरी पंचायत ने पंचों के निर्देशों को स्वीकार करते हुए समवेत स्वर में कहा।

तो फिर ठीक है अब चीरणी शुरू होती है। बुआ पहले तू बता क्या रगड़ा है ? मुखिया ने कमला बुआ को अपना पक्ष रखने का मौक़ा देते हुए कहा।

बुआ ने विस्तार से सगाई की सारी कहानी बता दी। हाँ रे सिकंदर, बुआ जो कह रही है, ठीक कह रही है ?

बिल्कुल ठीक कह रही है। लड़की के ताऊ सिकंदर ने कहा।

तो फिर रिश्ता क्यों तोड़ रहे हो ?

ना टूठे तो क्या मुखिया, बुआ अपने कौल से जो मुकर रही है।

कौल, मरे मैं कौन-से कौल से मुकर रही हूँ ? हैरान होते हुए बुआ ने सिकंदर से पूछा।

बुआ सिकंदर की बात अब पूरी ना हुई है। मुखिया ने बीच में हस्तक्षेप करते हुए कहा।

कौल यह था पंचो कि सगाई में बात हुई साढ़े तीन लाख देने की पर यह बुआ अब कह रही है कि मैं पौने तीन दूँगी। अब बताओ पंचों यह कौल से मुकरना है तो क्या है ?

मरे साढ़े तीन लाख में कब हुई थी, पौने तीन में ही तो हुई थी। बैद्यजी भी बैठा है गवाह।

देख लिया पंचो, कैसे इस कज्जे को बीच में ला रही है। सिकंदर ने कमला बुआ की बात पकड़ ली।

बुआ बता अब क्या करें ? मुखिया ने सारी बात कमला बुआ पर छोड़ दी।

मुखिया, बात तो वैसे पौने तीन में ही पक्की हुई है पर अब इस सिकंदर की नीयति में खोट आ गया है, तो मैं साढ़े तीन भी देने को रीजि हूँ...।

पीपल की सौं मुखिया, बात साढ़े तीन में ही पक्की हुई ही। सिकंदर अपनी बात पर अड़ा रहा।

ठीक है सिकंदर, हमने दोनों मुदी की बात सुन ली। मेरी पंचों से एक अरज है अगर मंजूर हो तो ? मुखिया ने कहा।

हाँ मंजूर है। पूरी पंचायत ने एक स्वर में कहा।

अरज यह है कि दोनों मुदी अपनी-अपनी बात कह रहे हैं। अब दिक्कत यह है कि पंच किसकी बात पर यकीन करें। इसलिए मेरी सलाह है कि क्यों न असल बात पता हम इस बैद्जी से करें...।

पर मुखिया...।

सिकंदर चुप रह थोड़ी देर। यकीन कर बैद्जी पर। वैसे भी इज़्ज़तदार है...झूठ थोड़े ही बोलेगा। इसके बाद मुखिया बैद्जी की ओर पलटा, हाँ बैद्जी, आप तो मौके पर मौजूद थे। आप ही बताओ।

बैद्जी सारी बात पंचायत के समक्ष रख दी।

देर तक पंचों के बीच मंत्रणा होती रही। यह पहला मौक़ा होगा जब कंजरों की पंचायत में किसी कज्जे (बाहरी) व्यक्ति की गवाही हुई हो। इसलिए पंचों में इसी पर काफ़ी समय तक मतभेत बना रहा कि एक कज्जे की गवाही को माना जाय या नहीं। मुश्किल हो गया पंचों को फ़ैसला देना परन्तु फ़ैसला देना ही था।

दोनों मुदी की चीरणी के बाद पंचों को लगा है कि खोट कमला बुआ की नीयती में नहीं, इस सिकंदर की में आया है। अगर सगाई साढ़े तीन में पक्की हुई है तो यह सगाई नहीं टूटती। पंचों के हिसाब से जो कमला बुआ पौने तीन लाख देने को राजी है, वह साढ़े तीन भी दे सकती। बुआ कभी अपने कौल से मुकरानेवाली नहीं है।

बेटा की सौं मुखिया...।

सिकंदर चुप रह तू...तो पंचों ने यह फैसला किया है कि यह सगाई नहीं टूटेगी। बुआ की धरोड़ उसे उल्टी कर दी जाए। रही बात सिकंदर के धरोड़ की सो अगर उसे पंचों का फैसला मंजूर है तो उसे उल्टा दे दो... नहीं है तो उसे जपत समझो। सिकंदर, बोल पंचों का फैसला मंजूर है या...।

मंजूर है पंचों। हाथ जोड़ते हुए पंच फ़ैसले को स्वीकारते हुए बोला सिकंदर।

ठीक है। सिकंदर की धरोड़ भी उसे उल्टी कर दी जाए, पर दोनों मुदी के जो पाँच-पाँच हजार रूपये पंचों के

पास हैं वे उनकी दवा-दारू के हैं, वे उल्टे नहीं होंगे। इतना कहते हुए मुखिया ने पंचायत के विसर्जन की उद्घोषणा कर दी।"[54]

जिस प्रकार 'रेत' उपन्यास में पंचायत ने अपना कर्तव्य सफलता पूर्वक निभाया है यह सफलता 'सूरज किरण की छाँव' में नहीं दिखती। विलियम द्वारा गर्भवती हुई बंजारी को न्याय नहीं मिलता बल्कि उसका विवाह अन्य युवक जोसफ के साथ कर दि जाता है, जिससे वह आजीवन दुःख और कष्ट झेलती है। बंजारी के गर्भवती होने की खबर पूरे गाँव में हवा सी फैल जाती है। बिरादरी के लोग बंजारी के परिवार से हुक्का-पानी बंद कर देते हैं। फिर भी बंजारी हिम्मत नहीं हारती और तय करती है कि- "तापे (पिता) से कहकर पंचायत कराऊँगी और गाँवभर के सामने उसकी (विलियम) इज़्ज़त का भंडाफोड़ करूँगी। पंचायत भरायी गई। मैंने सारी लाज-शरम छोड़कर, सब कुछ खोल-खोलकर बखान दिया। दस रूपये के नोट की बात भी की और पटवारी की बदनीयति का भी भंडाफोड़ कर दिया। विलियम सब कुछ सफा टाल गया। उसने दो चार ऐसे छोकरों का नाम बताया, जिन्हें मैं जानती भी न थी। बहन बनाने की बात पर अड़ा रहा। पंचायत फैसला क्या करती। आखिर विलियम के बापा ने कहा, कुछ भी हो, बंजारी अभी छोकरी है। किसी के बहकावे में आ गई होगी। जो कुछ हो गया, उसमें उसका कोई दोष नहीं। यदि जात का कोई लड़का उससे ब्याह करने को तैयार नहीं है, तो मैं ब्याह करा देता हूँ- विलियम से नहीं, जोसेफ से। आखिर बंजारी भी मेरी बेटी है।"[55]

साधारणतः आदिवासियों की पंचायत में गैर आदिवासी पंच के रूप में नहीं होते जिसका जिक्र हम 'रेत' उपन्यास के संदर्भ में भी देख सकते हैं, किन्तु 'पठार पर कोहरा' उपन्यास में स्थिति कुछ ऐसी है कि गैर आदिवासी भी पंच के रूप में उपस्थित हैं। लेखक ने पूरी सावधानी के साथ इस प्रसंग का उल्लेख किया है। सदान या दीकू भी पंचायत में उपस्थित होने के कारणों को विवरणात्मा रूप से प्रस्तुत किया है जो हम उपन्यास में देख सकते हैं। इस प्रकार बाहरी लोगों का हस्तक्षेप आदिवासी पंचायत व्यवस्था पर दुष्प्रभाव डालती है। उपन्यास में चित्रित पंचायत के प्रसंग से हम अनुमान लगा सकते हैं कि दीकू किस प्रकार आदिवासियों के जीवन से खेलते हैं, खासकर औरतों के संदर्भ में। रंगेनी उपन्यास की नायिका है। वह गर्भ धारण करती है, किन्तु उसे भी पता नहीं है कि उसके गर्भ में पल रहा बच्चे का बाप कौन है। क्योंकि उसके साथ एक नहीं कई

लोग...! इस कारण रंगेनी को पंचायत में बुलाया जाता है- "साहू और बेचू तिवारी भी उस दिन पंचायत में बैठे थे जिस रोज रंगेनी को गजलीठोरी की ग्राम पंचायत में खड़ा किया गया था। पंचायत सोनारा के बाप का नाम जानना चाहती थी। पहान पूछ रहा था, कौन है सोनारा का बाप? मुण्डा लोगों की पंचायत थी पर सादान भी बुलाये गये। कभी का दीकू...मुण्डाओं का दुश्मन...अब सादान भी बना, एक मुण्डा औरत का पंच।

तेरे पेट में बच्चा है रे ? बेचू तिवारी ने पूछा था।

किसका है रे ? पहान ने पूछा था।

गाँव का सबसे बड़ा पुजारी है पहान। गाँव के सारे नेम-धरम...पूजा पुरनाहुत का भार उठाता है। गाँव को बुरी आत्माओं और पाप की छाया से दूर रखने का जिम्मा है पहान पर...तो पहान को चिन्तित होना ही था।

हमको नहीं पता। रंगेनी बोली।

कैसे नईं पता... ? झूठी ! बेचू तिवारी ने कहा था, औरत के पेट में बच्चा है। किसका है, यह औरत नहीं जानेगी तो और कौन जानेगा- हवा-बतास ?

बता दे रंगेनी, कौन है इसका बाप ? पहान ने नरमायी से पूछा था।

हम कह तो दिए कि नईं पता हमको।

अरे कैसे नहीं पता ? साहू ने पिनपिनाकर कहा था, तुझे यह नहीं पता कि तू किसके साथ सोयी ? किसने तेरे देह में बिचड़ा रोपा ?

सच बात है पहान ! रंगेनी ने अब तक झुका अपना सिर ऊपर उठा लिया था। बीते दिनों कई मरदों ने हमारी देह खँखोरी है। रेलवाई के सिपाही और...

...कौन सिपाही ? लोग बेचैन हो उठे, कहाँ के सिपाही ?

सँजली गाड़ी में। पता नईं कै गो थे। साइत जितने थे, सबने... रंगेनी की जीभ लड़खड़ाने लगी थी।

साहू के होंठों पर व्यंग्य-भरी मुस्कान थी। साहू को मुस्काते देख रंगेनी का मन-तन झोला गया था। अकेला होता तो रंगेनी तो उसका मुँह नोच... पर हातू-पंचायत गाँव की थी।

रंगेनी सोचती थी, उसकी दुर्दशा को देखकर उस पर दया करेंगे लोग। कम-से-कम उसके गोतिया-भाई तो जरूर, पर सभी चुप बैठे सुन रहे थे। रंगेनी ने कह दिया था।

... फिर एक दिन औघड़वा भी हमारे साथ...

... खबरदार... ! बेचू तिवारी गरजा था, जबान काबू में रख आदर से नाम ले बाबा का। पचास जगह सुअरिया की मैला चाटती फिरने की बात अपने मुँह से कबूलती है और कीचड़ फेंकती है सिद्ध महात्मा पुरूष पर...थ्थू...।

पहान भी विचलित हो उठा था, दस आदमी का नाम धरना ठीक नहीं। ठीक-ठीक एक नाम बता रंगेनी। कौन है इसका बाप...?

ठीक बात बोले तो सबको झूठ लगा पहान ?

गाँव के बुजुर्गों को रंगेनी से कुछ माया-ममता थी। वे समझने लगे थे, देख रंगेनी, जो हुआ सो सिरफ तेरे ही साथ थोड़े हुआ। बहुत लोग तो अपने मन से भी... पर नाम तो धरते हैं न लोग ?

मुण्डा समाज में एक से ज्यादा मरद करना कोई खराब बात नईं। नाम बता दे। फिर तू चाहे तो पंचायत तेरा दूसरा ब्याह भी...

तेरे साथ निसाफ (इन्साफ) होगा रे। जिसका बिया तेरे भीतर है, उसका नाम तो बता दे रंगेनी...

किस-किसको कैसे समझाती रंगेनी कि झूठ बोलकर वह किसी को बचा नहीं रही, कि झूठ बोलने में उसका कोई फायदा नहीं, घाटा ही है ; पर दूसरे ब्याह की बात पर अड़ गई थी रंगेनी।

हमें फिर बियाह नईं करना।

काहे रे ? पहाने पूछा था।

नईं करना तो नहीं... काहे का ? कोई जोर-जबर करावेगा हमारा बियाह ?

तेरी करना देखकर गाँव की दूसरी लड़कियों पर क्या असर पड़ेगा सो भी सोचना है कि नहीं पंचायत को ? साहू बोला था, पंचायत में खड़ी होकर मुँह लड़ाती है ?

अकेली जिनगी नईं काट सकेगी रे। बियाह तो जरूरी है रंगेनी। पहान ने भी समझाया था।

मरद के नाम से घिन आती है हमें, रंगेनी ने तम-तमाकर कहा था। अब हमें किसी मरद पर भरोसा नईं। अजब जबरदस्त औरत... पंच सन्न रह गये थे। गजब मुँहजब्बड़ भाई...ई औरत है कि आफत... पंचायत मरदों के ही थी।

गाँव के लोग भी रंगेनी की जबर बोली से तिलमिला उठे थे। कानी गाय गौहत्या के भरोसे सारा खेत चरती जा रही थी। एक लाठी से सबको हाँकती रंगेनी सारे मरदों को गरिया रही थी और वह भी मरद समाज के मुँह पर...?

पहान, हातु-मुण्डा, बेचू तिवारी- सब बूझ गये थे कि अब इस मामले को अधिक गारने (निचोड़ने) से कोई लाभ नहीं। रंगेनी के लिए कुछ दवा-बीरो जरूरी हो गया है, नहीं तो गजलीठोरी के पंचायत की खिल्ली उड़ेगी। गाँव का हातु-मुण्डा है मंगरू ! मुखिया...। सबका मेठ। वह बन गया मुँह और बेचू तिवारी पेट...। बेचू तिवारी की सलाह यह रही कि जोंक दब नमक से ही मर जाए तो संखिया पर नकदी फेंकना बुड़बकाही (मूर्खता) है। राय-सलाह के बाद पंचायत का फैसला हातु-मुँण्डा ने सुनाया था।

आज से रंगेनी का हुक्का-पानी बंद...!"[56]

आदिवासी समाज में आपस में उत्पन्न विवादों को सुलझाना ही पंचायत का कर्तव्य नहीं होता, बल्कि उसका कर्तव्य यह भी होता है कि अपने ही समाज के किसी भी व्यक्ति पर कोई भी आपत्ति आने पर उसका सामना करने के लिए, तथा उसे उन मुसीबतों से निकालने के लिए पंचायत बुलाकर किस प्रकार उसका समाधान करना है आदि पर चर्चा की जाती है। जिसका जीता-जागता उदाहरण उपन्यास 'गगन घटा घहरानी' में मिलता है। जागो को जमींदार रायसाहब के आदमी जबरदस्ती उठाकर ले जाते हैं। तदोपरान्त पूरे इलाके में यह खबर फैलती है कि रायसहाब जागो को बाघ के घर में बंद कर दिया है। आखिर यह खबर सच है या झूठ का निर्धारण करने के लिए गाँव में पंचायत की बैठक होती है- "हम पंचमन पंचों को आज बुलाये कि ऐसे समय में क्या करना चाहिए। इस पर सोच-विचार करें।

पंचों के नेमू ने कहा- बोलो चैतू, तुम्हीं बताओ, तुम लोगों ने क्या देखा-सुना।

चैतू- हम तो सबको बता दिए। सबेरे बरवाडीह लकड़ी लेकर बेचने गये थे दोनों भाई। रास्ते में नाका पर

बरवाडीह के पाँड़े से भेंट हुई। उसने कहा उसके घर से माँ का हाल-चाल लेते आना इसलिए गये। पाँड़े बूढ़ी ने देखते ही कहा कि तुम्हारे गाँव के एक उराँव को गढ़ी में बाघ के घर में बन्द कर दिया है। हम को विश्वास नहीं हुआ। बाकी सोना हातू में भी तिकोड़ी साव के दोकान पर लोग ऐसे ही बोल रहे थे। गाँव में लौटकर देखा तो सच, जागो दादा नहीं था।

- चैतू सब के सामने अटक-अटक कर बोल रहा था।

- लोग झूठ-मूठ क्यों बोलेंगे, हम लोगों ने जो सुना था कह दिया। आँख से नहीं देखे हैं। दामुडू ने जोड़ दिया।

- लेकिन अगर बात झूठ निकली तो, झरू बूढ़ा ने शंका प्रकट की।

- 'तो जागो को पंख लग गया जो कहीं उड़ गया' कहीं से कोई दूसरा बोल पड़ा।

नहीं, झूठ नहीं कहते। लेकिन अपने सेवकिया को जान से क्यों मारेंगे ? जान मारने से उसका काम तो नहीं होगा न ? फिर जागो तो झगड़ालू भी नहीं है।

ठीक है हम झूठ बोलते हैं। जाओ, अपने से देख आओ। चैतू रूष्ट होकर बोल पड़ा।"[57] इस प्रकार पंचायत में सच और झूठ पर सोच-विचार करते हैं फिर भी वे किसी निर्णय पर नहीं पहुँच पाते हैं कि आखिर जागो के साथ हुआ क्या है। पंचायत में उपस्थित सोनाराम खड़ा होकर कहता है- "बात कर-कर के समय गँवाने से क्या होगा, दादा। फैसला करो। अगर सचमुच मार डाला होगा तो हम भी उन लोगों को नहीं चोड़ेंगे। हम गढ़ी में जाएँगे। ब्मपूछेंगे। अभी।"[58]

'बाजत अनहद ढोल' उपन्यास में आदिवासी पंचायत का नया रूप दिखाई देता है। अन्य उपन्यासों में विपदा या संकट के समय अथवा विवादों को सुलझाने के लिए पंचायत बुलाई जाती थी किन्तु इस उपन्यास में आदिवासी स्वयं अपने में नजर आ रही बुराइयों या कमियों को दूर करने का निर्णय लेने के लिए ही एकत्रित होकर पंचायत करते हैं। किन्तु यह पंचायत बुजुर्गों द्वारा बुलाई गई पंचायत नहीं थी। सभी को समझ में आ रहा था कि बुराई की जड़ उनकी अशिक्षा है। जोबा जब कुछ कहने के लिए खड़ी हुई तो सभी को अचरज हुआ। एक तरह से पंचायत जैसा ही माहौल था वहाँ। अभी तक गाँवों में किसी को दंड़ित करने के लिए पंचायत हुआ करती थी। अब लगता है, पंचायत कुछ सामाजिक परंपराओं को तोड़ने के लिए भी होगी, निर्णयों के लिए होगी। माँझी, सिंहमाँझी अथवा किसी मुखिया की बुलायी पंचायत यह नहीं थी। यह तो स्वतः कुछ नौजवानों के

विमर्श ने पंचायत का आकार ले लिया था। सबसे ज्यादा युवतियाँ इस विमर्श में अगुआई ले रही थीं। यहाँ तक की वीर सिंह भी चुप्पी साधे उनकी बातें गुन रहा था। उसने पूछा जिम्मेदीरी संभालने के लिए तैयार हो ? सब ने हामी भरी। फिर उसने कहा- कोई भी लड़ाई बुराई के खिलाफ शुरू होती है। हमारी यह लड़ाई अपढ़ता, शराब, जुआ और डायन, जादू-टोना के खिलाफ है। हमें सच्चे मन से कुछ प्रतिज्ञाएँ लेनी होंगी।"[59]

जनजातियों में सामाजिक कार्यक्रम सामाज के प्रमुख व्यक्ति के माध्यम से संपन्न किये जाते हैं। इन प्रमुखों के अलग-अलग जनजातियों में अलग-अलग नाम होते हैं। 'जंगल के फूल' उपन्यास में ग्राम अधिकारी के महत्व को बताया गया है। गोंडों में गाँव के नेता जिसे 'गायता' कहा जाता है।

विभिन्न समाजों में विवाह की रीतियाँ अलग-अलग होती हैं। सामाजिक संबंधों तथा सांस्कृतिक आधारों पर विवाह का स्वरूप बदलता रहता है। आदिवासी समाज में निर्धारित विवाह के लिए लड़कियों का दापा (दुल्हन की कीमत) चुकानी पड़ती है। कभी-कभी दापा की रासी इतनी अधिक होती है कि वर पक्ष की सामर्थ के बाहर की बात हो जाती है। ऐसी स्थिति में यह प्रथा आदिवासी समाज में एक कलंक के रूप में दिखाई पड़ती है। 'वन के मन में' उपन्यास में इस 'गोनों' प्रथा की समस्या को उठाया गया है।

सामाजिक संगठन की दृष्टि से आदिवासी समाज को अनेक समुदायों और अनेक आंतरिक क्रिया कलापों में विभाजित किया जा सकता है। समुदाय के रूप में पूरा समाज परस्पर सहयोग की भावना से संबद्ध होता है। सहयोग की यह भावना हर क्षेत्र में व्याप्त होती है। सामाजिक क्रिया कलापों के मूल में भी इसी भावना की प्रधानता है। आदिवासी समाज की यह विशेषता है कि यदि किसी व्यक्ति विशेष पर कोई आपत्ति आती है तो पूरा गाँव उस पर विचार करता है तथा उसका समाधान खोजता है। जिसका उल्लेख 'क्लावे' उपन्यासों में हुआ है। 'गगन घटा घहरानी' उपन्यास में भी सामुदायिकता की झलक मिलती है। जागो पर आई मुसीबत को दूर करने के लिए सब एकत्रित होकर कुछ करने के लिए विचार-विमर्श करते हैं। इसी प्रकार कई अन्य उपन्यासों में जैसे 'बाजत अनहद ढोल', 'धूणी तपे तीर', 'जंगल के फूल' आदि उपन्यासों में संदर्भ अनुसार सामुदायिकता की भावना दिखाई देती है। यह सामुदायिकता की भावना ने ही आदिवासियों में विद्रोह लाने में

बड़ी भूमिका निभाई है। मुख्य रूप से आदिवासियों द्वारा किये गये विद्रोह को केन्द्र में रखकर लिखे गये उपन्यासों में सामुदायिकता की भावना दिखाई पड़ती है।

हिन्दी में आदिवासी जीवन को केन्द्र में रखकर लिखे गये कुछ उपन्यासों में पंचायत को प्रमुख स्थान दिया गया है। जगह-जगह पर इसका वर्णन है। पंचायत उनके सामाजिक संगठन के रूप में उभर कर सामने आता है। पंचायत में किसी भी प्रकार की समस्या का समाधान के लिए अर्थात् घरेलू झगड़े, विवाह-विवाद, तलाक, चोरी, ठगना, आरोप लगाना आदि विषयों पर पंचायत सक्रिय रूप से विचार विमर्ष कर अपना फैसला सुनाती है। 'रेत' उपन्यास में कंजर जनजाति के जीवन को केन्द्र में रखकर लिखा गया है, उपन्यास के विविध संदर्भों में पंचायत का उल्लेख हुआ है। 'रेत' उपन्यास में पंचायत का महत्व को बताया गया है उसी प्रकार पंचायत के महत्व को 'सूरज किरण की छाँव धूणी तपे तीर उपन्यों में भी चित्रित है। आदिवासी समाज में पंच उस समाज बड़े लोग ही होते हैं। 'पठार पर कोहरा' और जंगल के आसपास उपन्यास में उपन्यास में स्थिति कुच ऐसी है कि गैर आदिवासी भी पंच के रूप में उपस्थित हैं। लेखक ने पूरी सावधानी के साथ इस प्रसंग का उल्लेख किया है। सदान या दीकू भी पंचायत में उपस्थित होने के कारणों को
विवरणात्मा रूप से प्रस्तुत किया है जो हम उपन्यास में देख सकते हैं। इस प्रकार बाहरी लोगों का हस्तक्षेप आदिवासी पंचायत व्यवस्था पर दुष्प्रभाव डालती है। उपन्यास में चित्रित पंचायत के प्रसंग से हम अनुमान लगा सकते हैं कि दीकू किस प्रकार आदिवासियों के जीवन से खेलते हैं, खासकर औरतों के संदर्भ में।

आदिवासी समाज में आपस में उत्पन्न विवादों को सुलझाना ही पंचायत का कर्तव्य नहीं होता, बल्कि उसका कर्तव्य यह भी होता है कि अपने ही समाज के किसी भी व्यक्ति पर कोई भी आपत्ति आने पर उसका सामना करने के लिए, तथा उसे उन मुसीबतों से निकालने के लिए पंचायत बुलाकर किस प्रकार उसका समाधान करना है आदि पर चर्चा की जाती है। जिसका जीता-जागता उदाहरण उपन्यास 'गगन घटा घहरानी' में मिलता है।

'बाजत अनहद ढोल' उपन्यास में आदिवासी पंचायत का नया रूप दिखाई देता है। अन्य उपन्यासों में विपदा या संकट के समय अथवा विवादों को सुलझाने के लिए पंचायत बुलाई जाती थी किन्तु इस उपन्यास में

आदिवासी स्वयं अपने में नजर आ रही बुराइयों या कमियों को दूर करने का निर्णय लेने के लिए ही एकत्रित होकर पंचायत करते हैं।

3.3. धार्मिक संदर्भ

धर्म अलौकिक शक्ति पर विश्वास का नाम है। धर्म आस्था से संबन्धित धारणा है। भारतीय वन्य जातियों में धर्म पर आस्थाओं की अनेक मान्यताएँ प्रचलित हैं। इन मान्यताओं में आस्थाओं से संबन्धित मान्यताएँ सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। जीवित तथा मृत व्यक्तियों के बीच के भेद को वन्यजातियाँ आत्मा की शक्ति मानते हैं। स्वतंत्र आत्मा शरीर के बाहर विचरण करती है और शरीर-आत्मा जो शरीर के भीतर रहती है अतः मृत्यु होने पर विलीन हो जाती है। वन्य समाज में यह विश्वास पाया जाता है कि आत्मा की यह शक्ति केवल शक्ति ही नहीं बल्कि पशु-पक्षी में भी पाई जा सकती है। आवाज के गूँजने, परछाई दिखाई पड़ने तथा आँसू के निकलने में भी अभौतिक घटनाओं के दर्शन किए जाते हैं। आत्माओं को संसार का नियंत्रक माना जाता है। वे मनुष्य के वर्तमान, भूत तथा भविष्य की निर्णायक होती है। इसी लिए आत्मा की पूजा होनी चाहिए।

धर्म में दूसरा प्रमुख पक्ष 'चेतना' या 'जीवित सत्ता' का है प्रत्येक पदार्थ (जड़ या चेतन) में इस सत्ता की स्थापना मानी जाती है। कुछ विद्वानों के अनुसार धर्म का यही रूप प्रारंभिक मानव को स्वीकृत हुआ था। सत्ता की इस मान्यता को आत्मा के साथ भी जोड़ा गया। आत्मा को नहीं अपितु आत्मा की सत्ता का मूलाधार माना गया। यह वह अलौकिक शक्ति है जिस कि जानकारी व्यक्ति को इन्द्रियों के माध्यम से नहीं हो सकती। इस सत्ता पर विश्वास करने से भला हो सकता है और अविश्वास करने से हानि की संभावना रहती है। यह आस्था

वन्य समाजों में पाई जाती है।

प्रकृति-पूजा आदिवासियों की एक प्रमुख धार्मिक विशेषता है। प्रकृति के वे विभिन्न उपांगों जो मनुष्य को किसी न किसी रूप में लाभ या हानि पहुंचाते हैं वे पूजा के मूलाधार हैं। लाभ पहुँचाने वाले प्राकृतिक पक्षों की पूजा करके उन्हें प्रसन्न रखने की मान्यता तथा हानि पहुंचाने वाले पक्षों की पूजा करके उनके कोप से मुक्त रहने की मान्यता बलवती होती है। सूर्य, चाँद, तारे, पर्वत, नदी, जल, पेड़, अग्नि, वायु, आँधी, बादल तथा बिजली की पूजा इसी भाँति धार्मिक आस्था का प्रतीक है। सभ्य समाज की ही भाँति आदिवासी समाज में भी पवित्रता, शुद्धता तथा श्रद्धा एवं भक्ति की मान्यता धर्म के साथ जुड़ी रहती है। पवित्र तथा अपवित्र के भेद के लिए टोटम की मान्यता प्रचलित है। यह टोटम काल्पनिक हो सकता है और वास्तविक भी। पशु-पक्षी या पेड़-पौधों से संबन्धित इस टोटम की धारणा में गूढ़ अलौकिक तथा पवित्र संबन्धों को स्वीकृत किया जाता है। टोटम की शक्ति को व्यक्ति तथा कबीले का संरक्षक माना जाता है। उसके वध, उस पर प्रहार तथा उसके भक्षण पर भी निषेध होता है। टोटम के चित्र तथा चिन्ह को धारण करना शुभ माना जाता है। टोटम - पशु की खाल, टोटम पक्षी के पंख तथा टोटम - पेड़ की छाल को अत्यन्त पवित्र माना जाता है। शादी, जन्म उत्सवों के अवसर पर टोटम का विशेष स्मरण तथा विशेष सम्मान किया जाता है। भारतीय वन्य जातियों में गेण्डा, मछली, कौवा, बरगद, बबूल, कबूतर, अबाबील, नीम, आम, बिल्ली तथा बाज़ आदि प्रमुख टोटम हैं। वन्यजाति समाज में धर्म की धारणा व्यक्तिगत नहीं होती, उसका केवल सामाजिक तथा सामूहिक पक्ष होता है। धर्म के व्यवहारिक पक्ष में विधि-विधानों तथा संस्कारों की परम्परा प्रचलित है। बच्चे के जन्म के पूर्व अर्थात् गर्भवती स्त्री के साथ विभिन्न धार्मिक संस्कार किए जाते हैं। अनेक पूजा पद्धतियों द्वारा गर्भस्थ शिशु की शुभकामनाएँ की जाती हैं। गारो जनजातियों में स्त्रियों द्वारा सामूहिक गुहार के माध्यम से सूर्य देवता का आह्वान किया जाता है कि बच्चे की आँखों को रौशनी दो, प्रसव पीड़ा से मुक्त रहने में कमार वन्य जातियों में देवी-देवताओं को बलि चढ़ाकर उसकी एक टाँग को शिशु के हाथ में रखना शुभ माना जाता है। खासी जनजातियों में मकान के दरवाजे तथा नवविवाहित दम्पतियों के बिस्तर के नीचे मछली के कंकाल को रखना शुभ सूचक माना जाता है। अबूझ माड़ों में बच्चे के नामकरण के समय पूरा समारोह होने तक बच्चे के माता-पिता लगातार अपने टोटम का नाम जोर-जोर से दोहराते रहते हैं।

धार्मिक गुरु अर्थात् पुरोहित को समाज में अत्यन्त उच्चस्थान प्राप्त रहता है। उसे दैवी शक्तियों से युक्त माना जाता है। और उनका निराकरण केवल पुरोहितों द्वारा ही संभव है। वे वन्यजातियों के पथ प्रदर्शक माने जाते हैं। धार्मिक उत्सवों में उनकी उपस्थिति अनिवार्य मानी जाती है। पुरोहितों के साथ पवित्रता की मान्यता इस सीमा तक प्रचलित होती है कि पुरोहित पद पर रहते हुए वे विवाह नहीं कर सकते। यौन संबन्धों की धारणा पुरोहित वर्ग के लिए निषिद्ध मानी जाती है।

धर्म की कई विशेषताएँ हैं, भारतीय जनजातियाँ धर्म की विशेषताओं को विशेषताओं के रूप में नहीं बल्कि अपनी धार्मिक मान्यताओं के रूप में स्वीकार करते हैं। धार्मिक-विशेषता के दो पक्ष होते हैं। बाह्य पक्ष, आंतरिक पक्ष। धर्म के आंतरिक पक्ष में प्रार्थना की प्रथा, धार्मिक उत्सव, स्तुतियाँ आदि आती हैं जिसके माध्यम से धार्मिक विश्वास अभिव्यक्त किया जाता है। धर्म के आंतरिक पक्ष में विचार, समूह संवेग व भावनाएँ, धार्मिक प्रथाएँ तथा मानव के ईश्वर से संबधी के बारे में विश्वास आदि सम्मिलित रहती हैं।

धर्म विश्वास पर आधारित है। विश्वास ही धार्मिकता के रूप को ईश्वर की मान्यता देता है। और विश्वास के कारण ही मानव इस उच्च शक्ति को पूजता है और उससे भयभीत होता है। धर्म मानव शक्ति से अधिक श्रेष्ठ है। इसमें मानवीय कार्यों को निर्देशित तथा नियंत्रित करने की क्षमता है। इसी विश्वास के कारण मानव अनैतिक कार्यों को करने से डरता है। धर्म की प्रेरणा आंतरिक है। बाह्य रूप से धर्म पर आस्था रखने को बाध्य नही किया जा सकता उसका पालन आन्तरिक अनुभूति के कारण होता है।

धर्म में पवित्रता और आदर के साथ-साथ भय की धारणा भी निहित है। इसी भय की धारणा के कारण ही मनुष्य अनैतिक कार्य करने से भयभीत रहता है। धर्म के साथ-साथ पवित्रता की बात जुड़ी रहती है। धार्मिक विश्वासों, वस्तुओं एवं स्थानों में पवित्रता का भाव निहित रहता है। इसके फल स्वरूप ही मानव इनके प्रति आदर प्रकट करता है। धार्मिक विश्वासों को अभिव्यक्त करने की क्रियाएँ भी धर्म में होती हैं। पूजा-पाठ, आराधना, प्रार्थना आदि विभिन्न क्रियाएँ धार्मिक विश्वासों को प्रकट करने के तरीके हैं। इन तरीकों में अलग-अलग जनजातियों में भिन्नता पई जाती हैं। पवित्रता, आदर, भय की अवधारणा, विश्वासों की आन्तरिक अनुभूति के कारण धर्म मानव समाज का सर्व श्रेष्ठ मूल्य है। सभी रिवाजों, विश्वासों और अभिव्यक्तियों में धर्म

श्रेष्ठ रिवाज, श्रेष्ठ विश्वास तथा श्रेष्ठ अभिव्यक्ति है। वन्यजातियों के श्रेष्ठ धार्मिक विश्वास, मान्यता, आस्था व श्रेष्ठ अभिव्यक्ति ही अन्य लोगों से अलग पहचान कराती है।

भारत में जनजातीय धर्मों की व्याख्या जीववाद (एनीमीजम) के रूप में की गयी है। जीववाद धर्म का वह अत्यन्त अपरिष्कृत रूप है जिस में जादू की प्रमुखता होती है। इसके अनुसार मनुष्य प्रेतात्मक शक्तियों के समूह से घिरे जीवन से गुजरती वस्तु है। वे प्रेतात्माएँ ऐसी वस्तु है जो आधारहीन हैं, विशेषकर व्यक्तिहीन हैं। इनमें से कुछ जीवन के कुछ विशेष भागों में ऊपर या प्रभाव के दायरे के ऊपर संचालित करने के लिए जाती हैं। अतः हम लोगों में वैसी जीवात्मा है जो हैजा, एवं चेचक पर आधिपत्य रखती हैं। खतरे से बचने के लिए जो इनके प्रभाव के द्वार पैदा होता है, उन्हें खुश किया जाता है। आरम्भिक भारतीय एवं पुराने विदेशी जनवृतान्त शास्त्रियों ने जनजातियों का चित्रण इसी प्रकार किया है।

3.3.1. जनजातीय धर्म की विशेषताएँ

धार्मिक विश्वास का तात्पर्य है 'अलौकिक शक्तियों में विश्वास'। इस दृष्टिकोण से भारत की जनजातियों के धार्मिक विश्वास एक समान नहीं हैं। विश्वासों के विविध रूप होते हैं। विभिन्न क्षेत्रों के जनजातियों के बीच अध्ययनों के आधार पर निम्नलिखित विश्वासों की चर्चा अपेक्षित है-

1. जीववाद
2. बोंगावाद
3. प्रकृतिवाद
4. टोटमवाद
5. वर्जना
6. जादू
7. पूर्वजपूजा
8. बहुदेववाद

उपरोक्त विविध विश्वासों पर चर्चा करने से पहले धार्मिक विश्वासों को किसके संरक्षण में किया जाता है, इसकी जानकारी देना जरूरी है। धार्मिक कृत्य किस प्रकार प्रचलित होते हैं इसका भी विवरण जरूरी है।

3.3.1.1. जीववाद

जीववाद में विश्वास जनजातियों की एक सार्वजनिक विशेषता है। उन लोगों के लिए सभी स्थान जीवात्माओं के स्थान हैं। जानवरों, पौधों, वृक्षों, तालाबों, नदियों, पत्थर, पहाड़ सभी में जीव का निवास स्थान है। मृतक इसके अपवाद नहीं हैं, क्योंकि वे आत्मा के रूप में रहते हैं या संतानों के रूप में उसकी पुनः उत्पत्ति होती है।

सभी जनजातियों के लिए चाहे वे प्रमुख जनजातियाँ- संथाल, मुण्डा, उराँव हो या छोटी जनजातियाँ बिरहोर, चेंचू या जंगल में शिकार करने वाली दक्षिण भारत की जनजातियाँ हो, उनके लिए पूरा संसार जीवात्मामय है। मध्य भारत में संथाल एवं उराँव अपने मृतक की आत्मा की उपस्थिति में विश्वास करते हैं। उनकी पूजा की जाती है। संथाल परगना के मालेर में अलौकिक प्राणी के प्रति दृढ़ विश्वास पाया जाता है। इनके अनुसार बीमारी, अकाल, पानी की कमी, जमीन की कम ऊर्वरा शक्ति, फसल की कम उपज, अधिक मृत्यु आदि ये सब तभी होता है जब अलौकिक प्रणी या दुष्ट जीवों की यथोचित पूजा नहीं होती एवं समय पर बलि नहीं दी जाती।

3.3.1.2. बोंगावाद

मजूमदार जनजातियों के मूल विश्वासों को अहितकारी जीवात्मा एवं शक्तियों के विश्वास के रूप में मानते हैं, जो मनुष्यों के नियति को सिद्धांत पर आधारित है। 'हो' लोग 'बोंगा' को एक शक्ति मानते हैं, जो सर्वत्र है कि यह कोई भी रूप या आकार ले सकता है। यह शक्ति सभी पशुओं एवं पौधों को जीवन प्रदान करती है। यह पौधे को बढ़ाने में उत्साहित करती है। यह वर्षा करती है, आँधी, ओला, बाढ़ और ठंडक लाती है। यह बुराइयों का विनाश करती है, महामारी को रोकती है, रोगों को ठीक करती है। नदियों की धारा को प्रभावित करती है, सर्पों को विष और बाघ, भालुओं एवं लोमड़ियों को शक्ति देती है। जिस प्रकार 'हो' बोंगा को शक्ति मानते हैं उसी प्रकार संथाल भी बोंगा को भूत देवता मानते हैं जिसको संतुष्ट करने के लिए अनेकानेक रूप से कोशिश करते हैं। बोंगा के प्रसंग में 'बाजत अनहद ढोल' उपन्यास में बताया गया है कि- "बोंगा बराबर भूखा रहता है, असंतुष्ट और क्रोधी होता है, जो इन्हें (संथाल आदिवासियों को) दंढ़ित करने की

कोशिश करता है और पूरा चावल, मुर्गियाँ और हँड़िया लेने के बाद ही संतुष्ट होता है। इनकी मान्यता है कि मरने के बाद कोई भी पूर्वजों की श्रेणी में आकर बोंगा हो जाता है। प्रत्येक का बोंगा अलग-अलग भी हो सकता है। उसकी पूजा-अर्चना करना, बलिदान देना और भोजन कराना संथाली की नियति बन जाती है।"[60]

3.3.1.3. प्रकृतिवाद

आदिवासियों का सारा जीवन प्रकृति पर ही आधारित है। स्वभाव से कृतज्ञ होने के कारण ये वनवासी प्रकृति के प्रत्येक उपादान के प्रति अपनी कृतज्ञता अनेक रूपों में प्रकट करते रहते हैं। हरे-भरे वृक्ष इन्हें जीवन की हरीतिमा प्रदान करते हैं, काले-काले मेघ जल देकर इन अरण्यवासियों की प्यास भुजाते हैं, सूर्य आकाश में चमककर इनकी अंधकारमयी नींद को प्रातः समाप्त करता है, चन्द्रमा अपनी शीतल किरणों से वन-पुत्रों की उष्णता को शांत करता है, सर-सरिताएँ जीवन शक्ति देकर आदिवासियों को आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करती हैं तथा सस्य-श्यामल धरती की आर्दता को सुरक्षित रखती हैं, धरती मैया अन्न-फल-फूलादि देकर इनकी भूख शांत कर अपने अस्तित्व को सफल बनाती है, पशु-पक्षी नृत्य-गान कला की शिक्षा देते हैं, ऊँचे-ऊँचे पर्वत इन गिरिजनों के थके पैरों में नवोल्लास भरते हैं। ऊँचाई से थिरक-थिरककर धरातल पर गिरने वाले झरने लोक-जीवन-विषयक नई उमंगों को जन्म देते हैं एवं आँधी और तूफान वनवासियों के नैराश्य को उत्थान में परिणत करते रहते हैं। इस प्रकार प्रकृति के समस्त उपकरण या उपादान किसी-न-किसी रूप में वन्य जातियों को उपकृत करते हैं। फलतः इन प्रकृति पुत्रों ने प्राकृतिक संसार में विविध देवी देवताओं की स्थापना कर अपने चिरंतन आभार को साकार बनाया है।

सूर्य-पूजा, चन्द्र-पूजा, वृक्ष-पूजा, पशु-पक्षी-वंदना, पर्वत-आराधना, धरती-स्तुति, नक्षत्रों का दर्शन, जलाशयों के प्रति श्रद्धा आदि प्रायः समस्त आदिवासी समाज में प्रचलित है। सामाजिक एवं धार्मिक उत्सवों में प्रकृति देवी की अर्चना अनिवार्य मानी गई है।

पुराने वृक्षों में देवी-देवताओं का निवास मानकर पूजा जाता है। पुरातन तालाबों में, गहरे जल प्रवाहों में तथा सन-सन करती हुई आँधी में भूत-प्रेतादि का विश्राम-स्थल माना गया है। परिणाम स्वरूप इन सबके प्रति

निष्ठा रखना एवं समय-समय पर इनकी पूजा करना आवश्यक माना गया है। इन भोले-भाले वनवासियों की यह दृढ़ आस्था है कि विपत्ति के क्षणों में ये देवता, भूत-प्रेतादि रक्षा करते हैं और प्रसन्न होकर सुख-समृद्धि का वरदान देते हैं। लेकिन अप्रसन्न हो जाने पर ये अद्‌भुत शक्तियाँ विनाश के दृश्य उपस्थित करने में लेशमात्र भी नहीं हिचकती हैं। यह प्रकृति-पूजा प्राचीन है। डॉ. ललिता प्रसाद विद्यार्थी का कथन इस संदर्भ में विशेषतः उल्लेखनीय है। वे लिखते हैं- "प्रकृति की पूजा एक दूसरे प्रकार के विश्वास से भी संबद्ध है। जो जनजातियों में पाई जाती है। सूर्य, चन्द्रमा एवं प्रुथ्वी या तारे रचयिता या सर्वशक्तिमान समझे जाते हैं और आदिवासी इन्हीं की पूजा करते हैं।"[61] संथालों के संदर्भ में 'बाजत अनहद ढोल' में बताया गया है कि- "इस जनजाति का न कोई धर्म ग्रंथ है, न ही ये मंदिर बनाकर मूर्ति पूजा करते हैं। पहाड़, नदी, तालाब, गुफा ही इनका ईश्वर, देवता और श्रद्धा है।"[62] उपन्यास में एक अंग्रेज सरकारी अफसर पोटेंट भोगनाड़ीह गाँव में चर्च बनाने की बात कहने पर गोको (आदिवासी) कहता है- "नाम जरूर सुना है चर्च का। मगर नहीं मालूम यह क्या है ? पोटेंट कहता है 'चर्च हम ईसाइयों का प्रार्थना स्थल है।' जवाब में गोको कहता है "हमारा तो कोई मंदिर-चर्च नहीं होता। हम तो खुले आकाश के नीचे ही पहाड़, नदी, पेड़, कन्दरा को अपना प्रभु जानते हैं।"[63] इसी प्रकार 'वनलक्ष्मी' उपन्यास में प्रकृति पूजा का प्रसंग मिलता है। शिवदत्त, जंबीरा और उनके साथी जंगल से गुजरते समय उन्हें एक विशाल वृक्ष दीख पड़ता है। उस पर चढ़ाये गये अक्षत-फूल दिखाते हुए जंबीरा कहता है- "आस पास के आदिवासी इस पेड़ की पूजा करते हैं।"[64] इससे यह स्पष्ट होता है कि आदिवासी हमेशा प्रकृति को ईश्वर मानकर पूजा करे हैं। जंबीरा की इन बातों को सुनते ही शिवदत्त सोचते हैं कि- "क्यों न पूजा करें जब अनायास मस्तक नत हो जाता है उस अलौकिक अचिन्त्य शक्ति के सम्मुख जिसकी सृष्टि यह अद्‌भुत वृक्ष है। इसी शक्ति को कोई प्रकृति कहता है, कोई परमात्मा कहता है। आदिवासी इसे बोंगा कहते हैं, जिसका अर्थ देवता या भूत प्रसंगानुकूल दोनों होता है।"[65]

3.3.1.4. टोटमवाद एवं निषेध

आज तक जीवित प्राचीन जनजातियों की लगभग सार्वभौम विशेषता यह है कि लोगों ने अपने, कबीलों

के, प्रदेशों के नाम पशुओं या पेड़-पौधों के नाम पर रखे। इस प्रकार जानवरों या पौधों के नाम रखने की प्रथा प्रतीक पूजावाद 'ओअमिज्म' अथवा 'टोटमवाद' कहलाती है। 'टोटम' शब्द अमेरिका की आजिबवा जनजाति की बोली के एक शब्द के आधार पर बना है। मोर्गन का कहना है कि- "ओजिबवा बोली में टोटम शब्द का उच्चारण बहुधा 'डोडेम' किया जाता है और इसका अर्थ है प्रतीक या कबीले का परिचय चिह्न।"[66] जैसा कि बाद में लिखी पुस्तकों में बताया गया है, टोटमवाद आस्ट्रेलिया की अल्प विकसित शिकारी जनजातियों में अब भी पूरी तरह विद्यमान है। यह अमेरीका, मेलानेशिया, अफ्रीका, भारत और एशिया के अन्य भागों में रहने वाली अधिक विकसित जनजातियों में भी थोड़े बहुत अपभ्रष्ट रूप में दिखाई देता है।

संक्षेप में टोटमवाद को इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं- "जनजाति में सम्मिलित प्रत्येक कबीले का संबन्ध किसी पशु या पौधे से होता है जो उसका प्रतीक चिह्न टोटम कहलाता है। कबीले के सदस्य स्वयं को अपने टोटम जैसा और उसका वंशज मानते हैं। टोटमवाद के साथ कुछ निषेध और निश्चित प्रतिबंध भी जुड़े होते हैं।"[67] यह ध्यान देने योग्य है कि टोटमवाद अथवा प्रतीक पूजावाद आज भी ऐसे लोगों में विद्यमान है जो जनजातीय स्थिति से बहुत आगे निकल चुके हैं। इस प्रकार के अवशेषों से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि ये लोग आज चाहे विकास के किसी भी चरण में पहुंच चुके हों, लेकिन इनके पूर्वज किसी न किसी समय में प्रतीक पूजावाद के विकास चरण में रहे होंगे। जैसा कि थामसन ने कहा- "भारत, यूरोप, अरब-यहूदी और चीनी लोगों में कई ऐसी प्रथाएँ और संगठन हैं जिनका प्रारम्भ टोटमवाद अथवा प्रतीकवाद से हुआ। ये सभी लोग आज भी या पहले कभी जनजातियों के रूप में संगठित हुए होंगे और इसलिए यदि यह सिद्ध किया जा सके कि टोटमवाद जनजातीय प्रणाली की निहित विशेषता है तो इस धारणा की काफी पुष्टि हो जायेगी कि ये लोग भी पहले प्रतीक पूजक थे।"[68]।

आदिवासियों के गोत्र-चिन्हों का अध्ययन बड़ा रोचक है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मानव किस प्रकार अपने इर्द-गिर्द के वातावरण से प्रभावित होता है तथा किन-किन रूपों में वह उन पदार्थों, पशु-पक्षियों, पेड़-पौधों, कीट-पतंगों, पर्वत-सरोवरों एवं विशिष्ट पल्लव-फलों से आतंकित, अभिभावित और अविभूत होता है, जिनके बीच वह विचरण करता है तथा जिनसे वह निरंतर उपकृत होता रहता है।

गोत्र-चिह्नों के प्रति जो इन अरण्य मानवों में स्नेह-प्रीति एवं आदर की भावना के साथ भय है, इसका भी कुछ कारण है। आदिमानव ने अज्ञानवश कई अंध-विश्वासों को अपनाया, उन्हें पल्लवित किया और उनके आधार पर कई ऐसी मान्यताओं की ओर वह आकृष्ट हुआ, जिनमें वास्तविक तथ्य कुछ भी नहीं है। लेकिन भय आशंका आदि मनोविकार अवश्य विद्यमान हैं। यह सब कुछ होने पर भी यह तो मानना उचित ही है कि गोत्र-चिन्हों के कारण सैकड़ों वन्य पशु विनाश से बचे और हजारों पादप-पुष्प कुठाराघात से। गोत्र-चिह्नों का उद्भव यह इंगित करता है कि आदिवासी बड़े कृतज्ञ होते हैं और वे अपने उपकारी, संरक्षक तथा कल्याणकारी के प्रति इतनी अधिक श्रद्धा प्रदर्शित करते हैं कि वे उसे देवता के रूप में मानने लगते हैं। गोत्र-चिह्नों की स्वीकृति में कृतज्ञता एवं भय दोनों का एकीकरण स्वीकारा गया है।

आदिकाल का मानव जब अपने वंश की लड़ी को लेकर बैठता था, तो पीछे की तरफ ढूंढ़ते-ढूँढ़ते कई जनजातियाँ सूर्य-चन्द्र तक पहुँच जाती थीं। कोई अपना उद्भव सूर्य से, कोई चंद्र से मानने लगती थीं, वे अपने आप को सूर्यवंशी या चन्द्रवंशी कह देती थीं। कोई तो किसी वृक्ष को अथवा किसी पशु-पक्षी को वंश का आदि-प्रवर्तक कल्पित कर लेती थीं। भारतीय जनजातियों के लिए टोटमवाद एक सामान्य विशेषता है। उनमें से अधिकतर पशुओं के अतिरिक्त पौधों के साथ अपने रहस्यात्मक सम्बन्ध में विश्वास करते हैं। अब यहाँ प्रश्न उठता है कि यह परम्परा कैसे आगे बढ़ी ? जिसके संदर्भ में भारतीय आदिवासी समूह में अनेक मिथक प्रचलित हैं। कहा जाता है कि- "किसी आदिवासी की रक्षा सर्प-आक्रमण से मयूर ने की थी। अतः संबंधित आदिवासी समूह का गोत्र-चिह्न मयूर (मोर) माना गया। इसी प्रकार एक समय एक आदिवासी का शिशु जंगल में सो रहा था। सूर्य की उष्ण किरणें उसके मुख पर पड़ रहीं थी। सहसा एक सर्प आया और उसने अपने फन को बच्चे के मुख पर फैलाकर अपनी दया का परिचय दिया। फलतः कुछ आदिवासियों का गोत्र-चिह्न सर्प बन गया।"[69]

एक समय की बात है- "एक विवाहिता युवती ने बेरी के कुछ मीठे फल खा लिए और वह गर्भवती हो गई। नव मास के उपरान्त वह एक सुन्दर पुत्र की माता बनी। पुत्र के पिता ने बेरी वृक्ष की पूजा की और उसे अपने गोत्र-चिह्न के रूप में स्वीकार भी किया। धीरे-धीरे आदिवासियों के एक समूह ने बेरी गोत्र से अपनी प्रसिद्धि की।"[70] एक कथा में बताया जाता है कि- "वर्षा ऋतु में एक समय अधिक वर्षा हुई और नदियों में बाढ़

आ गई। कुछ वनवासी विशेष कार्यवश एक नदी को पार करके दूसरे गाँव में जाना चाहते थे। किनारे पर खड़े होकर उन्होंने नाविक को बुलाया लेकिन वह चढ़ी हुई नदी में नाव उतारने को तैयार न हुआ। इतने में एक मगर अपने साथी कछुए को लेकर तट के पास आया। कुछ समय के बाद एक बड़ी लंबी मछली भी वहाँ आ पहुँची। आदिवासियों की प्रार्थना सुनकर मगर ने कुछ आदिवासियों को अपनी पीठ पर बैठाकर नदी के दूसरे तट पर पहुँचाया और दो-चार आदिवासियों को कछुए ने अपनी पीठ पर लादा। इसी प्रकार मछली ने भी अपनी पीठ पर कई आदिवासियों को बैठाकर नदी के उस पार उतारा। उपकृत इन आदिवासियों ने अपने आभार को प्रदर्शित करते हुए मगर, कछुए एवं मछली को गोत्र-चिह्नों के रूप में स्वीकार किया।"[71]आदिवासियों के इस प्रकार हजारों गोत्र-चिह्न हैं। इनमें से कुछ प्रमुख निम्नलिखित हैं- शेर, मगर, कछुआ, बंदर, रीछ, लकड़बग्घा, मछली, चुहिया, गिलहरी, बगुला, हँस, सूअर, साँड़, चन्द्रमा, सूर्य, नक्षत्र, सेमल का पेड़, मोर, नेवला, साँप, मृग, सेही, चीता, साल वृक्ष, चूहा, बकरा, नदी, आम का पेड़ आदि।

इस प्रकार उपजाति अथवा धर्म-विशेष के परिचायक ये गोत्र-चिह्न आदिवासियों की आस्था-निष्ठा के अपरिहार्य अंग हैं, जिनका विधिवत् अनुशीलन वन्य-संस्कृति के परिज्ञानार्थ आवश्यक है।

अब निषिद्ध के संबंध में चर्चा अपेक्षित है। अंग्रेजी में निषेध शब्द का पर्यायवाची शब्द है टैबू। निषेध अमुक कार्य न करने अथवा अमुक पदार्थ न खाने का संकेत करता है। मानव जीवन में हजारों ऐसे कार्य हैं जो सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टि से निषिद्ध हैं, उन्हें करना अहित माना गया है। सैकड़ों पदार्थों को अखाद्य तथा अभक्ष्य कहकर तिरस्कृत किया जाता है। आदिवासियों में इस नकारात्मक सामाजिक नियम को तोड़ने वालों को दंडित किया जाता है। मान्यता है कि ऐसे व्यक्ति देवी-देवताओं के कोप-भाजन बनते हैं। स्त्री-पुरुष दोनों के लिए कुछ निषेध हैं। प्रत्येक समाज में निषेधों की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। इस प्रकार के निषेध शैशव, किशोरावस्था, वृद्धावस्था में तो विचाणीय हैं ही- जन्म, नामकरण, विवाह, मरण आदि के समय इन पर अधिक सावधानी रखी जाती है। आदिवासियों के कुछ निषेध इस प्रकार है-

1. गोत्र-चिह्न वाले पशु-पक्षियों का मास-भक्षण नहीं करनी चाहिए।

2. गोत्र चिन्हों का अनाधर करना उचित नहीं है।

3. देव-मंदिरों के समीप खड़े हुए वृक्षों को नहीं काटना चाहिए क्योंकि इनमें देवी-देवताओं का निवास है।

4. एक ही गोत्र में विवाह वर्जित है।

5. टोटम के पशु-पक्षी की मृत्यु होने पर संबंधित जनजाति को अपने सगे-संबंधी की भाँति शोक मनाना चाहिए एवं उसके शव को विधिवत् जमीन में गाड़ना चाहिए।

6. टोटम संबंधी पशु-पक्षी रक्षक होते हैं तथा समय-समय पर स्वप्नों द्वारा भावी संकटों का बोध कराते रहते हैं। फलतः इनकी पूजा करते समय किसी प्रकार की अनास्था किसी भी रूप में प्रकट नहीं करनी चाहिए। वरन् इनके रक्षार्थ निरंतर प्रयत्नशील रहना आवश्यक है।

7. टोटम चिह्नों को शरीरद्म के विभिन्न अंगों पर गुदवाना धार्मिकता का द्योतक है। अतः ऐसे गुदना की वंदना करके ही शुभ कार्य करना सर्वथा उचित है एवं ऐसे व्यक्ति को (जिसके शरीरावयवों पर गोत्र-चिह्न अंकित हो) सर्वदा अधार्मिक तथा असामाजिक कृत्यों से दूर रहना चाहिए।

8. गोत्र-चिह्नों का स्मरण किये बिना मदिरापान वर्जित है।

9. धार्मिक एवं सामाजिक उत्सव-नृत्य आदि के क्षणों में गोत्र-चिह्नों की अवहेलना कदापि वांछनीय नहीं है।

10. टोटम संबंधी वृक्ष-पुष्प-लतादि को काटना वर्जित है।

11. जंगल में भ्रमण करते समय गोत्र-चिह्नों को देखकर प्रत्येक आदिवासी नर-नारी को अपने पूर्वज के रूप में वंदना करनी चाहिए, न कभी थूकना चाहिए, न भागकर पीठ दिखानी चाहिए और न कभी अस्त्र-शस्त्र का प्रदर्शन करना उचित है।

इस प्रकार निषेध एक दूसरे प्रकार का धार्मिक विश्वास है जो किसी विश्वास की नकारात्मक प्रथा है। लोगों के लिए निषेध अंधविश्वास बन गया है। कुछ लोग निषेध को पवित्र-त्रास मानते हैं जिस के अनुसार वर्जित वस्तु में दानवी शक्ति छिपी रहती है। निषेध में धार्मिक पक्ष पर विचार करते हैं और उसे धार्मिक पुरूषों तथा पूजा के स्थानों की रक्षा की वस्तु मानते हैं। वह अधर्म को फैलाने से रोकती है। उनके मतानुसार बोंगा के विचार द्वारा निषेध की पवित्रता प्रेरित होती है। जनजातियों का विश्वास है कि निषेध का उल्लंघन करने से उन लोगों पर कोई भयानक विपत्ति आ सकती है।

विडम्बना यह है कि आदिवासियों के धार्मिक पहलू में टोटम और निषेधों का महत्व होने पर भी हमारे उपन्यासकारों ने इन विषयों पर ध्यान नहीं दिया और ना ही उन्होंने अपने उपन्यासों में इस प्रकार की धार्मिक

मान्यताओं का चित्रण करने के लिए प्रयास किये हैं, जब तक वे पूरी तरह उनकी संस्कृति को नहीं जानेंगे तो रचना कैसे साकार हो सकती है।

3.3.1.5. जादू

जनजातीय आयाम में धर्म का एक अभिन्न अंग है जादू। ऐसा कहा जाता है कि जादू धर्म के बराबर महत्व रखता है। अशुभ प्राकृतिक घटना, अपर्याप्त तकनीकी साधन और अनिश्चितता एवं खतरे से पूर्ण वातावरण में उन लोगों की जादुई प्रथा में विश्वास करती है। यह किसी न किसी रूप में भारत की जनजातियों की सामान्य विशेषता है। 'पाँव तले की दूब' उपन्यास में जादू का खण्डन करते हुए दिखाया गया है। उपन्यास का आदिवासी पात्र किस्कू जो जादू पर विश्वास रखता है और यह समझता है कि वह जादू के माध्यम से कुछ भी कर सकता है। फलस्वरूप वह हमेशा अपने साथ झोले में जादू करने की सामग्री के लेकर चलता है। किस्कू जंगल के कटाई पर सुदीप्त से शिकायत करने पर सुदीप्त जाइंट पेटीशन (लिखित रूप मे शिकात) देने की बात करता है। जवाब में किस्कू कहता है- "कोई जरूरत नहीं साहब पेटीशन का आप फिकर मत करो। हम उसको मंतर से ठीक करेगा। जान गुरू हमको अइसा-अइसा मंतर सिखला गया है कि... और कपड़े की थैली से, जिसे वह हर वक्त अपने साथ लिये रहता है, एक-एक चीज निकाल कर उसे दिखाने लगा। ई ठो का है ? बाघ का नाखून।... और ई ठो ? हड्डी, मामूली हाड़ नहीं है।"[72] उसने तीसरी चीज निकालनी चाही कि सूदीप्त ने डाँट दिया। किस्कू अपमानित-सा सामान झोले में सहेजने लगा। सुदीप्त उसे तरसकाई नजरों से देख कर कहा- "इन खयाली पुलाओं से तुम्हारे अँधेरे दूर होने से रहे किस्कू। सोचो अगर इस तंत्र-मंत्र में इतनी ही ताकत होती तो तुम्हारे गुरू अब तक जेल में क्यों सड़ रहे होते ?"[73]

3.3.1.6. पूर्वज पूजा

जनजातियों के लिए पूर्वजों की क्रियाएँ बहुत महत्वपूर्ण हैं। उनके धार्मिक विश्वासों में पूर्वज-पूजा का एक महत्वपूर्ण स्थान है। वे लोग इस बात से सहमत हैं कि एक मनुष्य की शक्ति एवं पहुँच नियंत्रित एवं सीमित दायरे तक है, लेकिन पूर्वज-पूजा के द्वारा वह उसको प्राप्त कर लेता है। वे लोग पूर्वजों के अस्तित्व, उनकी रुचि एवं सांसारिक क्रियाओं में उनके प्रवेश में विश्वास रखते हैं। पूर्वज उनकी जिन्दगी में क्रियाशील हैं। ऐसा

विश्वास किया जाता है कि नया मृतक अपने पूर्व के मृत पूर्वजों में मिल जाता है। पूर्वजों की जीवात्माओं को पुकारा जाता है एवं उनकी पूजा वर्ष में अवसर आने पर या जब कोई आर्थिक रूप से पूजा करने के लिए तैयार रहता है, उस समय की जाती है। उपन्यासों में पूर्वज पूजा का विधिवत रूप अनेक पर्व-त्योहारों और धार्मिक अनुष्ठान के संदर्भ दिया गया है। आदिवासी अपने पूर्वजों को संदर्भानुसार देवता अथवा अलौकिक शक्ति के रूप में देखते हैं।

3.3.1.7. बहुदेववाद

वनवासियों में मनोकामना-पूर्ति की आकांक्षा ने देवी-देवताओं की मान्यता को प्रेरित किया है। फलस्वरूप समयानुकूल कई नये देवता आदिवासी समाज में श्रद्धा के पात्र बने और कई देवताओं के प्रति आस्था एवं विश्वास उत्तरोत्तर बढ़ता गया। यातायात की सुविधाओं ने भी देवताओं की संख्या में अभिवृद्धि की तथा आर्यों के बहुत-से आराध्यों की ओर इन अरण्य वासियों की भक्ति बढ़ी एवं अपने संसर्ग को सुदृढ़ बनाने के हेतु आर्यों ने भी आदिम जातियों की कई देवियों को अपने विनय का आधार बनाया। सामान्यतया क्रूर एवं कठोर देवताओं को प्रसन्न करने के लिए ये भोले-भाले आदिवासी समय-समय पर विविध प्रकारों की आराधना एवं उपासना करते रहते हैं। इन्हें निरंतर इन क्रोधी देवताओं का भय बना रहता है और प्रत्येक अनिष्ट के उपस्थिति होने पर ये आदिवासी व्यक्ति होकर ओझा के पास दौड़े जाते हैं। वे धार्मिक नेता किंचित चिंतन के पश्चात किसी देवता का संकेत करते हैं और उसके क्रोध से बचने के लिए बलि आदि की व्यवस्था कर संतुष्ट करने का प्रयास करते हैं। इस दृष्टि से इन धार्मिक जनों का अत्यधिक महत्व है। यहाँ यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि ये देवी-देवता स्वप्नों के माध्यम से आने वाले संकटों की सूचना देते हैं और पारिवारिक सुख-शांति के निमित्त कुछ विशिष्ट पूजा करने की प्रेरणा भी देते रहते हैं। ऐसी परिस्थितियों में आदिम जातियों की इनके प्रति निष्ठा होना स्वाभाविक ही है। मानवशास्त्रियों के मतानुसार देवी-देवता एक ओर अपने भक्तों को सदाचार की प्रेरणा दिया करते हैं और दूसरी ओर अनाचारियों को दंडित भी करते हैं। अलौकिक शक्तिजन्य चमत्कारों ने भी बहु-देवतावाद को जन्म दिया। परिणामस्वरूप उन्नत वृक्ष, ऊँची चट्टानें, भयावह व्याघ्र, तीव्र गति वाले नाग आदि देवताओं की श्रेणी में गिने गये हैं। इसी प्रकार उपकार की भावना ने कई सरिताओं, फलदार वृक्षों, सूर्य-चंद्रमा, पवन, लता-कुंजों आदि को देवत्व प्रदान किया। इस संदर्भ में श्री राजीव लोचन

शर्मा लिखते हैं कि- "आदिवासियों में देवी-देवताओं की संख्या अधिक होती है। कहीं-कहीं तो उनके आसपास की वस्तुओं व जगहों, सबमें उनका देवत्व विद्यमान मालूम होता है। भीलों में माता की विशेष पूजा की जाती है। शीतला, अंबिका, वैराई, पाँढर आदि देवियों की लोग आराधना करते हैं। सूर्य-चन्द्र, नक्षत्र और धरती को भी पूजते हैं। नीमाड़ के भील नागदेव की पूजा करते हैं। गोंडों में नारायणदेव, दुल्हापेन, रातमाई, महराहामाता, मरापैन, हालेराय, बरियास्येन आदि अनेक देवी-देवता हैं। इनके अतिरिक्त गोंड लोग महादेव, नर्मदा माई, धरती माता, सूर्यदेव की पूजा करते हैं। खलिहान के भी कई देवता होते हैं। 'काला मुठिया' देवता प्रतिवर्ष पूजा जाता है। कुछ देवताओं को बाँधकर वृक्ष पर लटका दिया जाता है। इस देव-समूह को बड़ा देव कहते हैं। इसमें फरसापैन, मटिया, धाँगरा, पालू, सल, चवर आदि छह देवताओं की मूर्तियाँ रहती हैं। पाला नामक देवता बोरे में बंद रहता है। इसी प्रकार भारत की अन्य जनजातियों में भी देवी देवताओं की संख्या बहुत रहती है।"[74]

मध्य प्रदेश के एक प्रमुख अंग बघेलखण्ड में गोंड, बैगा, पनिका, कमार, छोलिया, खारबार, माँझी, कोल, अगरिया, भूमिया, महरा आदि अनेक आदिवासी रहते हैं। जादू-टोना, मंत्र-तंत्रादि में अविचल श्रद्धा-विश्वास रखने वाले ये आदिवासी निम्न देवी-देवताओं की अर्चना करते हैं- "बड़कादेव, निंगोदेव, घतसामदाऊ, दुल्हापेन, गसान बाबा, खरसाने, बघोत, बैंसासुर बाबा, मरी, कालिका, शारदा, काली, शीतला, घटोरिया, दुरसिन, बंदरिया, चिरकुटी, चंडी, फूलमती, लोढ़ाभाई, मरकामम, अलोपना, कोरीम, नेटिया, खुसरो, पोया, शरपाची, मराई, नेताम, ओइमा, सोइमा, ओइका, मराबी, धरवा, सरारिया, चिचमा आदि।"[75] इनमें से कतिपय देवता जलाशयों के पास, पर्वतों के शिखरों पर, पुराने वृक्षों पर गुफाओं में एवं पुलों के नीचे रहते हैं, जिनकी पूजा मांगलिक कार्यों के प्रारंभ में अनिवार्य रूप से की जाती है। उक्त देवी देवताओं में से बघोत (बाघदेव को छोड़कर प्रायः समस्त देवों की स्थापना अनगढ़ पत्थरों में की जाती है। जो सिंदूर से अलंकृत होकर देवत्व की गरिमा को प्राप्त करते हैं। बाघदेव गाँव की सीमा के पास एक झोपड़ी में स्थापित किये जाते हैं, जो व्याघ्र की मूर्ति के रूप में होते हैं। सघन काननों में व्याघ्र का निरंतर भय रहता है, अतः संरक्षण हेतु इस देवता की विशिष्ट पूजा होती है। पशु-बलि, मिठाई आदि से इन देवी देवताओं का पूजन होता है।

टोड़ा भैंस के प्रति अगाध श्रद्धा प्रदर्शित करते हुए सूर्यदेव की सदा पूजा करते हैं। वतोरंगा टोड़ा

आदिवासियों के सर्वश्रेष्ठ देव हैं। टूला के उपास्य देवता रंगास्वामी हैं। खरिया के प्रणय देव पोनोमासेर हैं। हो आदिवासियों के सिंगवोंगा, नागहरा, मारंग, वीजा, पाँगुरा आदि आराध्य देवता माने गये हैं। भूत-प्रेतों में अटूट विश्वास रखने वाले जुआँग आदिवासी बोंगा नामक दैव-शक्ति को विशेषतः बीमारियों के फैलने पर पूजते हैं। असम के गारो आदि जातियों के देवता सूर्य एवं चन्द्रमा हैं। सूर्य की पूजा करने वाले संथाल हैं। पर्वतों पर निवास करने वाले नागा अन्य कई देवताओं की पूजा करते हुए गवाँग नामक देव को सर्वशक्तिमान एवं विश्वस्रष्टा मानते हैं। इनका यही देवता दुष्टों का नाशक और साधु जनों का पालक है।

खस महसू देव के प्रति बड़ी श्रद्धा-भक्ति प्रदर्शित करते हैं और हिन्दू देवी-देवताओं को भी समय-समय पर पूजते हैं। सुग्रीव के वंशज उराँव भगवान राम और भगवती जानकी के बड़े उपासक हैं। कुल्लू प्रदेश के आदिवासी बौद्ध धर्म से प्रभावित हैं और हिडिंबा देवी की विशिष्ट श्रद्धा-भक्ति से पूजा करते हैं। यहाँ के विभिन्न ग्रामों में पूजित देवी-देवता अनेक हैं। असंख्य देवी-देवताओं के उपासक, विविध कला प्रेमी किन्नर, बद्रीनाथ, महेश्वर, नागल आदि को प्रमुख देवता के रूप में मानते हैं। इस प्रकार आदिम जातियों के कई देवी-देवता हैं।

भारत की जनजातियों में प्रचलित विभिन्न विश्वासों एवं उनकी धार्मिक प्रथाओं के वर्णनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे लोग बहुदेववादी हैं। दैवी शक्तियों को ऐसे देवताओं में स्थान दिया गया है जो समुदाय के जीवन की घटनाओं पर प्रभाव डालती एवं उस पर नियंत्रण करती हैं। अधिकतर जनजातियों में जीवात्माएँ अलौकिक शक्तियों का पुंज हैं और तदनुसार ही विभिन्न देवताओं को शक्ति प्रदान की गई है। कुछ देवताओं का अपना-अपना विभाग, प्रभाव-क्षेत्र और नियंत्रण होता है। इन देवताओं को विभिन्न स्थानीय नाम, विभिन्न रूप एवं विभिन्न उत्तरदायित्व सौंपे जाते हैं। जीववादी देवता, बोंगा, प्रकृति एवं पूर्वज की जीवात्माएं उनके अधिकार हैं जिसके साथ वे लोग पहले से ही सम्बन्धित रहते हैं।

आदिवासी गोंड समुदाय की बहुदेवताओं के प्रति आदिम आस्था प्राकृतिक रूप से 'जंगल के फूल' में साकार होती है। वे नारायण देव को खुश करने के लिए सूअर की बलि चढ़ाते हैं। जिससे नारायण देव इनके गाँव की रक्षा, भूत-प्रेत और चुड़ेलों से करता है। सारी बीमारियाँ इसी के कहने पर चलती हैं। सारे भूत-प्रेतों का यह मालिक है। नारकी देवी को प्रसन्न करने के लिए मुर्गे-मुर्गियों, बकरों और भैंसों की बलि दी जाती है।

कर देंगल की पूजा भी कई पशुओं की बलि से करते हैं। पेरमा देवता के साथ जंगल के देवता की भी याद करते हैं। प्रकृति के संकट से बचने के लिए देवताओं को बलि देकर खुश करते हैं। 'शैलूष' के नट दुश्मन की हार पर अपने मान गुरू और कुल देवी नथिया की पूजा, सिंदूर और घी मिलाकर टीका करने के साथ संपन्न करते हैं। 'रथ के पहिए' के गोंड लोग धरती की पूजा महुए की शराब धरती पर दो-चार बूदें डालकर करते हैं। 'सागर लहरें और मनुष्य' की औरतें अपने पतियों की समुद्र से सुरक्षित वापसी के लिए 'खण्डला देवता' से प्रार्थना करती हैं। तूफान के समय जो मछुए सकुशल घर लौट आते हैं उनके घरों में सत्यनारायण और महाभारत की कथा और भोजन करवाते हैं। पूर्णिमा के दिन विशेष स्थान पर पहुँचकर समुद्र की पूजा नारियल चढ़ाकर करते हैं। 'कब तक पुकारूं' का सुखराम धन प्राप्ति की इच्छा पूर्ण होने पर देवता को कई तरह के चढ़ावा बोलता है। 'हनुमान जी' को सोने का हार, 'कैलावरी मैया' के लिए नगों की छतरी, घाट वाले 'भैरों' को सवामन चून की मनौती की। 'शैलूष' की प्रमुख स्त्री पात्र सावित्री ब्राह्मनत्व को तिलांजली देकर नट जुड़ावन से शादी करके नट कबीले में आ जाती है, पर जब भी नटों पर संकट आ जाती है तब उसकी आस्था 'कृष्ण' को पुकारती है।

जनजातियों में देवता की गणना सरल नहीं है क्योंकि विस्मयकारी प्रकार हैं। प्रत्येक जनजाति अपने-अपने देवताओं की विशेष पूजा करते हैं। एक ही देवता विभिन्न नामों से जाना जाता है। किसी एक क्षेत्र में जो देवता महत्वपूर्ण हैं, दूसरे क्षेत्र में लोग उनको जानते भी नहीं। जब पुराने देवता अपना प्रभाव खो बैठते हैं और विस्मृत हो जाते हैं तो उनके स्थान पर नये देवता आ जाते हैं।

3.3.2. धार्मिक पुजारी

प्रायः सभी जनजातीय समूहों में धार्मिक विशेषज्ञों का एक समूह होता है। जो प्रायः एक से तीन की संख्या में होते हैं। विभिन्न जनजातियों में इन्हें विभिन्न नामों से पुकारा जाता है। झारखण्ड के क्षेत्र के 'हो' और 'उराँव' उन लोगों को 'पहान' छत्तीसगढ़ प्रदेश के गोंड उन्हें 'बैंगा' और केरल के कनिक्कर एवं यूराली उन्हें 'प्लाथी' कहते हैं। धार्मिक अनुष्ठान से संबंधित सभी क्रियाओं में ये व्यक्ति प्रमुख होते हैं।

3.3.3. धार्मिक कृत्य

जनजातियों के धार्मिक कृत्य मुख्य रूप से ग्रामीण पुजारी या उसके सहायक द्वारा सम्पादित होता है। इस कृत्य में जनजातीय लोग भगवान या देवता को मनाने के लिए बलि चढ़ाते हैं। बलिदान देने योग्य वस्तुएँ अंडे से लेकर भैंस तक हो सकती हैं। पूजा की दूसरी सामग्री होती है- सिंदूर, अरवा चावल एवं फूल आदि। समस्त जनजातीय समुदाय के लिए पशु-पक्षी के रक्त की पूजा का सर्वाधिक महत्व है। नयी फसल के दाने जैसे मकई, धान आदि भी चढ़ाए जाते हैं। उपरोक्त भेंट के अतिरिक्त ईश्वर को चावल से निर्मित देशी शराब (हंडिया) भी चढ़ाई जाती है। जब भेंट चढ़ाई जाती है, उस समय पुजारी या बलिदाताओं द्वारा उपर्युक्त कथनों का उच्चारण भी किया जाता है। कुछ विशेष अवसरों पर शमन के कृत्यों से भेंट संबंधित रहती है। बलिदान के समय धार्मिक कृत्य एवं पूजा का विधिवत परिचालन होता है। उस समय पवित्रता पर काफी ध्यान दिया जाता है अन्यथा जीवात्मा के नाराज होने पर पूजा से सम्बन्धित व्यक्तियों, परिवार या गाँव पर मुसीबत आ सकती है। पूजा की समाप्ति के समय जनजातीय लोग खान-पान एवं नृत्य की प्रतीक्षा उत्सुकता के साथ करते हैं। यह पूर्णतया त्यौहार का रूप ले लेता है। जनजातियों में त्यौहार उनके धार्मिक जीवन का अंग है। इसके साथ ही धार्मिक कृत्य समाप्त होता है। 'जंगल के फूल' उपन्यास में मुरिया गोंड आदिवासियों द्वारा किये जाने वाले धार्मिक कृत्यों का वर्णन हुआ है- "महुआ चौक में कूदी। जब जमीन ने सारा गोबर सोख लिया तो जोंदरा (ज्वार) के आटे से चौक पूरा। उस पर कुछ कच्चे और पके चावल बगरा दिये। गायता (गाँव का मुखिया) ने अपनी चकमक सुलकासाय की ओर बढ़ा दी। सुलकासाय ने आगे बढ़कर जोत जला दी। जोत जलते ही सब सिरहा (जड़ाई-फुंकाई का काम करने वाला प्रमुख व्यक्ति) की ओर देखने लगे। सिरहा नारायण देव की पूजा में खो गया। दो-चार मंत्र पढ़ने के बाद उसने देवताओं को धूप दी। सारे लोगों की आँखें सूअर पर अटक गईं। वह जमीन में मुह लगाये पहले की तरह खड़ा था और सारे चावल उसी तरह बिखरे थे। सिरहा के छहरे पर चिन्ता की रेखाएँ उभरीं। उसने देवता का नाम लेकर नारियल फोड़ा। उस पर लांदा चढ़ाई। मंतर के द्वारा वह सूअर की चेतना जगाने लगा। सूअर मंत्र के प्रभाव से झूम उठा। चावल के दोनों को समेटने के लिए उसने जैसे ही मुँह खोला, सुलकासाय ने आगे बढ़कर उसकी पूंछ काट ली। पूंछ के कटते ही नारायणदेव की आत्मा सूअर पर उतर आई। फिर उसने खूब चावल खाए। सिरहा ने उसकी खूब पूजा की और आरती उतारी। बूढ़ी

जमकी तब तक बाजू में गड्ढा बना रही थी। गड्ढा खुद गया तो उसमें गरम पानी भर दिया गया। फगरू, सुलकासाय और सिरहा तीनों ने सूअर की पिछली टाँगे पकड़कर उसका मुँह गड्ढे में जैसे ही डाला कि वह दर्द-भरी आवाज से चीख उठा। औरतों की खुशी का अंत नहीं। उनका नारायण देव प्रसन्न हो गया था। देव प्रसन्न हो गये, अब बरस-भर गाँव सुखी रहेगा। भूत-प्रतों की बाधा उन्हें नहीं सताएगी। कहीं कोई बीमार नहीं पड़ेगा।"[76] यह धार्मिक कृत्य समाप्त होते ही वहाँ पर्व का वातावरण छा गया। महुआ के होंठ अपने आप गुनगुनाने लगे। दूसरी लड़कियों ने उसका साथ दिया और लड़कों ने भी। लड़के लड़कियाँ साथ मिलकर गाते हुए नाचने लगे। ढोल और नगाड़े बजते रहे। उपस्थित सारा समूह आनंद लेता रहा।

त्यौहार, जो जनजातीय लोगों को उत्साहित एवं प्रमोदित करता है। विभिन्न प्रकार के त्यौहार लौकिक एवं धार्मिक, दोनों पहलुओं को समाविष्ट करते हैं। लौकिक शक्तियों के समानार्थ जनजातीय लोगों द्वारा जतरा (मेला) लगाया जाता है। पर्व एक दिन में समाप्त हो सकता है या कुछ दिनों तक चल सकता है। इन अवसरों पर विभिन्न देवी-देवताओं की पूजा की जाती है। विभिन्न धार्मिक कृत्यों को आवश्यकता के आधार पर निम्न रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है।

1. भोजन संग्रह के लिए त्यौहार
2. शिकार से जुड़े त्यौहार
3. पशुओं से सम्बन्धित त्यौहार
4. कृषि-सम्बन्धी त्यौहार

सभी त्यौहार गीत, नृत्य एवं कथाओं से जुड़े हुए होते हैं और ये पौराणिक कथाओं पर आधारित हैं। त्यौहार से जुड़ी कहानी एक खास व्यक्ति या समूह द्वारा अपनायी गई प्रथाओं एवं विश्वास की व्याख्या करती है। साथ ही त्यौहारों एवं धार्मिक कृत्यों की महत्ता भी बताती है। इन कहानियों, नृत्यों एवं गीतों में जनजातीय लोगों की बुद्धि एवं अभिव्यक्ति प्रकट होती है।

3.3.4. शॉमन

जनजातियों के कुछ समूह में उनकी धार्मिक विश्वास पद्धति जादू-टोने पर आधारित होती है। ऐसे समाजों में समुदायों के स्तर पर कोई पुजारी नहीं होता बल्कि एक सामान्य व्यक्ति, जिसे शॉमन कहा जाता है

यह व्यक्ति आवश्यकतानुसार दूसरों की सहायता करता है। साइबेरिया की जनजातीय भाषा से उद्धृत अंग्रेजी शब्द शॉमन का अर्थ होता है "वह व्यक्ति जो जरूरत पड़ने पर धार्मिक विशेषज्ञ के रूप में दूसरों की सहायता करें"[77]। तुलनात्मक दृष्टि से शॉमन वह व्यक्ति है जो ओझा, वैद्य या जादूगर है और जरूरतमंद लोगों की मदद करता है। उसकी सेवा के बदले में लोग कुछ चीजें (खाद्य सामग्री) आदि उपहार स्वरूप देते हैं। ऐसे व्यक्ति उपहार स्वीकार नहीं भी कर सकते हैं, क्योंकि वे अपनी बुद्धि तथा कौशल से समाज में प्रतिष्ठित होते है। इसी प्रकार के शॉमन (ओझा) के पात्र का निरूपण 'गगन घटा घहरानी' में किया गया है, जिसे उपन्यास में गुनी (गुनिया) कहा गया है। जिसका नाम है पैरू और गाँव वाले उसे पैरू गुनी के नाम से जानते हैं। पैरू नाम रखने के पीछे की कथा उपन्यास में इस प्रकार बतायी गयी है- "जन्म के समय धरती पर पहले पैर ही पड़े थे उसके, इसी लिए पैरू नाम पड़ गया।"[78] आदिवासियों में इस प्रकार के जन्म लेने वाले के प्रति विश्वास होता है कि- "गाँव में लड़का पैर से पैदा हुआ है तो ईश्वर का अंश है उसमें। किसी के कमर का दर्द हो, दौड़ा-दौड़ा उसके पास चला आता, उसके पैरों से अपनी पीठ छुआ लेता।"[79] यूं तो लोग उस पर ईश्वर का आशीर्वाद है, यह मानते रहे। यह उनका विश्वास है किन्तु स्वयं पैरू भी अपने आप में महसूस करने लगा कि- "कुछ विशिष्ट है उसमें। अँधेरे में पेड़ों के घने पत्तों के बीच ईश्वर की कोई छाया दिख जाती उसे। साँझ और सुबह की लाली में उसे सिंग बोंगा का ही रंग दिखाई पड़ता है। रोग और दुःख उसे सिंग बोंगा की इच्छा से ही होते हुए लगते हैं। सोनाहातु के विशाल राज्य में पहाड़ों-घाटियों, नदी नालों से वह सिंग बोंगा का ही परिचय पाता है। बच्चे असमय मर कर आकाश के तारों में समा जाते हैं। अनुभव से पके हुए बूढ़ों की आत्मा प्रकृति के माध्यम से ही अपना अपना आशिर्वाद लुटाती है। वह केवल वही, पैरू ही चीन्हता है उन्हें। अचानक कभी-कभार बतियाने लगता है उनसे। जागो को पैरू की विचित्र-विचित्र बातें समझ से परे थीं।"[80] जैसा कि पहले ही उल्लेख किया गया है कि वह लोगों की निस्वार्थ सेवा करता है, यह गुनी का पेशा नहीं है। वह भी आम आदिवासियों की तरह है जो अपनी आजीविका के लिए- "जंगल-जंगल ढोर-बकरियों के लिए भटकता फिरता है। अब भी झाड़-फूँक पैरू का पेशा नहीं है। दूसरे किसानों की तरह उसका भी परिवार है, उन्हीं की ही तरह

हँड़िया-शराब और सब तरह के काम। किसी को साँप ने डँसा हो, कोई भूत-प्रेत से पीड़ित हो- रात-बिरात किसी भी समय हाँक मिलने पर दौड़ा चला जाता रोगी के पास।"[81] संसार में ऐसी कई मान्यताएँ प्रचलित हैं जिन पर लोगों का विश्वास है। मुख्य रूप से आदिवासियों में यह विश्वास अधिक मात्रा में प्रचलित है। क्या इस प्रकार का विश्वास रखना उचित है ? कुछ संदर्भों में सभ्य समाज को ये मान्यताएँ अन्धविश्वास लगते हैं। किन्तु हम यह निर्धारित नहीं कर पाते हैं कि क्या सही है और क्या गलत। भारतीय समाज में भी आज विकासशील सभ्य समाज में ऐसे कई अलौकिक मान्यताएँ प्रचलित हैं। जो भी हो हम यह तय नहीं कर सकते हैं कि क्या वास्तव है और क्या अवास्तव। उपन्यास के एक संदर्भ में पाठक इसी प्रकार के संदिग्ध अवास्तविकता से गुजरता है। वह संदर्भ पूरा होने के बाद सोच में पड़ जाता है कि क्या इस प्रकार के संदर्भ वास्तविक हैं या काल्पनिक। यदि हम आदिवासियों की नज़र से देखें और उनके विश्वासों को आत्मसात कर लें तो हमें इस प्रकार के संदेह नहीं होंगे। क्योंकि वे सारी घटनायें वास्तविक ही प्रतीत होती हैं। इसका जीता जागता उदाहरण 'गगन घटा घहरानी' में चित्रित हुआ है। जागो जमींदार के घर से बिना बताये घर वापस आता है, जिस कारण जमींदार के आदमी जागो को उसकी इच्छा के विरुद्ध मारते-पीटते वापस ले जाते हैं। सारे गाँव में यह अपवाह फैल जाती है कि जागो को मारने के लिए चीता के घेरे में छोड़ दिया है। लुपुंगा के आदिवासी सोनाराम के प्रभाव से उत्तेजित होकर जागो को छुड़ा लाने के लिए तैयार होते हैं। किन्तु लुपुंगा का ओझा पैरू गुनी जागो के साथ हो रही घटनाओं का अपनी दैविक शक्ति के द्वारा देखने का प्रयास करता है- "पैरू गुनी धीरे-धीरे चलता हुआ आग के समीप बैठ गया। घुटनों पर केहुनियाँ टिकाकर दोनों हाथों में अपना सिर पकड़ लिया। आग की ओर एकटक देखता वह बुदबुदाने लगा। बीच-बीच में होंठों को गोलकर विचित्र ध्वनि निकालता थूक और लार से भरा सीत्कार लेता और बुदबुदाने लगता। जलते हुए आग के ताप से उसकी आँखें प्रति क्षण लाल होती जा रही थी। बीच में उसने अपनी कमर से कुछ निकाल कर आग में झोंक दिया। लप-लप करती आग की लपेटें पेड़ के झूलते पत्तों को छूने लगीं। थोड़ी देर पहले का शोर-शराबे से भरा माहौल अचानक रहस्यमय हो उठा। सब कुछ जैसा का तैसा स्थिर हो गया। दूर से लगता वहाँ कोई है ही नहीं। सब कुछ जड़ हो गया था।, निर्जीव। चेतना का केवल एक ही आधार बच रहा था, पैरू गुनी के काँपते हुए ओंठ

और आग की लपलपाती हुई लौ। पैरू ने आग में मुँह से जोर से विचित्र आवाज करती एक फूँक मारी। अपनी कमर से कुछ और निकाल कर आग में झोंक दिया। कड़वे धुएँ का एक भभक उठा। क्षण भर को सबकी आँखें कड़वाहट से बन्द हो गईं। आँखें खुलीं तो टपकते हुए लार में हवा का स्पर्श बड़ा सुखद लगा। सब ने पैरू को उत्सुकता से देखा। पैरू के होंठों पर मुस्कान थी। हँस-हँस कर बोलने लगा वह- ससुर-दामाद खूब मजे कर रहे हैं। अरे भला बाप अपने बेटे को कभी मारता है। देख लिया। अरे जागो को उसने बचपन से पाला। पाल-पोस कर बड़ा किया। आज मर कर बाघ का जनम लिया। तो जागो ने भी तो उसकी सेवा की। लोग समझे नहीं। गुनी हाथ झाड़कर प्रसन्नता से बोला- जाओ सब ठीक है। कुछ नहीं हुआ है जागो को। अरे वह चीता कौन है लभेरू बूढ़ा ही तो है।... बिफनी का बाप। पैरू ने फिर कहा- लेकिन बन्धन में फंसे हुए हैं दोनों। ताले में बन्द। छटपटा रहे हैं निकलने के लिए। मैंने सबकी ओर से कह दिया, हम आ रहे हैं। हम आ रहे हैं तुम्हें छुड़ाने। भला बरिस-बरिस के दिन, परब के दिन तुम्हें बाँध कर रखेगा। किसकी हिम्मत है। जाओ अभी। सब मिलकर कल चलेंगे सब मिल के। सब लोगों का मन ठण्डा हो गया। लोग पैरू गुनी के बारे में, उसकी विद्या में, चीते के बारे में, जागो के बारे में बतियाने लगे।"[82] जैसा हम ने पहले ही उल्लेख किया है आदिवासी समाज में ओझा का महत्वपूर्ण स्थान होता है। वह अपनी बुद्धि तथा कौशल से समाज में प्रतिष्ठित होता है और धार्मिक कर्मों के समय दैविक शक्तियों को आत्मसात कर लेता है। ऐसी अवस्था में उस पर देवी की शक्ति आ जाती है। वह जो कुछ करता है, ऐसा माना जाता है कि देवी ही क्रियाएं कर रही हैं। शामन के मुख से जो कुछ भी अस्पष्ट या स्पष्ट शब्द निकलते हैं, उसे देवी का आदेश माना जाता है। शॉमन की इस शारीरिक अवस्था को भू-बाधा कहा जाता है और उसकी फैसले को कोई तिरस्कार नहीं कर सकता- "सरी घटना को देखने के बाद सोना राम की दृष्टि पैरू पर से हट नहीं रही थी। मानसुख आगे बढ़कर सोनाराम से बोला- तो सोना दा, अभी चलेंगे हम ?... जैसे जाने का फैसला, समय का फैसला वही करेगा। सोनाराम चौंक गया। वह तो सोचने लगा था, पैरू ने सच कुछ देखा या झूठ ? क्यों ऐसा बोला वह छोटा सा नाटा सा बूढ़ा आदमी, डर-भय नहीं लगा इसे। कड़क कर बोलता है- किसकी हिम्मत है। कल चलेंगे सब लोग। पैरू ने सच देखा हो या झूठ, सोना राम को यह सब अच्छा लगा। मानसुख ने पूछने पर उसने चौंककर कहा- नहीं...

कल... सुबह...।"[83] इसके विपरीत उपन्यास 'काला पादरी' में एक संदर्भ का चित्रण हुआ है जिसका विवरण आगे भूत-प्रेत के प्रति विश्वास के संदर्भ में प्रस्तुत किया गया है, किन्तु समानता यह है कि इनमें व्याप्त विश्वासों में बैगा के महत्व को बताया गया है। एक आदिवासी भूख के मारे मर रहा है और गाँव के सारे आदिवासी प्रेतात्मा का प्रकोप मान कर उसे प्रेतात्मा से मुक्ति दिलाने के लिए बैगा को बुलाते हैं, जिसकी वेश-भूषा तथा उसके द्वारा किये जा रहे कृत्य इस प्रकार हैं- "बैगा के हाथ में झाड़ू है। उसने लाल रंग की लुंगी पहन रखी है। वह नंगे पाँव है। उसकी दाढ़ी बढ़ी हुई है। उसने अपने माथे पर राख मल रखी है। उसके कंधों पर मोर पंख लटक रहे हैं। वह चीख रहा है। उसकी चीख की भाषा समझ के बाहर है। वह बार-बार नीचे लिटाये गये आदमी के इर्द-गिर्द चक्कर काटता है और चीखता है। शायद वह यह कहना चाह रहा है कि इस आदमी के शरीर में कोई प्रेतात्मा है, जिसे वह अपने मंत्रों के प्रभाव से बाहर निकाल देगा और यह व्यक्ति उसके प्रभाव से पूरी तरह मुक्त हो जायेगा। वह आदमी अब अपना मुख खोलता है तो उसका मुँह किसी गुफा की तरह नज़र आता है और लगता है कि वह आसपास खड़े सभी लोगों को निगल जायेगा। भूखे, नंगे, अंतड़ियाँ बाहर निकाले, काले लोगों ने वहाँ एक घेरा सा बना रखा है। जिसके हाथ में झाड़ू है और जो चीख रहा है वह झाड़ू से उस व्यक्ति की पीठ पर बार-बार वार करता है जो लगभग मूर्छित अवस्था में नीचे लेटा है। गाँव वालों को यह विश्वास है कि इस व्यक्ति के भीतर किसी प्रेत का वास है। बैगा उस आदमी की पीठ पर, कमर के नीचे, उसे उलटा-पलटा कर उसकी छाती पर झाड़ू मारता है। फिर वह उसकी आँखें चौड़ी करके कुछ देखता है। फिर वह उसके कानों में कुछ कहता है। कभी वह उसका मुंह खोलता है और उसके अन्दर फूंकता है जोर-जोर सो बैगा इतनी जोर से फूंकता है कि लगता है जैसे आसपास कोई तूफान आ गया है। सांय-सांय की आवाज। अचानक ही वह पास रखा लकड़ी का एक डंडा उठाता है और उसके एक सिरे पर एक कपड़ा बाँध कर उसे जला लेता है- मशाल की तरह। हाथ में आग पकड़े बैगा उस मरते हुए आदमी के आसपास चक्कर लगाता है, आग भी उतनी ही तेज जलती है और उसकी तपिश में आसपास बैटे लोगों की अंतड़ियाँ भी मकड़ियों के जाले की तरह एक-दूसरों में उलझी हुई स्पष्ट नज़र आती हैं।

बैगा अपने कंधे पर लटके गंदे से झोले में हाथ डालता है। काफी देर तक उसका हाथ झोले में ही कुछ ढूंढ़ता रहता है। अचानक वह अपने झोले से एक सींग बाहर निकालता है। यह सींग चीतल का है। वह अपने

एक हाथ से कुछ यों पकड़ता है जैसे की तलवार की मूठ पकड़ी जाती है। चीतल का सींग अर्धचंद्राकार अवस्था में है। बैगै के चहरे पर आत्मविश्वास की कुछ पर्तें और चढ़ आती हैं। यह सींगी देवता है यानी सींग में देवता। हाथ में सींगी देवता होने से उसे लगता है कि जैसे उसकी पूरी देह में देवता उतर आये हैं और जब देवता स्वयं उसके हाथ में है तो फिर दुनिया की और कौन सी ताकत है जो उसे चाहिए।

बैगा लगभग फुफकारने लगता है और अपनी एक टाँग पर नाचने लगता है। उसके चहरे पर कभी गुस्सा आता है तो कभी वह जोर जोर से हंसने लगता है। आसपास बैठे तमाम लोग सहम से जाते हैं, हालांकि बैगा का यह रूप उनके लिए कोई नया नहीं है। दुष्टात्माओं को इस तरह शरीर से बाहर निकालने का काम वे कई बार देख चुके हैं, लेकिन आज तो किसी दुष्टात्मा ने बैगा को ही चुनौती दे दी है और यह एक बहुत बड़ी बात है। वे सहमें हुए से सिर्फ इस प्रतीक्षा में हैं कि बैगा अभी दुष्टात्मा को अपने सींग में उतार देगा और फिर सींग में छिपे देवता उसे गाँव की सरहद से बाहर ले जा कर छोड़ देंगे।"[84] यदि हम 'गगन घटा घहरानी' के गुनिया और 'काला पादरी' के बैगा की तुलना करते हैं तो वे दोनों अपने समाज में प्रमुख भूमिका निभाते हैं, जहाँ पैरू गुनी अपनी दैविक शक्ति से जागो की स्थिति का पता लगाता है और जो भी कहता है वह सच साबित होता है। गाँव वाले जागो तथा चीते को छुड़ा ने में सफल होते हैं। 'काला पादरी' का बैगा मर रहे आदिवासी को बचा नहीं पाता है, वहाँ सींगी देवता की भूमिका खत्म तो नहीं होती किन्तु स्थगित अवश्य हुई है। बैगा अपनी अस्तित्व को बचाये रखने के लिए सारा दोष प्रेतात्मा पर डाल देता है। उस मृत व्यक्ति को प्रेत कहते हुए उराँव समाज में साधारण मृत्यु होने पर होने वाले अंतिम संस्कार की विपरीत बैगा अपनी ओर से मृत्यु संस्कार के गतिविधियों को गाँव वालों को बताता है जिसका पालन करना गाँव वालों को अनिवार्य है क्योंकि ये समझते हैं कि यह आदेश बैगा का नहीं धरमेश का है। ये सारी घटनायें धरमेश की इच्छानुसार ही हो रही हैं। बैगा तो आदिवासी और धरमेश के बीच सेतु का काम रहा है। "बैगा एक बार फिर अपनी जगह से उठ गया। उसने एक दृष्टि आसपास फैले काले संसार की अंतड़ियों के नक्शे पर डाली। फिर उसने चीतल के सींग को उठाया और वहीं खड़े दो चार लोगों के शरीर को उसने सींगी देवता का स्पर्श दिया। उसके बाद उसने सींगी देवता को अपने कानों में लगाया और पास ही पेड़ के चबूतरे पर खड़े होकर उसने घोषणा की 'यह

आदमी जो अभी अभी मर गया, दुष्टात्मा था। वह घोर पाप किया था। वह घोर पाप क्या था, यह मैं अभी तुम लोगों को नहीं बता सकता क्योंकि धरमेश (उराँवों का सबसे बड़ा देवता) ने इसके लिए मना किया है और दुष्टात्माओं के पाप के बारे में कुछ भी बताने के लिए धरमेस इस लिए मना करते हैं कि उस पाप का असर बच्चों पर न हो, उस पाप का असर औरतों पर न हो और न ही उन आत्माओं पर उसका असर हो जिन्होंने पाप को अभी तक जाना नहीं है। इसलिए गाँव वालों, सुनो, इसे उठाओ और दूर ले जाकर मिट्‌टी में, गाँव के बाहर की मिट्‌टी में कम से कम छह फीट नीचे गहरा गड्‌ढा खोद कर दफना दो ताकि इसकी दुष्टात्मा को बाहर निकलने का रास्ता आसानी के साथ न मिले। जहाँ पर तुम इसकी दुष्टात्मा को दफनाओगे, उसके ऊपर नीम का पेड़ लगा देना। नीम दुष्टात्माओं का घर होता है। नीम का पेड़ दुष्टात्माओं को अपने घर से बाहर नहीं निकलने देता। अगर इसकी दुष्टात्मा
बाहर निकलने की कोशिश करेगी तो नीम उसे पकड़ लेगा। फिर किसी तरह का कोई डर नहीं रहेगा। हाँ, याद रखना इसकी हंड़िया पेड़ पर न टांगना।"[85]

अन्य उपन्यासों की भाँति 'जंगल के आसपास' उपन्यास में भी ओझा का चित्रण किया गया है। बैगा, ओझा या गुनिया आदिवासी समाज के ही होते हैं किन्तु इस उपन्यास में लेखक राकेश वत्स ने ओझा की जो भूमिका बाँधी है, उसकी वेश-भूषा, उसके द्वारा संपन्न किये जाने वाले कार्यों को भी दर्शाया गया है वह ओझा आदिवासी समाज से नहीं है। वह उच्च वर्ग से है। ओझा आदिवासी समुदाय के कष्टों को दूर करने का कार्य करता है, परन्तु 'जंगल के आसपास' उपन्यास में ओझा शोषक वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है, जिसका विवरण हम आदिवासियों के सामाजिक तथा सांस्कृतिक पक्ष के अन्तर्गत देख सकते हैं।

3.3.5. भूत-प्रेतादि के प्रति विश्वास

अनेक जनजातियों में विश्वास है कि मनुष्य मरने के पश्चात भूत-प्रेत होता है। भूत-प्रेतों के अस्तित्व पर इनका गहरा विश्वास है। भूत-प्रेतों से बचने के लिए छत्तीसगढ़ के गोंड बड़कादेव, ठाकुरदेव की पूजा करते हैं और उन्हें बलि चढ़ाते हैं। आदिवासी जीवन में भूत-प्रेत के प्रति विश्वास को उजागर करते हुए तेजिन्दर अपने उपन्यास 'काला पादरी' में उल्लेख किया है। ये आदिवासी अपने विश्वासों में इतने जकड़े हुए हैं कि उन्हें

यह भी ज्ञात नहीं है कि एक व्यक्ति भूख से मर रहा है और वे सोचते हैं कि "इस व्यक्ति के भीतर किसी प्रेत का वास है।"86 जिसे दूर करने के लिए वे बैगा को बुलाते हैं जो इस प्रकार के धार्मिक कृत्यों को निभाता है- "दुष्टात्माओं को शरीर से बाहर निकालने का काम वे कई बार देख चुके हैं, लेकिन आज तो किसी दुष्टात्मा ने जैसे बैगा को ही चुनौती दे दी है और यह एक बहुत बड़ी बात है। वे सहमे हुए से सिर्फ इस प्रतीक्षा में हैं कि बैगा अभी दुष्टात्मा को अपने सींग में उतार देगा और फिर सींग में छिपे देवता उसे गाँव की सरहद से बाहर ले जाकर छोड़ देंगे।"[87] वास्तव में उपन्यास के इस प्रसंग से आदिवासियों के जीवन में अंधविश्वास का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत होता है। मानव जीवन में भूख से बढ़कर कोई प्रेत नहीं होता, उस प्रेत को शान्त करने के लिए किसी देवता या बैगा की नहीं अन्न की आवश्यकता होती है। उपन्यास के प्रमुख पात्र जेम्स खाखा कहता है- "इस आदमी को देवता नहीं, चावल बचा सकता है, पर चावल न उनके पास है, न गाँव वालों के पास।"[88] उपर्युक्त प्रसंगों के माध्यम से काला पादरी में भूत-प्रेत के प्रति आदिवासियों के अंधविश्वासों का उल्लेख किया गया है किन्तु 'जंगल के फूल' में चित्रित प्रसंग इससे नितांत भिन्न पाया जाती है। झिरिया गाँव के सिरहा की बेटी थी। वह गाँव में रहे पंजाबी से प्रेम करती है। गोंड, जात के पक्के-इमान के सच्चे। अपनी जात की बेटी को दूसरे जात में विवाह करने की अनुमति नहीं देते। जिससे झिरिया फाँसी लगाकर मर जाती है। पंजाबी कुछ दिनों तक वहाँ रहा। जब जा रहा था किसी से कहने लगा झिरिया आधी रात को उसके कमरे में आती है। वह उसे खोजती है। गाँव वालों का विश्वास है कि झिरिया जोर जोर से रोती है। कभी गाती है। कभी नाचती है। मरने के बाद झिरिया चुड़ैल हो गई है। इसलिए उसके जीव से हर कोई डरता है। गायता अंग्रेज अफसर से कहता है- "मेरे ही लोन (घर) का किस्सा है, सिरकार। कोबेसाल (दो साल पहले) मिहरिया ने एक पेड़गी को जन्म दिया। यह खबर बताने मेरी पेकी (लड़की) बाहर आई, तो छानी पर उसने एक अरूआ (उल्लू) बैठा देखा। पेड़गी का जनम और अरूआ का सिर पर सवारी। कित्ता बड़ा अशुभ था वह। उसने अरूआ को मारने के लिए एक पथरा फेंका। उस पथरे को उठाकर अरूआ भाग गया और उसके बाद पेड़गी माटी-जैसी रोज घुलने लगी....।"[89] यह सब सुनता हुआ काला अफसर गायता से कहता है- "अरूआ पात्थर ले गया तो तेरी पेड़गी घुलने लगी। अभी जूठ बोलना सीख। गायता के मन को धक्का लगा। हाथ जोड़कर बोला- सही कह

रहा हूँ सिरकार। मेरी बात का भरोसा रखें। उस अरूआ ने वह पाथर पानी में भिगोकर किसी ऊँचे टिगस्ते (टेकरी) पर रख दिया होगा। जैसे-जैसे पाथर का पानी सूखता गया, पेड़गी भी घुलती गई। गुनिया ने बड़ी कोशिश की, पर उस चुड़ैल ने मेरी पेड़गी को न छोड़ा। झिरिया अभी भी चुड़ैल है, मालिक। न जाने कितने भेस में वह गाँव के चक्कर लगाती रहती है। जो उसके अड़सट में पड़ जाए उसका नास हो जाए। सारे गाँव से चिढ़ी है वह। गाँव वालों ने ही तो उसे अपने जीवाल (प्रेमी) से नहीं मिलने दिया।"[90] इसी विश्वास को पुष्ट करते हुए कहानी आगे बढ़ती है। झिरिया का प्रेत अंग्रेज अफसर पर हावी होने के प्रसंग से यह साबित होता है झाड़ू-फूंक, मंत्र-तंत्र से भूत प्रेत की बाधा से दूर किया जा सकता है। गाँव भर में यह खबर फैल गई कि झिरिया ने हुजूर (अंग्रेज) को दबोच लिया है। गायता ने यही बात काले अफसर से कही, पर उसने बात नहीं मानी। बोला- "हम भूत-प्रेत नहीं मानता। यह तुम लोगों का वहम है।"[91] गोरे अफसर के साथी चिंचित थे। एक आदमी को नारायन पुर भेजा गया। वहाँ से घंटे भर में डाक्टर आ गया। उसने स्टेथिस्कोप लगाकर गोरे की कई बार परीक्षा की। वह चक्कर में था। बीमारी क्या है, उसकी समझ में नहीं आ रहा था। गायता और सिरहा वहाँ हाजिर थे। गायता ने सिरहा (प्रेत बाधा दूर करने वाला बैगा जिसका नाम सिरहा है) की तारीफ के पुल बाँधना शुरू कर दिया। उसने बताया की- "एक बार वह एक मरे लड़के को जिला चुका है। उसे मरे एक घंटा हो गया था। जब सिरहा को पता लगा तो उसने झाड़-फूँक की। लड़के के सिर से एक जू निकाल कर उसके खून से हवन किया। उसकी भस्म को एक पत्ते में लपेटकर वह नदी में बहाने ले गया। जब वह लौटकर आया तो लड़का खेलता हुआ मिला।"[92] काले अफसर ने यह सुना तो गायता को फिर डांट दिया। बोला- "बेवकूफ बनाता है। हुजूर की जान लेना चाहता है।"[93] लेकिन न जाने क्यों डाक्टर को गायता की बात पर भरोसा हो गया। उसने सिरहा को अपना कमाल दिखाने का समय दिया- "सिरहा झाडू का एक टुकड़ा हाथ में लेकर जमीन पर बैठ गया। सामने एक सूप में थोड़े नुका (चावल) रख लिए। हाथ में पानी लेकर उसने मंतर पड़ना शुरू किया। एक मंतर खतम होता और चुल्लूभर पानी वह गोरे के मुँह पर दे मारता। काफी देर तक वह यह कहता रहा। फिर उसने हवन किया और कट्टुल के जैसे ही दो चक्कर काटे कि गोरा सांप की तरह अँगड़ाई लेने लगा। सिरहा ने आगे बढ़कर एक हाथ से उसकी बायीं कलाई पकड़ी और दूसरे झाड़ू का तुकड़ा लेकर

उसके चारों ओर घुमाया। थोड़ी लांदा जमीन पर डाली और जैसे ही मंतर दुहराए कि गोरे ने आँखें खोल दीं। वह अपने-आप न जाने क्या बड़बड़ाने लगा। सिरहा का चेहरा खुशी से फूल उठा। वह खड़ा हो गया। खड़े होकर उसने फिर मंतर पढ़े। अब गोरा एकटक सिरहा की ओर देखने लगा था। सिरहा ने उसकी आँखें बाँध ली थी। हाथ आगे-पीछे खींचते हुए उसने पूछा- 'बता, तू कौन है ?' गोरे ने उत्तर दिया 'झि... रि ...या।' सिरहा मंतर पढ़ता गया और प्रश्न पर प्रश्न बराबर करता गया- 'तूने इसे क्यों दबोचा' 'मेरी कट्टुल पर सोया। नारायण देव का अपमान किया, गायता को मारा, मैं नहीं छोडूंगी, खून पी जाऊँगी।' सिरहा ने फिर एक झाड़ू घुमाई। बोला 'क्या कहा ? खून पियेगी ?' नहीं छोडूंगी खून पीकर रहूँगी। गोरे मुंह से इतनी अच्छी भाषा सुन कर डाकटर और काला अफसर दोनों आश्चर्य में थे। वे खड़े-खड़े सारा तमाशा देख रहे थे। सिरहा और झिरिया के बीच खींचातानी चल रही थी। झिरिया गोरे को जिन्दा छोड़ने के लिए तैयार नहीं थी और सिरहा छुड़ाने के लिए कमर कस चुका था। बातचीत की खींचातानी के बीच एकएक उठकर गुनिया ने गोरे के गाल में जैसे ही एक तमाचा मारा कि उसकी आवाज लड़खड़ाने लगी। वह रोने लगा- 'मुझे छोड़ दो..... छोड़ दो।' अंत में झिरिया गोरे अफसर को छोड़ने के लिए तैयार हो गई। एक नारियल फोड़ा गया और घी शक्कर का होम देकर धीरे-धीरे सिरहा दरवाजे के बाहर चला गया। नीचे उतर कर मैदान में उसने झाड़ू का टुकड़ा गाड़ दिया और आकर गोरे के सिर पर जो हाथ फेरा, तो उसने आँखें खोल दीं। गोरे की आँखें भारी थीं। लगता था, जैसे वह भारी नशे में चूर था और अभी उसका नशा उतरा है। डाक्टर ने फिर से उसकी परीक्षा की, बोला- अब हजूर ठीक हैं।"[94] आदिवासियों को विश्वास है कि भूत-व्याधि दूर करने के लिए टोना-टोटका का विशेष महत्व है। इन विश्वासों को चार शीर्षकों के अन्तर्गत रख सकते हैं।

3.3.6. आचार संबंधी विश्वास

3.3.6.1. डीठ लगाना

आदिवासी समाज में डीठ लगाना प्रमुख है। बुरी आत्मा तथा शक्ति से, विरोधियों द्वारा मंत्र शक्ति से भेजे गए जहरीले जानवरों तथा प्रेतों से बचने के लिए डीठ लगाई जाती है। प्रत्येक आदिवासी इस पर विश्वास करते हैं। भारत में अलग-अलग आदिवासी समुदायों में डीठ के लिए अलग-अलग वस्तुओं का प्रयोग करते हैं।

भारत की उत्तरी पूर्व जनजातियों में मछली के कंकाल को डीठ के रूप में उपयोग किया जाता तो दूसरे प्रान्तों में किसी और पशु-पक्षियों के अवशेषों का। कोई जूते-चप्पल का तो कोई लोहे से बने औजारों का। 'पठार पर कोहरा' उपन्यास में हम डीठ लगाने की प्रक्रिया को देख सकते हैं। संजीव भालू के हाथों घायल होने पर रंगेनी अपने बेटे सोनारा से कहती है- "हो न हो, किसी ने भालू के कान फुँकवाकर तेरे संजीदा पर भेजा, मारने के लिए। तेरे संजीदा को पसन्द नहीं करता साहू...।"[95] सोनारा ज़क्मी संजीव के लिए रंगेनी द्वारा दिया गया दूध लिए बाहर आने लगा तो रंगेनी सोनारा से कान में धीरे-धीरे बोलती है- "बिलाई की खेंढ़ी और चक्कू भी लेता जा। कोमनिस (संजीव) के तकिया तरे रख देना। किया-धरा होगा तो जोग-टोन कट जायेगा... पर देखना रे, कोमनिस ई सब धरते तुझे देखने न पाए, नहीं तो खेंढ़ी फैदा नहीं करेगी।"[96]

"बिल्ली की खेंढ़ी - यानी नाल का टुकड़ा। प्रायः प्रसव के बाद बिल्ली अपने नवजात बच्चों को पोंछते चाटते समय अपनी नाल चट कर जाती है। कभी संयोगवश बिल्ली के प्रसव का गुप्तस्थल पता चल गया तो बिल्ली को हुलहुला कर भागने पर विवश कर देते हैं वनवासी। बिल्ली की नाल या नाल का टुकड़ा भी मिल गया तो उसे सहेजकर रख लेते हैं... बाद में बच्चों को बिल्ली से मिलने को छोड़ देते हैं। सौभाग्य का यन्त्र समझी जाती है बिल्ली की गर्भनाल-खेंढ़ी।"[97]

3.3.6.2. टोना-टोटका, जन्तर-मंतर

बालकों को टोना-टोटका नज़र और दूसरे अनिष्टों से बचाने के लिए किया जाता है। वे बालकों के गले में गुनिया की बनाई हुई तावीज पहनाते हैं। इस तावीज में जड़ियों, फलों और मूंगों का प्रयोग होता है। गुनिया को सांप और बिच्छू का विष उतारने और पशुओं के रोग दूर करने के अनेक मंत्र ज्ञात होते हैं। यूँ तो किसी भी अवस्था के व्यक्ति को नज़र लग सकती है, फिर भी ऐसा माना जाता है कि विशेषकर बच्चों को नज़र लगती है। इसके अतिरिक्त पशुओं और फसलों को भी नज़र लगती है। आदिवासी माताएँ इस बात से सदैव सतर्क रहती हैं कि कहीं उनके बच्चों को नज़र न लग जाये। बच्चों को नज़र लगने से बचाने के लिए आदिवासी स्त्रियाँ बच्चे के माथे पर गाय के गोबर का टीका लगा देती है। इसके अतिरिक्त माताएँ अपने बच्चे की चारपाई के सिरहाने की ओर लोहे की कोई वस्तु या रेंड़ का पत्ता भी खोंस देती हैं तथा गले में तावीज

पहनाती हैं। जंतर-मंतर आदिवासी समाज में साधारण सी बात होती है भूत-प्रेत, दुष्टात्माओं के प्रति विश्वास तथा उनकी उपस्थिति कहीं भी होने के डर से वे अपने बच्चों को कहीं जाने की अनुमति नहीं देते। इसी संदर्भ का विवरण उपन्यास 'पठार पर कोहरा' में हुआ है। "आज गाँव भोर होने से पहले ही जग पड़ा है। नित्य के कार-व्यापार समय से कुछ पहले निपटा लेना जरूरी है। आरखाँड़ (हाट, बाजार) है आज, सोनारा भी जग गया है। सोनारा की माई भी। रंगेनी ने उठते ही सोनारो को चेताया 'चल गाँती बाँध ले और तू मत जाना आरखाँड़ में।' 'जाने दे न माई।' आँखें मलता सोनारा माई से मिन्नते करने लगा। 'नई आरखाँड़ में लइका-फइका नहीं जाते। कई किसम के लोग जुटते हैं वहाँ। खराब-खराब हवा (आत्माएँ) डोलती हैं आरखाँड़ में... ना - ना... तू मत जा।"[98] थोड़ा नटखट बच्चा है सोनारा। दौड़-भाग कुछ ज्यादा ही करता है। आये-दिन कभी घुटना फोड़ लेता है, कभी टखना। कभी केहुनी छिल जाती है, तो कभी माथा लहूलुहान करके चला आता है। रंगेनी को लगता है उसके बेटे पर जरूर किसी बुरी आत्मा की नजर पड़ी है तभी तो सोनारा इतना ठेसता-ठोकराता रहता है। सोनारा जितना तेज है उतनी ही तेज उसकी जुबान। वह अपने माँ को याद दिलाता है कि इन सब से बचने के लिए तो "तूने जंतर बाँध तो दिया है।"[99] जैसा कहा गया है कि आदिवासी माताएँ अपने बच्चों पर बुरी आत्माओं के प्रभाव से बचाने के लिए तावीज या जंतर बाँधती हैं। वे तावीज अनेक प्रकार की होती हैं। सोनारा की माई रंगेनी ने अपने सोनारा के गले में भी एक तावीज बाँध रखी है। "बाघ की हड्डियों का टोटका ऐसे बच्चों के लिए अक्सर इलाज है तभी तो मन्तर पढ़वाकर बैगा (ओझा) से बीसहा (बीस नाखूनोंवाले) बाघ की हड़ी को बँधवाया है रंगेनी ने। बँधवाना यानी मंत्रपूत करवाना। "[100]

भारत में जनजातीय धर्मों की व्याख्या जीववाद के रूप में की गयी है। जीववाद धर्म का वह अत्यन्त अपरिष्कृत रूप है जिस में जादू की प्रमुखता होती है। इसके अनुसार मनुष्य प्रेतात्मक शक्तियों के समूह से घिरे जीवन से गुजरती वस्तु है। वे प्रेतात्माएँ ऐसी वस्तु है जो आधारहीन हैं, विशेषकर व्यक्तिहीन हैं। इनमें से कुछ जीवन के कुछ विशेष भागों में ऊपर या प्रभाव के दायरे के ऊपर संचालित करने के लिए जाती हैं। अतः उन लोगों में वैसी जीवात्मा है जो हैजा, एवं चेचक पर आधिपत्य रखती हैं। खतरे से बचने के लिए जो इनके प्रभाव के द्वार पैदा होता है, उन्हें खुश किया जाता है। इस दृष्टिकोण से भारत की जनजातियों के धार्मिक

विश्वास एक समान नहीं हैं। जनजातियों में धर्म की विशेषताएँ कुछ इस प्रकार होतो हैं। जीववाद, बोंगावाद, प्रकृतिवाद, टोटमवाद, वर्जना, जादू, पूर्वजपूजा, बहुदेववाद।

'हो' लोग 'बोंगा' को एक शक्ति मानते हैं, जो सर्वत्र है कि यह कोई भी रूप या आकार ले सकता है। यह शक्ति सभी पशुओं एवं पौधों को जीवन प्रदान करती है। यह पौधे को बढ़ाने में उत्साहित करती है। यह वर्षा करती है, आँधी, ओला, बाढ़ और ठंडक लाती है। यह बुराइयों का विनाश करती है, महामारी को रोकती है, रोगों को ठीक करती है। नदियों की धारा को प्रभावित करती है, सर्पों को विष और बाघ, भालुओं एवं लोमड़ियों को शक्ति देती है। जिस प्रकार हो बोंगा को शक्ति मानते हैं उसी प्रकार संथाल भी बोंगा को भूत देवता मानते हैं जिसको संतुष्ट करने के लिए अनेकानेक रूप से कोशिश करते हैं। बोंगा के प्रसंग में 'बाजत अनहद ढोल' उपन्यास में बताया गया है।

जनजातियों के धार्मिक कृत्य मुख्य रूप से ग्रामीण पुजारी या उसके सहायक द्वारा सम्पादित होता है। इस कृत्य में जनजातीय लोग भगवान या देवता को मनाने के लिए बलि चढ़ाते हैं। बलिदान देने योग्य वस्तुएँ अंडे से लेकर भैंस तक हो सकती हैं। पूजा की दूसरी सामग्री होती है- सिंदूर, अरवा चावल एवं फूल आदि। समस्त जनजातीय समुदाय के लिए पशु-पक्षी के रक्त की पूजा का सर्वाधिक महत्व है। नयी फसल के दाने जैसे मकई, धान आदि भी चढ़ाए जाते हैं। उपरोक्त भेंट के अतिरिक्त ईश्वर को चावल से निर्मित देशी शराब (हंडिया) भी चड़ाई जाती है। जब भेंट चढ़ाई जाती है, उस समय पुजारी या बलिदाताओं द्वारा उपर्युक्त कथनों का उच्चारण भी किया जाता है। कुछ विशेष अवसरों पर शमन के कृत्यों से भेंट संबंधित रहती है। जनजातियों में त्योहार उनके धार्मिक जीवन का अंग है। इसके साथ ही धार्मिक कृत्य समाप्त होता है। 'जंगल के फूल' उपन्यास में मुरिया गोंड आदिवासियों द्वारा किये जाने वाले धार्मिक कृत्यों का वर्णन हुआ है।

त्योहार, जो जनजातीय लोगों को उत्साहित एवं प्रमोदित करता है। विभिन्न प्रकार के त्योहार लौकिक एवं धार्मिक, दोनों पहलुओं को समाविष्ट करते हैं। लौकिक शक्तियों के समानार्थ जनजातीय लोगों द्वारा जतरा (मेला) लगाया जाता है। पर्व एक दिन में समाप्त हो सकता है या कुछ दिनों तक चल सकता है। इन अवसरों पर विभिन्न देवी-देवताओं की पूजा की जाती है।

3.4. सांस्कृतिक संदर्भ

संस्कृति का जन्म एवं विकास मानव समाज के अभ्युदय के साथ ही आरम्भ हुआ है। जनजातीय समाज मानव इतिहास में संस्कृति के उन आरंभिक चरणों की ओर संकेत करते हैं, जहाँ से वह विकास की वर्तमान अवस्था तक पहुँची है। प्रत्येक मानव-समूह की संस्कृति में विशिष्टता का यह गुण पाया जाता है। जनजातीय समाजों में भी विशिष्टता का यह गुण स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। कालान्तर में जब सरल समाज धीरे-धीरे जटिलता की ओर उन्मुख होते हैं, तो यह विशिष्टता मात्र एक अतीत की वस्तु बनकर रह जाती है। जनजातीय समाजों के बारे में तभी पूर्ण जानकारी हो सकती है, जब इनके विभिन्न सांस्कृतिक पक्षों को समझा जाये।

किसी भी जनजाति की सभ्यता और संस्कृति का परिचय हमें उनके साहित्य से मिलता है। इस साहित्य को लोक साहित्य भी कहा जाता है। जिसके अन्तर्गत लोकगीत, लोकनृत्य, लोककथा आदि हैं और उनसे उनके जातीय गुण-धर्मों का पता चलता है। लोक-जीवन की सामूहिक चेतना, उनकी आशा-निराशा, दुःख-सुख, आशाएँ-स्वप्न और संघर्ष की मार्मिक अभिव्यंजना का चित्रण हमें उनके लोक साहित्य में मिलता है। साथ ही त्योहारों, उत्सव और संस्कारों के समय के हर्ष-विषाद के सुन्दर चित्र उपलब्ध होते हैं। इनकी प्रेरणाओं में जिन्होंने योगदान दिया है वे अज्ञात हैं और अज्ञात ही रहेंगे। वे प्राकृतिक जीवन के सहगामी हैं और उसी का नाम आदिवासी संस्कृति है। वनवासियों का स्थान हमारी सांस्कृतिक धरोहर में बहुत ऊँचा है। हमारे राज्यों में

प्रागैतिहासिक काल से आज तक इनके वंशज प्रकृति के गोद में खेल रहे हैं। गोंड, कोरकू, कोल, भील, कोरवा, उरांव, सवंरा आदि कुछ और समूहों ने अपनी संस्कृति और साहित्य को सुरक्षित रखा है। इनकी नृत्य प्रणाली, वेशभूषा, केश रचना, अलंकार, अस्त्र-शस्त्र और यहाँ तक कि रहन-सहन कलापूर्ण है। इनकी सामूहिक नृत्य की वेशभूषा, वाद्य, गीत और अंग-प्रत्यंग के अभिनय से प्रकृति में छुपा हुआ लालित्य, लय, नाद, वर्ण तथा आकार आदि उभर कर सामने आते हैं। इनके गीत जीवन के झांकी प्रस्तुत करते हैं। रचनाएँ सरल किन्तु हृदय को भावनाओं से भर देते हैं।

3.4.1.आदिवासी लोक कथाएं

भारत में आदिवासियों की संख्या करोड़ों में है। अपने वैभवपूर्ण सुखद अतीत को भुलाकर अब वे वन-पर्वतों में रह रहे हैं। गहन कानन इन्हें प्यारे हैं तथा पहाड़ों के उच्च शिखर आज भी इन्हें आगे बढ़ने को प्रेरणा देते हैं। इनकी हजारों ऐसी मान्यताएँ हैं जिनसे भारतीय संस्कृति प्रभावित हुई है। इनके देवी-देवता भी एक बड़ी संख्या में हैं जो इन्हें विषाद के क्षणों में सुख-शान्ति प्रदान करते हैं। प्रकृति की सुन्दरता आदिवासियों की आँखों में रात-दिन झूमती है। अवकाश के समय ये अपने परिवार के साथ मनोविनोद करते हुए जीवन की विषमताओं के काले चित्र खींचते हैं और कभी-कभी भूत-प्रेतों की कथाएँ सुनाकर अपने परिवार के सदस्यों एवं सहयोगियों को चकित कर देते हैं।

ये कथाएँ आदिवासियों के सुख दुःख प्रदर्शित करती हैं, इनके सामाजिक संगठन की प्राचीन रूप-रेखा प्रस्तुत करती हैं तथा धार्मिक विश्वासों का एक विस्तृत इतिहास बताती है। संसार कैसे बना ? वृक्ष किस प्रकार धरती पर खड़े हो गये ? आकाश चारों ओर कैसे फैल गया? सागर का पानी कैसे खारा बना ? संगीत की उत्पत्ति कैसे हुई ? मुरली बजाना किसने सिखाया ? मरने के पश्चात मानव को कितनी लम्बी यात्राएँ करनी पड़ती हैं ? मुर्गी का जन्म कैसे हुआ ? काग काला कैसे बना ? सूर्य, चन्द्रमा, तारे और जुगनू सहसा कैसे

चमकने लगे ? आँधी को किसने उत्पन्न किया ? आग आकाश से उतर कर धरती पर कैसे आई ? कुत्ता इन्सान के साथ कैसे रहने लगा ? नदियों के जल पर नाँव कैसे चलती है ? तथा धरती का विवाह इन्द्र के साथ कैसे हुआ ? आदि हजारों ऐसी कहानियाँ इन आदिवासियों में प्रचलित है जो इन वनवासियों की उर्वर कल्पना शक्ति को प्रदर्शित करती हैं।

इन आदिवासियों की कथाएँ कौतूहल से परिपूर्ण हैं क्योंकि "चमत्कार इन काननवासियों को अधिक प्रिय हैं। ये कथाएँ वैदिक साहित्य से भी प्रभावित हैं तथा विभिन्न भारतीय दर्शनों से भी इनका सबंध दिखाई देता है। सतत् सहचर्य के कारण वृक्ष-पुष्प, पशु-पक्षी, नदियाँ-नालें, छोटे-बड़े पर्वत आदि इन कथाओं के अभिन्न अंग बन गये हैं। बड़े-बड़े वृक्ष इन आदिवासियों के साथ नाचते-गाते हैं और विभिन्न रूप-रंगों के पशु-पक्षी इनके साथ भोजन करते हैं और सुख-दुःख की घड़ियों में साथी बनते हैं। चील इन अरण्यवासियों के संदेश को लेकर सागर पार जाती हैं, कबूतर मधुर गीत सुनाता है तथा काग भविष्य का संकेत करता है।"[101]

वस्तुतः लोक-कथाएँ आदिवासी जीवन का महत्वपूर्ण अंग है। कहानी कहने की प्रवृत्ति का इतिहास उतना ही पुराना है, जितना स्वयं मनुष्य की वाणी का। इन लोक कथाओं में आदिवासी जीवन का अंतरंग झलकता है। जीवन, विश्वास, परम्पराएँ तो इनमें प्रतिबिम्बित हैं ही, साथ ही साथ इनमें उनकी भोली-भाली मनोरम कल्पना के भी दर्शन सहज ही किये जा सकते हैं। जीवन का ऐसा कोई भी पहलू नहीं है, जो आदिवासियों की कथाओं में अवतरित न होता हो। उनमें मनुष्य और सृष्टि की उत्पत्ति की कथाएँ हैं। आकाश में अपने प्रकाश का प्रखर और स्निग्ध रूप बिखेरने वाले सूर्य, चन्द्र और तारागण की कथाएँ हैं। मनुष्य-शरीर की मूल आवश्यकताओं के रूप में जल और वायु की कथाएँ हैं। अनादि काल से मनुष्य के सुपरिचित पशु-पक्षी, सर्प आदि की कथाएँ हैं। मानव-सभ्यता के विकास के उपकरणों की रम्य कल्पनाएँ हैं। उनके जीवन में आनंद और विश्वास की अनुभूति कराने वाली तम्बाखू और मदिरा की कथाएँ हैं। इन आदिवासियों ने मृत्यु को भी कल्पना की दृष्टि से देखकर उसकी गंभीरता की कथाएँ कहीं हैं। आदिवासियों के धार्मिक जीवन, नृत्य, उत्सव, विश्वास, अंधविश्वास, सभी का प्रतिबिम्ब उनकी कथाओं में अंकित हैं।

उपर्युक्त कथा-विषयों को ध्यान में रखते हुए सामान्यतया आदिवासी कथाएँ इस प्रकार विभाजित की जा

सकती है- "

1. सृष्टि की कथाएं। 2. देवी-देवताओं की कथाएं।

3. पशु-पक्षियों की कथाएं। 4. वृक्ष एवं पुष्पों की कथाएं।

5. भूत-प्रेतों की कथाएं। 6. जादू-टोना विषयक कथाएं।

7. अंधविश्वासों की कथाएं। 8. त्योहारों की कथाएं।

9. खाद्य पदार्थों की कथाएं। 10. शिकार की कथाएं।

11. चोरों की कथाएं। 12. ठगों की कथाएं।

13. साहूकारों की कथाएं। 14. साँपों की कथाएं।

15. युद्धों की कथाएं। 16. जड़ी-बूटियों की कथाएं।

17. राक्षसों की कथाएं। 18. परियों की कथाएं।

19. राजा-रानियों की कथाएं। 20. आभूषणों की कथाएं।

21. ऐतिहासिक कथाएं। 22. प्रेम कथाएं।

23. हास्य कथाएं। 24. मनोरंजन कथाएं।

25. प्रतिशोध की कथाएं। 26. विवाह की कथाएं।

27. विद्रोह की कथाएं। 28. अत्याचारों की कथाएं।

29. मूर्खों की कथाएं। 30. दूर्थों की कथाएं।

31. बालक-बालिकाओं की कथाएं। 32. यात्राओं की कथाएं।

33. भविष्यवाणी से संबद्ध कथाएं। 34. स्वप्नों की कथाएं।

35. साधू-संतों की कथाएं। 36. शाप-वरदान की कथाएं।

37. नारी कथाएं। 38. दास-दासियों की कथाएं।

39. न्याय संबंधी कथाएं। 40. बुद्धि-परीक्षा विषयक कथाएं।

41. कहावतों की कथाएं। 42. बलिदान की कथाएं।

43. विविध।"[102]

अभिप्राय लोक-कथा का एक विशिष्ट तत्व है। यही कथा में अलौकिकता उत्पन्न करता है तथा कथावस्तु में ऐसे कई परिवर्तनों को अनायास समाविष्ट कर देता है जो समाज विशेष की मान्यताओं की ओर संकेत करते हैं। लोक-कथाओं का कथात्मक कलेवर कई प्रकार के अभिप्रायों से निर्मित होता है और ये अभिप्राय ही कथा की एक रूपता को स्थापित करने में सहायक माने जाते हैं।

आदिवासियों की लोककथाओं में पाये जाने वाले सैंकड़ों अभिप्राय हैं। जिनमें कुछ इस प्रकार हैं जो लोक विश्वासों एवं कल्पना पर आधारित हैं-

"1. आपत्तिकाल में कुल-देवता द्वारा सहायता।

2. स्वप्नों के माध्यम से भविष्य का संकेत।

3. नाग का रस्सी बन जाना।

4. जादू की लकड़ी।

5. जादू की डोरी।

6. साधू का शाप और आशीर्वाद।

7. सोने की अंगूठी का खो जाना।

8. सोते हुए हँसना और रोना।

9. साँप के द्वारा छिपे हुए धन का संकेत।

10. सिंह का आदमी के साथ भोजन करना।

11. खरगोश का नाचते हुए लड़की बन जाना।

12. धरती का हिलना।

13. आकाश से आग बरसना।

14. गगन से धन की वर्षा।

15. इन्द्रलोक से गजराज का धरती पर आना।

16. सियार की भविष्यवाणी।

17. सियार द्वारा निर्णय देना।

18. शेर का रात में बदला लेना।

19. शेर का घर पीछे खड़ा होकर मनुष्यों की बातें सुनना।

20. शर्तों की पूर्ति के पश्चात् युवक का विवाह होना।

21. मुर्गे के कानों में हजारों मन अनाज का रखा जाना।

22. परियों का वरदान।

23. हाथी द्वारा राजा का चुनाव।

24. मंत्रित जल के छिड़काव से मरे हुए आदमी का जीवित होना।

25. प्राणों का तोते के शरीर में निवास।

26. राक्षस की पुत्री द्वारा प्रेमी को मक्खी बनाना।

27. मानव को पक्षियों द्वारा उद्बोधन।

28. सुनहरे बालों से परियों की पहचान।

29. जादू-टोना के पेड़।

30. पशु-पक्षियों का मानव बोली में बोलना।

31. रूप परिवर्तन एवं लिंग परिवर्तन।

32. होड़ अथवा स्पर्धा।

33. चूहे का राजकुमारी से विवाह करना।

34. चूहों द्वारा लोहे का भक्षण।

35. चील द्वारा हाथी का भक्षण।

36. बिल्ली द्वारा हाथी को आकाश में उड़ा ले जाना।

37. तालाब में स्नान करती हुई परियों को देखना और उनके ही साथ इन्द्र लोक में कथा-नायक का जाना।

38. इन्द्र लोक में रहने वाले पूर्वजों का अपने संबन्धियों के घर आना और पर्याप्त धन देना।

39. लाल कपड़े के चमत्कार।

40. किसी शर्त के तोड़े जाने पर परी का अदृश्य हो जाना।

41. सत्य की विजय।

42. अपराधी को जलते हुए अंगारों पर चलने के लिए बाध्य करना।

43. बुद्धि-परीक्षा।

44. पहेलियों को बुझाना।

45. स्त्री-हट।

46. शाप के द्वारा हरे वृक्ष को धरती पर घिराना।

47. मंत्रों द्वारा सिंह के मुख को बन्द करना।

48. मोर का इन्द्रलोक में जाकर नाचना।

49. मानव द्वारा पशु-पक्षियों की बोली समझना।

50. भाग्य-लेख।

51. भौजाई की फटकार।

52. अद्‌भुत् न्याय।

53. मौन-भंग।

54. करामती अंजन।

55. अंगूठी के माध्यम से प्रेमी की पहचान।

56. मंत्र-बल से जल-भरे तालाब का सूख जाना।

57. प्रसन्न होकर सांप-द्वारा हीरे की अंगूठी का देना।

58. मयूर-पंखों से सोने की वर्षा।

59. लाल मुर्गी द्वारा सोने के अण्डे देना।

60. साधू द्वारा भटकते हुए राज कुमार को एक हजार रूपये लेकर सलाह देना। आदि, आदि।"[103]

आदिवासियों की कथाओं में निम्न लिखित देवी-देवता विशेष चर्चित हैं- "

1. बड़का देव	2. निंगोदेव	3. वनसामदाऊ	4. दुलहादेव
5. मसान	6. खरसाने	7. बधौत	8. भेंसासुर

9. बाबा	10. देवी	11. मरी	12. कालिका
13. सारदा	14. सीतला	15. घटौरिया	16. दुरसिन
17. बन्दरिया	18. चिरकुटी	19. चंडी	20. अष्टभुजा
21. फूलमती	22. लोढ़ामाई	23. अलोपन	24. मरकाम
25. नेटिया	26. कोरीम	27. खुसरो	28. टेकमा
29. पोया	30. मरपाची	31. मराई	32. नेताम
33. ओइमा	34. सोइमा	35. ओइका	36. मराबी
37. धुरवा	38. सरपाटिया	39. चिचमा	40. ठाकुरदेव
41. सैहादेव	42. नारायण देव	43. होलेरादेव	44. सतवारादेव
45. खैरवारादेव	46. अलोहादेव	47. चउरादेव	48. धरतीमाता
49. सूरजदेव	50. अन्नदेव	51. आगीदेव	52. बवानीमाता
53. नरबदा माई	54. रात माई	55. भूतादेव	56. राकसदेव
57. हनुमान	58. महादेव	59. काला जी	60. भैरव
61. रामदेव	62. कागदेव	63. बाप जी	64. मच्छीमाता
65. पहाड़देव	66. घाटदेव	67. बाबूसम	68. बालूसम
69. दोरीसम	70. पुरूधुल	71. तलवारदेव	72. विविध"[104]

इन लोक कथाओं में उल्लिखित कुछ पशु-पक्षी इस प्रकार हैं-

"गाय, भैंस, बकरी-भेड़, बकरा, सुअर, हिरण, शेर, चीता, तेंदुआ, हाथी, रीछ, सियार, लोमड़ी, कुत्ता, बिल्ली, सेही, गधा, घोड़ा आदि, चील, कबूतर, कौआ, तीतर, मोर, पपीहा, कोयल, खंजन, सारस, तोता, मैना, मुर्गा, मुर्गी, हंस, नीलकंठ, गोरैया आदि।"[105]

आदिवासी कथाओं में चर्चित कुछ वृक्ष इस प्रकार हैं -

"नीम, बट, पीपल, ऊमर, महुआ, खैर, शीशम, आम, बबूल, साल, आंवला, सरई, अमरूद, सीतीफल, कटहल, जामून, सेमर, लभेर, भिलवा, इमली, ताड़, खजूर आदि।"[106]

आदिवासियों के जीवन में पुष्पों की विशेष उपयोगिता है। इन फूलों के सौरभ से इनकी सारी जिन्दगी हमेशा महकती रहती है। आदिवासी युवक एवं युवतियाँ इन कानन के पुष्पों से अपने शरीर को अलंकृत करते हैं तथा देवी-देवताओं की पूजा विशेषतः इन्हीं फूलों से होती है। धार्मिक और सामाजिक उत्सवों की सुन्दरता हरे पल्लवों तथा सुरभित फूलों से साकार बनाई जाती है। फूलों के अभाव में इन आदिवासियों की खुशियाँ मुरझाने लगती हैं। पादपों पर खिलखिलाते हुए प्रकृति के ये सलौने लाड़ले आदिवासियों को नाचने के लिए प्रत्साहित करते हैं और आनंद के साथ जीवन बिताने हेतु प्रेरणा देते हैं। सत्य तो यह है कि फूलों की बहारें आदिवासी-जीवन सरिता की चंचल लहरे हैं। चंपा, चमेली, गेंदा, गुलाब, लुदम-फूल, नारायण-फूल, साखू-फूल आदि की उत्पत्ति कथाएं इतनी रसीली हैं कि इन्हें बार-बार पढ़ने-सुनने की इच्छा बनी रहती है। इन कथाओं में ये फूल सौन्दर्य के प्रेमियों के प्रतीकों के रूप में अधिक प्रयुक्त हुए हैं। कहानियों में बार-बार जिन फूलों की चर्चा होती हैं उनमें से कुछ निम्न प्रकार से हैं-

"गुलाब, गेंदा, चम्पा, चमेली, पलाश, सिरस, सेमल, दूधी, कद्दू, बाँस, इमली, अशोक, करोंदा, लौकी, जामुन, शीशम, महुआ, अटल आदि।"[107]

प्रेमी इन फूलों को समर्पित कर अपनी प्रेमिका को मुसकुराने के लिए विवश कर देता है और प्रेमिका इन पुष्पों को अपने प्रेमी की ओर फेंककर अपनी प्रणय-स्वीकृति का संकेत देती है। इन आदिवासियों की सारी प्रणय-लीला के साथी ये फूल ही होते हैं।

यहाँ यह कहना आवश्यक है कि आदिवासियों में कथा कहने वालों की संख्या सीमित है। समाज के वृद्ध एवं अनुभवी लोग कहानी कहने में प्रवीण होते हैं। नारियाँ निरन्तर कार्य में व्यस्त रहती हैं। फलतः न ये कथाएँ सुन पाती हैं और न कहानी कहने की कला को सीख पाती हैं। बहुत ही कम ऐसी वृद्धाएँ हैं जो सुन्दर लोक-कथाएँ सुनाकर बालकों का मनोरंजन कर पाती हैं। कथक्कड़ मदिरा पीकर ही लोक-कथाएं कह पाते हैं। शराब पीकर जब ये कथा कहने लगते हैं तब सुनने वाले पैर पसार कर रहते हैं और कथा कहने वाले की रातों की लम्बाई का अन्दाज लगा पाते हैं। मदिरा का गहरा नशा विविध कल्पनाओं को जगाता है और वाणी को अवसरानुकूल धीमा तथा क्षिप्र बनाता है। धार्मिक कथाओं के श्रोता बहुल संख्यक होते हैं जिनमें वृद्धों एवं वयस्कों की संख्या पर्याप्त होती हैं। लेकिन बालक-बालिकाएँ इन कथाओं को सुनने के लिए उत्सुक नहीं देखे

गये हैं।

वस्तुतः आदिवासी संस्कृति तथा सभ्यता के अध्ययन के लिए ये कथाएं बड़ी उपयोगी हैं। इस लोक कथा साहित्य का वैज्ञानिक एवं समाजशास्त्रीय अध्ययन वर्तमान युग में अधिक आवश्यक है। जबकि विद्वान समस्त मानव-जाति के सामाजिक विश्लेषण में संलग्न हैं। इन कथाओं के कतिपय तत्व निम्नलिखित हैं- "

1. प्रेम का पर्याप्त पुट।
2. प्राकृतिक सुषमा का सुखद चित्रण।
3. लौकिकता एवं अलौकिकता का समन्वय।
4. मानवीय सहज प्रवृत्तियों का अंकन।
5. संयत श्रृंगारिकता।
6. सामाजिकता के प्रति विशेष आग्रह।
7. नारी सम्मान की विशेष स्पृहा।
8. शौर्य-चित्रण का बाहुल्य।
9. देवी-देवताओं के प्रति आगाध श्रद्धा।
10. अंक-विश्वासों के प्रति विशेष आकर्षण।
11. सुन्दरता के विविध स्तरों का उल्लेख.
12. मानव की आदिम प्रवृत्तियों की पर्याप्त चर्चा।
13. संगीत, नृत्यादि का आकर्षक वर्णन।
14. दमन के प्रति विद्रोह।
15. अपने अस्तित्व के संरक्षण में सतत प्रयास।
16. बाह्यसंपर्क के प्रति अनिच्छा।
17. उपलब्ध एवं सीमित साधनों में सन्तुष्टि।
18. शोषकों के प्रति बगावत के स्वर।
19. आदर्श आतिथ्य की अभिव्यक्ति।

20. आत्मोत्सर्ग के प्रति तत्परता।

21. आडम्बर के प्रति घृणा का प्रदर्शन।

22. पशु-पक्षियों के एवं कीट-पतंगों का मानवीकरण।

23. लोक-मंगल की भावना।

24. कुतूहल का व्यापक प्रभाव।

25. उपदेशात्मकता।

26. शिष्ट हास्य-विनोद।

27. लोक-मानस की भावुकता।

28. पंचायत के निर्णय की प्रधानता।

29. एकाकी जीवन की निस्सारता।

30. सामूहिक आमोद-प्रमोद की भावना।

31. गण-चिह्न के प्रति सतत सम्मान तथा वर्जित कर्म का निरन्तर विरोध आदि।"[108]

अब तक हमने लोककथा की विवेचना की है। जिसके अंतर्गत आनेवाले सभी पक्षों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। अब हम हिन्दी उपन्यासों में आदिवासी जीवन को उजागर करने वाले उपन्यासों में चित्रित कथाओं का प्रस्तुत करने जा रहे हैं। 'पठार पर कोहरा' उपन्यास में एक लोककथा का चित्रण हुआ है। जो पक्षियों की आवाज पर निर्मित है। आदिवासी पक्षियों की आवाज पर भी कथा बुनते हैं। उपन्यास में चित्रित कथा एक पंडुकी पर आधारित है। उपन्यास का प्रमुख बाल पात्र सोनार अपनी माँ रंगेनी से कथा सुनाने का आग्रह करता है। बहुत मनाने के बाद रंगेनी सोनारा को कथा सुनाने के लिए तैयार हो जाती है, जो इस प्रकार है-

"तो एक गो थी पण्डुकी...।

हूँ...!

पण्डुकी रोज राजा के घर से तीसी लाती थी। रात को तीसी का तेल पेरती थी और अनुगुत्ति राजा के

घर तेल पहुँचा आती थी।

"कैसा राजा था माई ? आदमी जन नईं थे उसके घर में का जो चिरईं से तेल परवाता था...दुर् ऐसन राजा !" सोनारा कथा के प्रारम्भ को ही नकार दिया।

"थे आदमी जन" माँ ने कथावाचन की परम्परिक रीत समझायी, "पर कहानी में जादा किन्तु-परन्तु और पूछ ताछ नईं करते। बस सुनते हैं और हुंकारी भरते हैं।"

"कहानी झूठी लगे तो भी हुंकारी ?" सोनारा ने विरोध किया।

"हाँ, तो भी। तुझे कहानी सुननी है कि नहीं रे ?"

"हाँ-हाँ, सुननी है। तो कहन आगे तू। अब हम हुंकारी भरेंगे बस। कह तू...।"

तो एक दिन का बात है...! (कहानी आगे बढ़ी) पण्डुकी का बच्चा भूखा था। हाथ-पैर पटक रहा था भूख से। गलती से बच्चे का पैर तेल के बासन में लग गया। थोड़ा सा तेल छलककर बाहर गिर गया...।

सोनारा- "जाआआआत्तेरी।"

पण्डुकी डर गयी। तेल घटेगा तो राजा गोस्सा जायेगा। राजा का कोप गिरा तो बहुत मुसकिल...। अब का होगा दद्दा...? पण्डुकी ने हाथ में पकड़ी मूसल से एक मूसल बच्चे की पीठ पर धर दिया। बच्चा 'चेंह' करके घोलट गया और हड़बड़ायी पण्डुकी राजा के घर तेल पहुँचाने निकल गयी। राजा के घर तेल नापा गया। ले मजा, तेल तो मनिक घटा ही नहीं, उल्टे थोड़ा बढ़िए गया।

बाह ! इ कैसे माई ? सोनारा खुश हुआ।

का पता कैसे,... पर जब पण्डुकी घर लौटी और अपने बच्चे को सोया बूझकर खाने के लिए जागाने लगी तो हाय...!

बचवा मूँ गया था न ? बच्चे की आवाज में अवसाद उमड़ आया था।

हाँ रे ! चिरईं के बच्चा में जान केतना ? मूसल की मार से मर गया था।

रो-रो के बच्चे को जगाने लगी पण्डुकी, पर मरा बच्चा उठता क्या ?

फिर माई ?

फिर का ?... कपार नोचने लगी पण्डुकी। रोने लगी तो आज तक रोती फिरती है रे तूने सुनी है पण्डुकी के रोने की आवाज ?

नईं...।

तो ध्यान से सुनना अब की कैसे बोलती है पण्डुकी। कहती है- तुर्र-तुर्र...तीसी के तेल तुर्र-तुर्र टक्के सेर...तुर्र-तुर्र बेटी भेल तुर्र-तुर्र...घर-घर गेल तुर्र-तुर्र...बेटा भेल तुर्र-तुर्र...

मर-मर गेल सोनारे ने पण्डुक की आर्त टेर का अन्तिम बन्ध पूरा किया।

हाँ... कहानी गई बन में, सोच अपने मन में, और अब सुत जा ! कहानी खत्म हो गयी।"

बगल के कमरे में सो रहा संजीव भी इस कहानी को सुन रहा था। संजीव भी इस मार्मिक लोककथा से प्रभावित हुए बिना न रह सके और अपने मन में सोचने लगे कि- "पशु-पक्षियों की आवाजों-ध्वनियों में भी कहानी कैसे ढूँढ़ लेते हैं ये जंगल के लोग...?"[109]

इसी प्रकार 'काला पादरी' उपन्यास में उराँव के मृत संस्कारों और प्रेतात्माओं को चढ़ाव के संदर्भ में एक धार्मिक कहानी बैगा द्वरा कही गई है जो इस प्रकार है-

"बारह असुर बंधु तथा तेरह लोधार बंधु दिन-रात लोहा गलाया करते थे जिससे सारा संसार काला होकर झुलस गया था। कहीं हरियाली नहीं थी। ज़मीन में कहीं घास नहीं थी। यहां तक की धरमेस के घोड़े के लिए भी नहीं। धरमेस ने अपने दूत असुरों के पास और लोधार भाइयों के पास भेजे। और उनसे कहा कि लोहा गलाना बंद करो। लेकिन हुआ यह की वे अहंकारी थे। उन्होंने धरमेस के संदेश वाहक पक्षियों के साथ दुर्व्यहार किया। और वे अपने काम में लगे रहे। ऐसे काम जो कि विनाशकारी थे। तब धरमेस को लगा कि अब कुछ करना चाहिए।

धरमेस एक कोढ़ी युवक का भेष धारण किया और वह उनके बीच प्रगट हुआ। असुरों और लोधारों ने

उसका तिरस्कार किया। वहां एक विधवा थी। जिसने उस कोढ़ी युवक पर दया की और उसे अपने घर ले आयी। धरमेस विधवा के साथ चले गये और फिर धरमेस ने वहां पर गरीबों के लिए कई चमत्कार किये। धरमेस ने स्वयं अपनी आंखों से देखा कि असुर और लोहार पुरुष और स्त्रियां सभी बेहद घमंडी थे। वे किसी की बात नहीं सुनते थे। बहुत कोशिश के बाद अंत में जब धरमेस को लगा कि वे किसी भी तरह से सुधरने वाले नहीं हैं तो धरमेस ने अपनी शक्ति से उनके लोहे गला दिये। तब हुआ यह कि असुर और लोधार, कोढ़ी युवक के पास आये और उससे पूछा ये लड़के क्या तुम कोई तंत्र-मंत्र जानते हो ?

धरमेस ने कहा हां।

तो कुछ ऐसा करो कि हमारा जो लोहा गल गया है वह फिर से ठीक हो जाये। उन्होंने कोढ़ी युवक से विनती करते हुए कहा और उसके पैरों में घिर गये।

धरमेस मुस्कुराया और उनसे कहा उन्हें उसका बलिदान देना होगा।

असुर और लोधार पहले तो चौंके पर फिर तैयार हो गये। उन्हें लगा कि यह कोढ़ी युवक मूर्ख है। स्वयं के बलिदान की अनुमति उनसे मांग रहा है ताकि इनका गला हुआ लोहा फिर ठीक हो जाये।

इस तरह धरमेस ने उनके लोहे के एक भट्ठे में प्रवेश किया और उनसे कहा कि वे अपना काम करें। असुरों और लोधारों ने छौंकनी चलानी शुरू की। वे सात दिन और सात रातों तक लगातार छौंकनी चलाते रहे। फिर धरमेस ने भट्ठे के अंदर से उन्हें आदेश दिया, मिट्टी के एक घड़े में पानी ला कर, आम की पत्तियों से अपने भट्ठे पर पानी छिड़कें।

सबने ऐसा ही किया, जैसा कि उन्हें धरमेस ने आदेश दिया था। मटका जब ठंडा हो गया तो उन्होंने उसे खोला और आश्चर्य से भर गये। वह कोढ़ी युवक सोने के रंग का हो गया था। और जब वह मुस्कराते हुए बाहर निकला तो सोने से लदा हुआ था। सोना रूपा तुरू झबराक्रस डरणकस असुरों की और लोधारों की जीबें लपलपा आयीं। सोने की चमक सीधे उनकी आँखों में उतर गई। बहुत सारा सोना अपने सामने देख कर वे भी सोना हासिल करने के लिए तरस उठे। उन्होंने अपनी पत्नियों को और अपने बच्चों को छोड़ा और उनके लिए बहुत सारा सोना पाने की आशा में अपने अपने भट्टों में घुस गये और धोखा खा कर अपने ही भट्ठों के अन्दर फंस गये।

इसके बार धरमेस ने उनकी औरतों से कहा कि वे मिट्‌टी के काले घड़ों में पानी लायें और सिन्दुआर का डालियों से वह पानी अपने भट्‌टों पर छिड़कें और उनके दरवाजे खोलें। जब उन स्त्रियों ने भट्‌ठों की द्वार खोले तो वहां उनके पतियों के राख और जली हुई हड्‌डियों के अलावा और कुछ नहीं था। वे चीख पड़ी। पूरा वातावरण उनकी चीखों से भर गया।

बाहर धरमेस अपने घोड़े पर सवार होकर जाने लगे। स्त्रियाँ और बच्चे धरमेस के पैरों से लिपट गये और उन्होंने गिड़गिड़ा कर प्रार्थना की 'जिना पनी एदआ चिआ' अर्थात- धरमेस अब हमे जीने की राह दिखाओ।

धरमेस ने उनकी बात सुनी और उन सबको प्रेतात्माओं में बदल दिया और उनसे कहा मुनुष्य तुम्हारे लिए चढ़ावा दिया करेंगे।"[110]

'जंगल के फूल' उपन्यास में लोककथा का चित्रण हुआ है जिस का सारांश है कि आदिवासी कभी किसी से लड़ेते नहीं, वे अपने प्राकृतिक जीवन में खुश हैं। उन्होंने कभी किसी को युद्द के लिए ललकारा नहीं, बाहरी लोगों ने ही जंगल में प्रवेश कर उन्हें ललकारा है। उनके पास कोई विकल्प न होने के कारण लड़ना अनिवार्य था। अंततः अपनी बुद्धि बल से उन से बदला लिया। कहानी इस प्रकार है-

"सुनो बड़ी पुरानी बात है। मेरे दादा ने मुझे बताई थी। शायद उनके दादा ने उन्हें बताई हो। वह भी कहते थे कि मैंने सुना है। यानी किसने देखा, कोई नहीं जानता........।

एक बार कुछ आदमी आए। उनके साथ बहुत बड़ी पल्टन थी, बहुत बड़ी। वे बोले- हम तुमसे लड़ने आये हैं। तुम अपनी सेना जमा करो। गोंड ने एक दूसरे की ओर देखा। फिर सबने एक साथ आवाज लगाई- हो.....हो......हो....। एक बार, दो बार, तीन बार। जंगल से शेर, चीता, सांभर, हाथी, रीछ सब निकल-निकलकर आने लगे। एक बड़ी सेना वहाँ इकट्‌ठी हो गई।

फिर क्या था। दोनों दलों में लड़ाई शुरू हो गई। आदमियों ने अपनी मशीनों से एक-एक कर सबको खतम करना शुरू कर दिया। धीरे-धीरे सब मर गये। अकेला एक गोंड बचा। वह डर गया था, पर तुम जानते

हो, दुनिया में सबसे समझदार गोंड होता है। बोला- मैं अकेला रह गया हूँ। मुझे मार कर क्या करोगे ?

मैं तुम्हारा क्या बिगाड़ सकता हूँ ? मुझे जाने दो।

आदमियों ने आपस में कुछ बातचीत की, सब एक साथ हँसे। फिर उनमें से एक बोला- जाओ, फिर हमारे सामने मत आना। वह चला गया। उसने अपने मन में कहा- हम कब तुम्हारे सामने आये बाबू। ललकारा है तो तुमने हमें। वह अकेला था। मुँह न खोल सका, वह चला गया और उदास रहने लगा। पहली बार उसकी हार हुई थी। वह सोचने लगा, इन आदमियों का क्या ठिकाना, फिर कभी आ जाएं । वह एक कुम्हार के यहाँ गया। वहाँ से छोटी-छोटी डबुलियाँ ले आया। उसने उन डबुलियों में छोटे-छोटे कीड़े भरे। कीड़े भरकर उनका मुँह बन्द कर दिया। एक बैल गाड़ी में उन डबुलियों को रखकर वह अकेला शहर की ओर चल पड़ा। जहाँ से वे आदमी आए थे, वहाँ वह पहुँच गया। उसने देखा, बड़ी-बड़ी सडकें हैं। भूत-प्रेत दिन दहाड़े सडकों पर घूमते हैं। अजीब आवाज होती है। अजीब ढंग से वहाँ के लोग रहते हैं। सड़क के एक चौराहे पर खड़े होकर उसने ललकारा- अरे आदमियों, अब आओ, मैं अकेला तुमसे लड़ने आया हूँ। सुना तो आदमी इकट्ठे होने लगे। एक भीड़ वहाँ जमा हो गई। पर किसी के हाथ हथियार नहीं थे। सब निहत्थे थे। सब खूब हंस रहे थे। उनमें से एक ने कहा- अकेला है बेचारा !

उसने फिर ललकारा- नहीं मैं तुमसे लड़ने आया हूँ, तुम ने हम जंगलवासियों को बेमतलब ललकारा था।

सारे लोग जोर से हँस पड़े- तो आ, हम बिना हथियार के लड़ने को तैयार हैं। वह बोला- तो करो धावा। पहले मैं तुम पर हाथ नहीं उठाऊंगा।

एक ने नीचे से एक पत्थर उठाया और उसकी ओर फेंका। वह पत्थर उसकी छाती से जा टकराया। उसने पत्थर की मार झेल ली और हाथ में उठा-उठाकर डबुलियों को चारों ओर फेंकना शुरू किया। उनसे निकल-निकलकर कीडें उन्हें काटने लगे। आदमियों में खलबली मच गई। वे घबराकर भाग गए। वह अकेला गोंड उन सब लोगों को हराकर चला गया। सुना है कि उस शहर में सात दिन तक कीड़े बराबर उड़ते रहे। हजारों आदमियों की उन्होंने जान ली।"[111]

इस कहानी के साथ-साथ उपन्यास में और एक कहानी का चित्रण हुआ है जिसमें कहा गया है कि दुनिया में सबसे पहले जादू-टोना आदि गोंड ने ही सीखा है और गोंड आदिवासी इसे लोककथा के रूप में

बताते रहते हैं। नेतानार के दक्षिण में मेंवड़े के पास झाड़ियों का एक भारी झुरमुट है। वही पुराना मरघट है। न जाने किस जमाने के लोग वहाँ सो रहे हैं। गुण्डा की माँ ने यहीं अपनी साधना शुरू कर दी और कई महीनों के बाद वह ऐसे मुरदे को जगाने में सफल हो गई जो सौ साल पहले नेतानार का आतंक था। उसने कई नये-नये मन्तर बताये। उन्हें सीखकर, उसके जैसे पर लग गए। गुण्डा को यह पता लगा तो उसने अपनी माँ को रोका, बोला- "याय्ते, यह खतरनाक काम क्यों करती है ? ज्यादा जादू सीखकर हमें करना क्या है। नहीं रे -वह बोली- जादू-टोना हमारी विरासत है। तू नहीं जानता, सबसे पहले जादू सीखा था हमारी ही जाति के एक आदमी ने। अपनी दादी से मैंने कहानी सुनी थी, तू भी सुन ले। वह तो ठीक है याय्ते, पर....। पर क्या ? पागल बना है। हमारे पुरखे जो गुण जानते थे, हम उसे भूल जाएं ? अरे हमें तो उसकी बढ़ती करनी चाहिए, चल बैठ यहाँ।"[112] उसने गुण्डा को नीचे बैठा लिया और कहने लगी-

"हमारा देवता नन्दराज जादू-टोनों का स्वामी है। दुनिया-भर की सारी तांत्रिक विद्याएं उसे आती हैं। एक दिन स्वर्ग के सारे देवता नन्दराज गुरू के पास जादू सीखने गए। तब हमारे इसी गाँव का एक चेलिक उसी जंगल में जड़ खोद रहा था। उसने अंजानी जगहों से कुछ आवाजें सुनीं। उसने चारों ओर देखा। उसे तो आवाज बराबर सुनाई दे रही थी, पर कहीं कोई दिखाई नहीं देता था। वह रोज ये आवाजें सुनता रहा। कहते हैं, नन्दराज गुरू अपने चेलों को जादू इसी जंगल में सिखाया करते थे। जब सारे देवता और मृतक जादू सीख चुके तो नंद राज ने अंतिम दिन इस जंगल में समारोह मनाया और उसने मुरगी तथा अंडे अपने देवता को भेंट किये। उस प्रसाद को गुरू ने सात हिस्सों में बांटा, क्योंकि सीखने वाले चेले सात थे। पर उसने देखा कि सात हिस्से आठ हिस्सों में बंट गए हैं। नंदराज ने सबको बुलाया और कहा- जाओ सारा जंगल खोजो, कहीं न कहीं कोई भूत, जानवर या मृत्युलोक का आदमी छिपा है। उसने हमारी विद्या सीख ली है। उसे ढूंढो। सातों चेले खोजने के लिए निकल पड़े। उन्हें एक झाड की डाल पर यही चेलिक बैठा मिला। उसे पकड़कर वे गुरू के पास ले गए। गुरू नंदराज ने उस आदमी से कहा- देखो यहाँ सब देवता ही हैं। तू ही एक आदमी है, जिसने हमारा जादू सीख लिया है। यह तूने बड़ी गलती की है और यदि अब तू कुछ भेंट नहीं देता तो तेरा सारा परिवार नष्ट हो जाएगा। उसने जब भेंट के बारे में पूछा तो नंदराज ने उसके इकलौते लड़के की बलि मांगी।

नंदराज नहीं चाहते थे कि पृथ्वीचल का कोई वासी यह विद्या सीखे। इस तरह कि मांग करने से वह हिम्मत हार जाएगा और मुक्ति की प्रार्थना करेगा। नंदराज को यह भय भी था कि वह दुनिया में जादू का उपयोग करेगा, जिस से कहीं मृत्यु नहीं होगी और दुनिया में सारे कष्ट नष्ट हो जाएँगे और जब आदमी ही नहीं मरेंगे तो देवता शासन किन पर करेंगे। पर चेलिक तो इस अमूल्य विद्या के लिए अड़ गया था। उसने अपने इकलौते लड़के की भी बलि दे दी। नंदराज ने उस लड़के का कलेजा सातों देवताओं और उस चेलिक को प्रसाद के रूप में बाँट दिया। चेलिक ने जैसे ही उसे खाया, वह सारे भूत-प्रेतों का स्वामी हो गया। इस चेलिक की हम सब संतान हैं। सारी दुनिया में सबसे पहले जादू हमने सीखा है।"[113]

'पठार पर कोहरा' में 'करमा पर्व' के प्रसंग में कहानी कही गई है। करमा पर्व निश्चित दिन में ही क्यों मनाया जाता है उस दिन का महत्व को बताते हुए हरमू द्वारा कथा सुनाई गई है। उस दिन करमा पर्व था। ढोल-माँदल की थाप पर झूम रहा था गजलीठोरी। सूअर के माँस के साथ खूब सारी हँड़िया...! करमदेऊ की पूजा के बाद दावत और नृत्य-गीत।

"हवा के पंख़ों पर तैरती करमा-गीत की स्वर-लहरी गजलीठोरी के सिवान तक पहुँच रही थी। हरूमू और संजीव दोनों करमा पूजा देखने निकल पड़े।

हरमू संजीव से पूछता है- 'सुनते हो संजीदा' ?

'हाँ' संजीव ने जबाब दिया।

'जानते हो संजीदा इस परब का महतम क्या है?'

'नहीं...! 'बताओ तो जानें।' संजीव ने पूचा।

हरमू कहना शुरू किया- 'हंसुए जैसा टेंढ़ और टंकुए जैसी सीधी कथा है। एकदम अलबत्त संजीदा। सूई की नोक पर धरती अटक गयी। मकड़ी के जाल में हाथी लटक गया।'

'वाह...!' संजीव बोले, 'खूब कथा रसा लेते हो तुम भी हरमू।'

'हम कहाँ ? पहान इसी तरह शुरू करता है करमदेऊ की कथा।"[114]

"एक राजा के दो बेटों धरमा और करमा की कथा, जिसमें करमा व्यापार करने परदेस चला जाता है और धरमा राजकाज देखने लगता है।'

ब'फिर...?' संजीव ने पूछा।

'फिर क्या ! खूब धन कमाकर करमा घर लौटा। सिवान पर ठहरकर भाई को अपने आने का सन्देसा पठाया। सुन रहे हो न संजीदा ?'

'हाँ, कहो आगे तुम।' संजीव चलते रहे। हरमू कथा कहता गया-

'भाई लौटा। धरमा खुश हुआ पर करमदेऊ की पूजा पर बैठा था सो दौड़कर भाई के गले नहीं मिला, बस...। गोस्सा गया करमा। घर पहुँचा और पूजा को छित्तर-बित्तर कर दिया। करमदेऊ की डाली उखाड़कर नाली में फेंक दी। करमदेऊ का कोप टूटा। सारा कमाया धन, हाथी-घोड़ा छन भर में हवा में बिला गये।'

'फिर...?'

'धन का नशा उतरा तो पराश्चित करने लगा करमा। करमदेऊ के पीछे-पीछे कुक्र बनके डोला। आखिर करमदेऊ का मन पसीज गया। करमा ने खूब तप जो किया था। देवता ने माफी दे दी। धरम के रास्ते पर चलने को कहा। दोनो भाई गले मिल गये...आज के ही दिन...'

'याने धर्म और कर्म का संयोग हुआ'

'हाँ...। हरमू ने कहा।"[115]

उपन्यास 'शैलूष' नटों के देवी-देवता (पूर्वज) मानगुरू और नथिया देवी के प्रेम कहानी का उल्लेख हुआ है। नट मानगुरू और नथिया देवी की पूजा में गीत गाते हैं। इस धार्मिक अनुष्ठान के बाद उनकी प्रेम कहानी कही गई है जो इस प्रकार है- "मानगुरू और नथिया नटों के लिए सब कुछ थे। माँ-बाप, भाई बहन, पति-पत्नी-यानी जहाँ तक इस घुमक्कड़ कबीले का विस्तार था, वहाँ तक मानगुरू और नथिया बंजारिन के प्रेम और शौर्य की कथाएँ गूँजती थीं। कहा जाता है कि दिल्ली के सुलतानपुर के सैकड़ों पहलवानों को आसमान ताकने वाले

मान से सुलतान ने इस्लाम स्वीकार करने को कहा। मानगुरू ने सुलतान को फटकार दिया, 'तुम क्या सबको बड़ी नाल उठाने वाले, तुम्हारे सारे पहलवानों को चारों खाने चित्त करने वाले से उम्मीद करते हो कि वह तुम्हारे टुकड़ों के लिए अपना धरम बेच देगा ?' मानगुरू चुपचाप किसी से बताये बिना अपनी जन्म-भूमि बुन्देलखंड लौट आये। नथिया एक चंचल, शोख और शरारती युवती थी। मान जब उसकी झोंपड़ी के पास पहुँचा तो उसने कहा 'क्यों री छोकरी, मुझे एक चुल्लू पानी मिलेगा ?'

'क्या करके आ रहा है तू ? इतने बड़े मुलुक में डूब मरने के लिए तुझे एक चुल्लू पानी नहीं मिला?' वह खिलखिलाई। 'तूने मुरेठा तो ऐसा बाँधा है स्साले कि लगता है सुलतान का साला है, पर तेरे कंधे पर न तो गमछा है और न तो बदन पर साबुत कपड़ा।'

मान चुप रहा आज पहली बार उसके भीतर एक हलचल जगी। बचपन में उसने माँ से एक गीत सुना था- 'मैं बंजारिनि श्यामा की।' श्याम की ही क्यों, मान की क्यों नहीं ?'

'क्यों रे छोकरी, सामने वाले पेड़ पर छुरा फेंकेगी ? तू चुन ले, जो भी तुझे आता-जाता हो, मान उसी में तुझे आसमान तका सकता है।'

'जा, जा,' नथिया खिलखिलाई और पहाड़ी वादी में घंटियां बजने लगीं।

नथिया को देखते ही हिंदुस्तान का सबसे बड़ा ताकतवर आदमी अपनी कुश्ती हार गया।

'ले, रोटी खा ले,' नथिया बोली, 'स्साले अपने को नामी-गरामी पहलवान कहता है और बच्चे की तरह गूजड़ में छिपकर सोया है।' फिर घंटियों की खिलखिलाहट। नथिया अधजागे मान गुरू को उंगली से कोंच रही थी।

मान मन-ही-मन मगन था मगर दिखाने के लिए 'उंह्, उंहुक्' बोलकर करवट बदल लेता था। तभी नथिया उसके गूदड़ पर चढ़ गई, 'क्यों बे, जरा चहरा तो बाहर कर, जरा सोन पहाड़ की हवा भी देख ले। कटारी है जाने मन, तूने महुवे के सफेद फूलों को खाया तो होगा, कभी सूंघा भी है ?'

मान ने गूदड़ फेंककर नथिया को अंकवार में भर लिया, 'आठ घड़ी से डूब रहा हूँ महुवे के फूलों की महक में।' उसने नथिया को पकड़े-पकड़े गूदड़ ओढ़ लिया और दोनों चैली रात की अंजोरिया में नहाने लगे।

'देख, चान देख रहा है हमें' नथिया कुनमुनाई।

मान ने अपने और उसके सटे हुए होंठों को फिर गूदड़ से ढंक लिया। पलाश के फूल, झरबेरी की मादक गंध और करौंदा, माहुल, इंगौट के फूलों की खुशबू गर्म सांसों में डूब रही थी। सामने अपने अंकवार में गबदू को कसकर लपेटे देउलदार की फूलों से लदी लता गंध भरी हवा से थरथरा रही थीं।

'नथिया !'

'हूँ'

'सुबह हो गई'

मुंह-हाथ धोकर सीकों की बनी उथली टोकरी को सिर पर रखे नथिया इठला रही थी।

कपरा प धइले छितनियां न हो महुली बीने जाय

महुली मदन रस टपके न हो जिअरा मारे हमार।

'क्यों बे, तू तो बांसुरी की तरह मन मिरग को घायल कर रहा है।'

'सच' मान ने नथिया को चूम लिया।

'हट !' वह लजाती हुई भागी। वे यानी मनु-सतरूपा, आदम-हौवा, नथिया-मान, मान-नथिया।"[116]

कबूतरा जनजाति में यह विश्वास प्रचलित है कि भगवान शंकर द्वारा भेजे गये नर-नारी से उनका जन्म हुआ है। इस संदर्भ में उपन्यास 'अल्मा कबूतरी' में एक कहानी चित्रित की गई है जो उपन्यास के प्रमुख पात्र मलिया द्वारा बताई गई है। कहानी इस प्रकार है-

"जमाने पहले की बात, तब धरती पर लोग नंगे रहते थे। शंकर महादेव उनका देवता था। अपने भगतों को शंकर जी ने कुनबी नाम दिया। वे सुख-आनंद से रहते थे। तब आज की-सी बात नहीं थी कि आदमी भूखा मरे, जंगलों में फल-फूल थे, रहने के लिए ठिया-ठोर था। जो चीज देवता, पर चढ़ती थी, वही आदमी का भोग

था।

कुदरत की बात- देवता के संग हैवान पैदा हुआ। नदी के इस पार देवता, उस पार असुर। कुनबी लोग फिर भी बेखौफ रहते थे। ऋषि-मुनि उनकी इफ़ाज़त जो करते थे। अपने तप से असुरों को हरा देते। शंकर महादेव के प्यारे भोले कुनबी, यह बात ऋषि जानते थे।

एक दिन उन्हीं कुनबियों से ऋषि की गाय मर गई। हिरण के धोके में गाय का वध हुआ। ऋषि के शोक का ठिकाना न रहा। वह गाय नहीं धर्म गाय थी। शोक भी मामूली शोक नहीं, ऋषि-मुनियों का शोक था।

देवताओं का सिंहासन हिला। अनंत ताप से धरती-आसमान जल उठे। सबको पता है कि ताप श्राप के बिना नहीं सिराता। कुनबियों के दुःख का ठिकाना न था। पछताए, पर पछतावे से गाय ज़िंदा होने वाली नहीं थी।

कुनबी ऋषि के पाँवों में सिर टेककर माफी माँगने लगे। पर ऋषि को आँखें मूँदकर तप करने की आदत थी, देखा ही नहीं। और बिना देखे ही श्राप दे दिया- तुम कलंकी हो। कलंक ढोते-ढोते मरोगे।

ऋषियों की महिमा...जैसे श्राप न दिया हो, राक्षस को इशारा कर दिया हो- बाँधकर ले जा नमकहराम कुनबियों को और अपनी गुफा में बंद कर ले। बाहर से पत्थर अड़ा दे।

एक-एक कुनबी का नित आहार। कुनबी घटने लगे। और ऋषि का संतोष बढ़ने लगा। वे अकेले ही पूरे जंगल में विचरने लगे। कुनबियों ने सोचा- जो ऋषि हमारे विनाश पर इतने मगन हैं, उनसे फरियाद क्या ? वे राक्षस से किस तरह कम हैं ? कुनबियों ने अपनी गुहार बड़ी अदालत तक पहुँचाई- अंधेरा काटनेवाली बड़ी सरकार- शंकर महादेव।

मगर बड़ी सरकार शंकर महादेव को फैसला लेने में इतनी देर लगी कि सारे कुनबी खत्म हो गए। महादेव भी पछताए। पछताना सच्चा था- अब शासन के लिए कोई बचा नहीं।

उनमें तेज था। मनमाने स्वभाववाले देवता ने दो नर-नारी पैदा किये। वे सोने और चाँदी की रंगत के थे- नाचने में कुशल प्रवीन।

शंकर जी ने कहा- नाच-गीत ऐसी कला है, जो अभिमानी ऋषियों का तप खंडित करती रही है, राक्षस

क्या चीज है उसके सामने ?

सच ही राक्षस ऋषि-मुनियों की तरह ज्ञानी नहीं था। नहीं जानता था कि कब क्या छिपाना है ? कब क्या बताना है ? सो तुरंत अपनी खुशी जाहिर कर बैठा। बोला- नाचो, नाचो।

नर-नारी नाचते रहे। वह मोहित होकर बेसुध हो गया और बोला- माँगो, माँगो कुछ। नर-नारी संसारी नहीं थे, नहीं तो महादेव की बात भूल गये होते क्योंकि आदमी जब-तब भूल करता ही रहता है। उन्होंने तुरंत वर मांग लिया- महाराज, कुनबियों को आजाद करो।

वह बोला कुनबियों को तो मैंने खा लिया।

शंकर महादेव का सिंहासन फिर हिला। उन्हें लगा- कुछ न कर सके तो उन्हें कौन पूछेगा? महिमा न रहेगी तब वे क्या करेंगे ? भक्तों को अपने लिए पैदा करना होगा।

शंकर महादेव ने चाँदी-सोने की रंगतवाले नर-नारी से कहा- संतान पैदा करो। सुंदर और शांत, कबूतर की तरह।"[117]

इस कहानी के साथ-साथ उपन्यास में कबूतरा जनजाति के इतिहास के संदर्भ में भी एक कहानी कही गई है। इस कहानी को राणा ने पहले अपने कबीले के बुजुर्ग मलिया काका से सुनी थी। आदिवासी समाज की विशिष्टता है कि वे अपने उद्‌भव व इतिहास तथा अन्य प्रकार की कथाओं को मौखिक रूप से पीढ़ी दर पीढ़ी सुनाते रहते हैं। मलिया द्वारा सुनी गई कहानी को रामसिंह कबूतरा समाज का एक मात्र शिक्षित व्यक्ति राणा को विस्तार से सुनाता है। आम तौर पर इस कहानी को सब लोग जानते हैं। लोक में इसे गाया भी जाता है। कहानी का संबंध कबूतरा जनजाति से किस प्रकार है इस प्रश्न का उत्तर कबूतरा लोगों के द्वारा कही जाने वाली कथा में मिलता है। वास्तव में जिस कथा का अंत लोक में होता है वहीं से कबूतरा अपनी कथा का आरम्भ करते है।

"सिंहल द्वीप के राजा गंधर्वसेन की बेटी पद्‌मिनी रूप-अपरूप थी। हीरामन नाम के सुआ ने चित्तौड़गढ़ के राजा रतनसेन से उसकी चर्चा की कि गले में नागफाँस डाल दी ? राजा जोगी हो गया और जोगियों की जमात के साथ सिंहलद्वीप पहुँचा, पद्‌मिनी को ले आया।

रूप से जुड़ी प्रीत और गुणों से जुड़े धर्म ने राजा को ऐसा मोह लिया कि वह मोर, पंडुक, तीतर, बटेरों से भी इस कदर प्यार करने लगा कि शिकार भूल गया।

उस समय दिल्ली पर अलाउद्दीन सुल्तान का कब्जा था।

राघव चेतन नाम का ब्राह्मण विद्वान रहस्य-विद्या से राजा को भरमाने लगा और अपना महत्व जताने लगा, राजा भी चौदह विद्याओं का ज्ञाता था, सो झूठ-कपट को जान गया। राघव चेतन को देश से निकाल दिया।

पद्मिनी दयालू स्वभाव की स्त्री, सोचा राज्य से विद्वान जा रहा है, अच्छी बात नहीं। रानी ने उसे बुलवाया। झरोखे में आई, क्योंकि समझाकर रोक लेना चाहती थी।... लेकिन जैसे ही पद्मिनी झरोखे में झाँकी, पंडित राघव चेतन गश खाकर गिर गया।

रानी हँस पड़ी। झरोखा बंद कर दिया। मन ही मन बोली- दुर्बल मन का आदमी विद्वान नहीं हो सकता। विद्या संयम मांगती है। रहम दिखाते हुए रानी ने एक कंगन बाहर फेंक दिया, जो होश में आने पर राघव चेतन ने उठा लिया।

-मुझे चित्तौड़ के रानी ने ठग लिया, मुझे राजा ने देश से निकाल दिया, मैं यहाँ नहीं रहूँगा। मैं जाउंगा वहाँ, जहाँ बारहवानी दीनारें ढलती हैं। दीनारें इनामें मिलेंगी। क्योंकि मेरे पास यह कंगन...

राघव चेतन ने सुलतान से मुलाकात की, कंगन दिखाया और कंगन की स्वामिनी का रूप बखाना। अलाउद्दीन के मन में सनसनी फैलाई, पद्मिनी स्त्री उसके पास होनी चाहिए।

धमाके भरी पत्री, भेजनेवाला सुलतान- राजा, पद्मिनी देनी होगी।

राजा रतन सेन आपे से बाहर हो गये।

युद्ध के नगाड़े बज उठे। अलाउद्दीन फौजें लेकर आ गया। हाथी चिंगाडने लगे, गढ़ घेर लिया। जैसे धरती और आसमान में ठन गई हो, सुलतान बड़ा कि राज ? जंग पूरे आठ वर्ष चली। जो पौधे रोपे गये थे, बढ़कर बड़े हो गये।

रानी अपने रूप को कोसने लगी- चित्तौड़ की बैरिन यह देह... अब जौहर व्रत। जौहर व्रत। सूचना सुलतान तक पहुँची। पद्मिनी खत्म हो जायेगी।

-पद्‌मिनी नहीं, बस पाँच नगीने और पद्‌मिनी का दर्शन। राजा, मैं अपनी फौजें लेकर लौट जाऊँगा- सुलतान का संदेश आया।

राजा तबाह होकर भी टस से मस न हुए। पद्‌मिनी ने फैसला लिया- सुलतान को आने दो। गढ़ सजवाओ। रसोई मैं बनाऊँगी। आदमकद शीशा मंगवाओ।

राजा देखते रह गये। जिस स्त्री के लिए जोगी हुए, मौत की परवाह नहीं की, आज उसे सुलतान की ताक भरमाने लगी

पद्‌मिनी जिद्दी औरत, राजा जानते थे। सुहागिनों की तरह छाती पर मोर, फूल नहीं गुदवाया, राघव चेतन को झरोखे पर बुलाया।

रानी की हठ। सुलतान गढ़ देखने आया। भोज की खातिरदारी और सारपाँसे खेलने के लिए चौपड़। राजा और सुलतान शह और मात में उलझे थे।

... कि यकायक बिजली सी चमकी। दर्पण में रानी धवलगृह में साज-सिंगार करके आई अप्सरा को देखकर सुलतान के मन में पहला विचार यह आया- अगर इस स्त्री से मेरी संतान हो तो ? संतान तभी होगी , जब यह मेरे पास होगी।

बाहर तक राजा विदा करने आये थे- राजधर्म।

सुलतान ने उन्हें बंदी बना लिया, बल पर छल की विजय।

रानी के क्रोध का ठिकाना न रहा। समझती थी कि राजा ज़िंदा नहीं रह पायेंगे। प्यार नहीं, म्लेछ ने उनका अहंकार तोड़ डाला।

संदेश भेजा- सुलतान, मैं आ रही हूँ। मैं चित्तौड़ की रानी अकेली नहीं आऊँगी। उत्तर आया- पुरुष नहीं, बस स्त्रियाँ आयें। रानी ने पालकियाँ सजवाईं। डोले उठे। लुहार, बढ़ई और गोरा-बादल ने स्त्री रूप धरा। सैनिकों ने घाघरा ओढ़नी पहिने।

सुलतान के खेमों पर तैनात पहरेदारों को घूस दी गई। राजा के पास तक रानी के रूप में सैनिक पहुँचा। इधर द्वार खुलते ही डोलियों से उतरनेवाली औरतें म्लेच्छों पर छा गईं। मार-काट के बीच लौहकार, बढ़इयों ने राजा की हथकड़ी-बेड़ियाँ काट डालीं।

गोरा शहीद हो गया। महाराज बचा लिए गये मगर घरेलू शत्रु देवपाल से लड़ते-लड़ते मर गये।

रानी के सामने था जौहार। सती होना स्त्री का धर्म है। राजपूतनियाँ परपुरुष के स्पर्श से पहले, खुद को भस्म करना ज्यादा अच्छा समझती हैं।

इतिहास की किताबों में लिखा है- जौहर कुंडों में चिताएं सजाई गईं। चंदन-लकड़ी-घी-सामग्री डालकर नगाड़े बजाए गए।

पद्मिनी हँसते-हँसते जल मरी। साथ में चित्तौड़गढ़ की स्त्रियाँ और बच्चे भी होम हो गये। सुल्तान को उनकी राख मिली।

रामसिंह काका ने कहा- यह कथा सबको मालूम है। हम से ज्यादा कज्जा लोग इस इतिहास को जानते हैं और कहते हैं।

... लेकिन रामसिंह काका सुनाता है- हमारी माँ कहती थी, पद्मिनी नहीं मरी। माँ को उसकी दादी ने बताया था और दादी को उसकी दादी ने। सो भूरी कबूतरी ने कथा कह-कहकर सुनाई-

... कि पद्मिनी अपनी बाँदी सखियों और रानी रक्कासाओं को लेकर सैनिकों के साथ भाग छूटी थी। आनबान कहाँ रह गई, जिंदगी ने सब छीन लिया। प्राण ही सबसे ज्यादा प्यारे लगे।

सुलतान ने सोचा, सब कुछ खत्म हो गया। अब लौट चलो। पद्मिनी के बिना चित्तौड़गढ़ भी क्या ? एकदम सूना-फीका। आकर्षण मर गया। चित्तौड़ राज्य पर मुगलों का कब्जा हुआ, लेकिन जैसे सुलतान की हथेलियों से अचानक ही कुछ सरक गया हो।

रानी सरहदें पार कर गई। छोटा-सा कारवाँ नदी-पहाड़, घाटियाँ लाँघता हुआ दिन-रात का भेद भुलाकर आगे बढ़ रहा था। रानी का कारवाँ... सुलतान को शायद भनक लग गई।

वह किसानों का मेहमान होता, तो गाँव को आग लगा दी जाती। वह बस्तियों से गुजरता, बस्तियों को उजाड़ दिया जाता। पेडों पर फल नहीं, लोगों की लाशें झूलतीं।

भागते-भागते लोग कमजोर पड़ने लगे, क्योंकि राशन-रसद पूरी हो गई। हथियार टूटने लगे।

रानी ने मुरझाते सैनिकों को हुक्म दिया- बल नहीं तो छल। फौजें हमें खा जाएँगी। सुल्तान के लिये

जाने वाली रसद लूट लो। छावनियों में घुसकर हथियार चुराओ। सखियों, सुलतान के सिपाहियों को हँसकर रिझाओ और लहंगें में छिपी कटार चलाकर खसिया कर दो।

बस इसी तरह रानी आगे बढ़ती रही। जस नहीं था, अपजस कमाती रही। भूख और काम से भड़कते, बेशर्मी घेर लेती। अपने सैनिकों से रानियों को, बंधियों को रक्कासाओं को गरभ रहे। रास्तों में, नदी घाटियों में, पहाड़-पर्वतों पर बालक जन्मे।

वे ही सुंदर और ताकतवार जाँबाज बप्पा रावल के काम आये। रानी पद्मिनी की संतान, वीरों के अंश... जंगलों में विचरने लगी चित्तौड़ से भागी हुई फौजी पीढ़ियाँ-

रसद लेने-ले जानेवाले कहाए बंजारे। नाचने-गाने वाले हुए कबूतरा। दवा-रूखरियों के जानकार मेघिया। घाटियों को लांघने-नाखने में माहिर लोग नट। औजार बनाने वाले गड़िया लौहार। बंदर-भालुओं से रोजगार जुटानेवाले कलंदर।"[118]

बाजत अनहद ढोल उपन्यास में हिरन की जोड़ी की कहानी के माध्यम से दया हीन मनुष्यों की मानसिकता का चित्रण हुआ है। कहानी इस प्रकार है-

"तो सुन ! तुम भी सुनना सखी। तुम्हारी भी व्यथा है इसमें। जोबा कहने लगती है। जंगल-पार की कथा सुनाती हूँ तुम लोगों को। कोई राजा था दशरथ। उसी के जमाने का किस्सा है।...

एक दिन एक पेड़ के नीचे कोई हिरनी उदास खड़ी थी। कहीं से चरते-चरते अचानक उसका हिरण आ गया। बोला, क्या तुम्हें भूख लगी है कि प्यास। काहे उदास हो ?

हिरनी बोली, न मुझे बूख लगी है, न प्यास। मुझे तुम्हें लेकर चिंता हो रही है। कल राजा दशरथ के यहाँ छठी का त्योहार है। उसे बहुत छनन के बाद लड़का हुआ है, उसमें तुम मार दिये जाओगे।

हिरन इतना हँसा...इतना हँसा कि जंगल भी थरथरा गया, बाघ, शेर सब दहाड़ने लगे। हिरण ने उसे समझाया, अरे पगली ! इसमें तब व्यथा की क्या बात है ? राजा-महाराजाओं के आहार के लिए तो हमारा जन्म ही हुआ है।

कोई उपाय नहीं है कि मेरा सुहाग बच जाए ! हिरनी सिसकने लगी।

एक उपाय है।

क्या ?

वे लोग राजा-महाराजा हैं। हिरना उपाय समझाने लगा, उनसे आरुजू मिन्नत करना कि तुम्हारे मरद को अभयदान दे दें तो शायद उन्हें दया आ जाए और मुझे अभयदान मिल जाए।

हिरनी को कुछ आशा बँधी। वह राजा दशरथ के दरबार में गयी। उस समय कोसिला रानी हिंडोला झूल रही थीं। हिरनी उन्हें देखते ही फफक पड़ी। रानी की नज़र उसकी ओर गई. कौन हो तुम ?

हिरनी थर-थर काँपने लगी, बोल न कौन हो तुम ?

हिरनी फफकती हुई कहने लगी, हे रानी ! कल आप के बेटे का चनिहार है। उस में मेरा मरद मार दिया जाएगा।

तब क्या चाहती है तू ?

हिरनी की आँखों से अविरल अश्रु-धार थमी नहीं थी। सहानुभूति पाकर और तेज उफनने लगी थी। किसी तरह बोल सकी, मंसुआ तो रिंधने के लिए आप रख लीजिएगा और खलड़िया हमको दे दीजिएगा।

ऐसा किस लिए रे ? रानी उसके भोलेपन पर ठठा-ठठाकर हँसने लगी। हिरनी डर गयी तो रानी ने उसे ढाढस दिया, खलड़िया का क्या करेगी तू ?

वह बोली, खलड़िया मैं उस पेड़ पर लटका दूंगी, जहाँ मैं अपने मरद के साथ रहती हूँ। जब मेरे मरद की याद आएगी तब-तब उसे देखकर उसकी याद बिसूरती रहूँगी।

रानी को लगा हिरनी जितनी मूर्ख है, उतनी ही चालाक भी। थोड़ा गुस्साई रानी, भागती है कि नहीं तू यहाँ से ? अरे हमारे लल्ला जब घुटने के बल चलने लगेंगे तो उसी खलड़िया की डफली बनाकर नाच-नाचकर बजाएँगे। अब बूझना कि सुकु, जब-जब उसके लल्ला राम डफली बजाते, हिरनी सिहर-सिहर उठती। पूरा जंगल झनझना उठता, हिरनी को लगता, जैसे उसकी छाती दरक-दरक जाती हो। सुकेल कहानी सुनकर स्तब्ध रह गया था। जैसे उसकी बोलती बंद हो गई हो।"[119]

3.4.2. आदिवासी लोक – गीत

आदिवासी संस्कृति के विविध रूपों में लोक गीत अपना विशिष्ट स्थान रखता है। लोक कथा और कहावतों आदि विधाओं की अपेक्षा लोक गीतों में कहीं अधिक भावोत्कर्ष और रंजन शक्ति है। जब-जब मानव हृदय प्रबल भावावेग में आप्लावित होकर अत्यधिक हर्ष या शोक अनुभव करता है तब-तब उसके मानस से स्वर लहरियाँ फूट पड़ती हैं। मौखिक परम्परा से प्राप्त इन गीतों द्वरा विभिन्न कालों और स्थानों की बोलियों, सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्थिति और ऐतिहासिक व राजनैतिक पहलुओं का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

"लोक गीतों का आदिवासी जीवन से घनिष्ट संबंध होता है। इनमें आदिवासी समाज और संस्कृति का प्राचीन गौरव आदर्श की प्रत्यक्ष रूप में व्यंजित होता है। एक-एक गीत में कितना उच्च भाव भरा हुआ है, यह इन गीतों के अध्ययन से विदित होता है। आदिवासियों का गौरवपूर्ण इतिहास, उनकी सांस्कृतिक परम्पराएं, उनके देवी-देवताओं के प्रति आस्था, मेले-त्योहार तथा पुत्र जन्म, विवाह आदि उत्सवों पर उच्छलित भावावेग और विशेषकर स्त्रियों की पोशाकों व आभूषणों की झनकार सभी ने लोक गीतों को जन्म देने में विशिष्टता उत्पन्न की है।"[120]

आदिवासी लोक-गीत एवं नृत्य अछूते क्षेत्र का जगमगाता श्रृंगार है, जो भारत की पहाड़ियों तथा घाटियों में गूंजते रहते हैं। लोक-गीतों की कथा वस्तु में प्राकृतिक सौन्दर्य, सामाजिक, आर्थिक जीवन शैली, संघर्ष के घटनाक्रम होते हैं। यह लोक-साहित्य मनमुक्त आनंद की उड़ान भरता सौंधी गंध का आँचलिक साहित्य है। एक बार पंडित नेहरू ने कहा था- "आदिम समाज में से लोक-गीत एवं नृत्य निकाल दिये जाएँ तो फिर इनकी संस्कृति एवं सभ्यता चार-दीवारी के बीच शहरी संस्कृति की तरह सिनेमा एवं होटलों के प्यालों में ही सीमित हो जाएगी और उनका जीवन शिथिलता तथा कृत्रिमता की ओर अग्रसर हो जाएगा।"[121] आदिवासी लोक-गीतों के रचयिता अधिकतर अशिक्षित होते हुए भी समय एवं परिस्थितियों के अनुकूल विषय की बड़ी जबरदस्त

पकड़ रखते हैं। आजादी से पूर्व के गीत विदेशी जातियों से संघर्ष एवं सामन्ती शोषण की गाथाओं पर आधारित वीर रस के ओज पूर्ण गीतों के दिग्दर्शन होते हैं, जिसमें इनकी शूर-वीरता दिखाने वाले शस्त्र, बन्दूक, तीर-धनुष, तलवार, ढाल व गोफन का प्रयोग मिलता है। प्राकृतिक प्रकोप, अकाल, कृषि, आखेट, मेले-त्यौहार, शादी-ब्याह जैसे अवसरों पर सतरंगी लोक-गीत के द्वारा सामाजिक जीवन में जान फूँकते हैं। प्रकृति ही लोक-गीतों की सृजन शक्ति एवं प्रेरणा श्रोत रही है। आदिवासियों के शान्त प्रदेशों में बादलों की गर्जन, बिजली की चमक तथा धानिक घाटियों में चरवाहे बाँसुरी की स्तर लहरियों में, प्रेम प्रसंग व श्रृंगार रस में, सराबोर मन मोहक गीतों में, स्वच्छंद जीवन की झलक मिलती है।

जनजातीय लोगों का लोक-जीवन नृत्य, गीत और संगीत से परिपूर्ण है। नृत्य-गीत और संगीत इन लोगों का जीवन-मंत्र, जीवन यात्रा का बहुमूल्य पाथेय है। यह वह जादू है जिसके बल पर ये लोग जीवन की क्रूर विभीषिकाओं, क्षुधा-पिपासा की विडंबनाओं तथा अशिक्षा और अपेक्षा के घात-प्रतिघातों को भी छूमंतर करते आए हैं। यदि नृत्य, गीत और संगीत को इन लोगों से विलग किया जाए तो इन लोगों का जातीय जीवन निष्प्राण हो जायेगा। इन लोगों की स्थिति जल बिन मीन जैसी हो जायेगी। विभिन्न पर्व-त्योहार इन लोगों की जातीय संस्कृति के प्रमुख अंग हैं तथा कोई भी पर्व-त्योहार नृत्य, गीत और संगीत से शून्य नहीं है।

जनजातीय लोगों के लोकगीत इन लोगों की जीवन-पद्धति और जातीय संस्कृति के सम्यक दर्पण हैं। प्रकृति के सहज और हृदय के सरल उच्छवास हैं। जीवन में घटित होने वाले सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, घात-प्रतिघात, हास्य-विनोद, संयोग-वियोग, आशा-निराशा, क्षोभ-विक्षोभ आदि के आकर्षक शब्द-चित्र इन लोक गीतों के दर्पण में साफ-साफ प्रतिबिंबित हैं।

"लोकगीत एक अलिखित साहित्य है। इसमें समाज की छवि ज्यों समाई रहती है। लिपिबद्ध होने से पहले समाज इसे श्रृतियों एवं परम्परा के रूप में संजोए हुए था। समय के साथ-साथ इसी ने साहित्यकारों को एक जाति एवं समाज का परिचय कराया है। जंगल की गोद में अब तक असह्य जीवन बिताने वाले लोगों की इतनी विकसित विचारधारा को देखकर आश्चर्य होता है।"[122]

आदिवासियों की सारी जिंदगी गीतों और नृत्यों से भरी होती है। सच तो यह है कि इन वनवासियों की जीवन-साँसे गीतों की मधुर ध्वनियों से ही सप्राण बनी हैं, इन्हें गुनगुनाकर ही ये अपनी व्यथा को भूलते हैं।

और भौतिक विषमताओं को उपेक्षा में उड़ा देते हैं। सब कुछ खोकर भी ये अपने गीतों को नहीं भूल पाते। इनमें एक ओर जहाँ इनकी संस्कृति मुखरित है, वहीं दूसरी ओर आशामय भविष्य शब्दमान हो उठता है। इनके धार्मिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय पर्व-त्योहार नृत्य-गीतों से प्रारंभ होते हैं और सुमधुर गीतों के साथ समाप्त। आदिवासियों के गीतों में इस लिए विविधता के दर्शन होते हैं, क्योंकि इनका जीवन भी वैविध्यपूर्ण है। ऋतु के परिवर्तनों के साथ इनके गीतों में भी परिवर्तन होता है और इन गीतों की लय भी परिवर्तित हो जाती है। ताल-लय का यह परिवर्तन इन आदिवासियों की संगीत प्रियता का परिचायक है। लोकगीत किसी समाज के संस्कृति के पुरातन रूप से परिचय कराते हैं। आदिमानव ने जीवन की कठोरता को रसमय बनाने के लिए लोकगीतों एवं लोक नृत्यों का आश्रय लिया।

राग, नृत्य और वाद्यवृंद के लय-ताल के अनुसरण पर अज्ञात लोक-कवियों द्वारा विरचित परम्परागत जनजातीय लोकगीत विभिन्न प्रकार के होते हैं।

3.4.2.1. लोक-गीतों का वर्गीकरण

लोक-गीत जन-मानस से प्रवाहित स्रोत हैं। जिनके विषयों की संख्या नहीं और प्रकारों का अन्त नहीं। ऐसी असंख्य राशि का वर्गीकरण एक दुःसाध्य कृत्य है, फिर भी लोक गीतों को चार श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है-

1. संस्कार संबन्धी गीत
2. व्यावसायिक गीत
3. आवसरिक गीत
4. मनोरंजन संबन्धी गीत

इन चार भेदों में लोक-गीतों के लगभग समस्त प्रकार सम्मिलित हो जाते हैं। किसी भी दृष्टिकोण से परखने पर गीतों का कोई प्रकार नहीं छूटता, न ही एक प्रकार के गीत दूसरे प्रकार के अन्तर्गत समावेश कर पाते हैं।

3.4.2.1.1. संस्कार संबंधी गीत

मनुष्य के जन्म से मृत्यु तक जो विविध संस्कार किये जाते हैं, उनसे संबंधित गीत संस्कार विषयक हेते

हैं। कुल 16 संस्कारों में गीतों से संबंधित प्रमुख संस्कार चार होते हैं- जन्म, उपनयन, विवाह और मृत्यु। इन चार संस्कारों के विभिन्न गौण अंग हैं। उनके अनुसार संस्कार विषयक समस्त गीतों के आठ भेद हुए हैं एवं प्रत्येक भेद में से भी कुछ के कई प्रकार के गीत होते हैं।

(क) जन्म संबंधी संस्कारों के गीत-

1. सीमन्तोन्नयन के गीत
2. प्रसव संबंधी गीत
3. नामकरण, अन्नप्राश, जल्हे तथा कर्णछेधन के गीत

(ख) उपनयन तथा विद्यारम्भ के गीत।

(ग) विवाह संस्कार के गीत-

1. सामान्य गीत।
2. कन्यापक्ष के गीत।
3. वर पक्ष के गीत।

(घ) मृत्यु संबंधी गीत।

3.4.2.1.2. व्यवसाय संबंधी गीत

व्यवसायिक गीत दो प्रकार के होते हैं। जीविका संबंधी और व्यवसाय करते समय श्रम परिहार के निमित्त गाने के गीत। जिन गीतों को गाकर लोग जीविकोपार्जन करते हैं वे प्रथम श्रेणी के गीत हैं और खेती, ऊँट लादना, कुँआ चलाना, चक्की या चरखा चलाना अथवा अन्य कोई भी व्यवसाय करते समय गाये जाने वाले गीत दूसरी श्रेणी में आते हैं। इन दोनों के निम्न लिखित प्रकार हैं-

(क) जीविका संबंधी गीत-

1. नृत्य तथा नाट्य गीत
2. रातिजगा, कथागीत, पौराणिक गीत, भजन और हरजस आदि
3. विविध

(ख) व्यवसाय करते समय श्रम परिहार निमित्त गाने के गीत -

1. कृषि संबंधी गीत

2. कुँआ चलाने के बारेती गीत, कुँआ में पानी भरने वालियों के गीत

3. चक्की और छरके के गीत

4. अन्य व्यवसाय मजदूरी आदि करने वालों के गीत

3.4.2.1.3. आवसरिक गीत

अवसर विशेष पर गाये जाने वाले गीतों को आवसरिक की संज्ञा दी गई है। वास्तव में मनोरंजन संबंधी गीतों के अतिरिक्त सभी अवसर विशेष पर गाये जाते हैं। अतः इस श्रेणी के अन्तर्गत संस्कार संबंधी और व्यावसायिक भी लाये जा सकते हैं। परन्तु गीतों के वैविध्य की कठिनाई को सुलझाने और अधिक स्पष्ट रूप से भेद करने के लिए संस्कार संबंधी और व्यवसाय संबंधी गीतों की अलग-अलग श्रेणियाँ कर दी गई हैं। इस प्रकार आवसरिक गीतों का तात्पर्य यहाँ वर्ष के विभिन्न अवसरों पर गाये जाने वाले गीतों से समझना चाहिए। आवसरिक गीतों के निम्नलिखित प्रकार हैं-

(क) देवी-देवताओं के गीत -

1. देव चरित तथा देवी चरित गीत

2. पौराणिक और सिद्ध पुरुषों के गीत

3. सतियों और पितर-पितराणियों के गीत

(ख) मेले, त्योहारों, और व्रत संबंधी गीत -

1. होली, गवर, घुडले, तथा तीजों में गाये जाने वाले गीत

2. अन्य त्योहारों, मेलों और वृतों के गीत

(ग) आस्था और भजन आदि के गीत -

1. भजन, हरजस, सबद, संतवाणी, सतगुरू के गीत

2. तीर्थ यात्रा संबंधी गीत

3.4.2.1.4. मनोरंजन संबंधी गीत

जो गीत संस्कार, त्योहार अथवा व्यवसाय आदि किसी अवसर विशेष से संबंधित नहीं है और केवल मनोरंजन के लिए गाये जाते हैं वे वैलासिक गीत होते हैं। त्योहार, उत्सव या अन्य माँगलिक अवसरों पर व्यावसायिक गायकों से मनोरंजनार्थ गीत गवाये जाएँ वे भी इसी श्रेणी में आ सकते हैं, परन्तु गायकों का उद्धेश्य जीविकोपार्जन होने के कारण उन्हें इसमें सम्मिलित नहीं किया जा सकता। जो गीत समय-समय पर बिना किसी आशय के परस्पर भावाभिव्यक्ति निमित्त गाये जाते हैं, वही इस श्रेणी में आते हैं। इन मनोरंजन गीतों के निम्नलिखित प्रकार हैं-

(क) श्रृंगार रस के गीत -

1. रूप वर्णन
2. संयोग पक्ष
3. वियोग पक्ष

(ख) नृत्य गीत

(ग) नाट्य गीत

(घ) ऋतु संबंधी गीत- जाड़ा, वसन्त, गर्मी, चौमासा और बारहमासा के गीत

(ङ) पारिवारिक व्यक्तियों से संबंधित सुखी गृहस्थी के गीत।

(च) भोज्य पदार्थों के गीत।"[123]

उपन्यासों में चित्रित लोकगीतों में वर्गीकृत गीतों के संदर्भ सारे नहीं मिलते हैं। इस लिए उपन्यासों में जिन गीतों का उल्लेख हुआ है उपर्युक्त वर्गीकृत क्रम में यहाँ प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है। उपन्यासों में चित्रित गीत संदर्भानुसार इस प्रकार हैं-

संस्कार संबंधी गीत

विवाह संस्कार गीत -

विवाह के संदर्भों में संदर्भानुसार गीत गाये जाते हैं। 'जंगल के फूल' उपन्यास में विवाह के संदर्भ में दुल्हन की सहेलियाँ गीत गाते हुए अपना काम कर रही हैं- जलिया के बिहाव की धूम गाँव-भर में मच गई। चेलिक और मोटियारी गीत गाते और उचटते अपना काम करने लगे-

लयोर ततले मदा री सांगो। *(विवाह के संदर्भ में)*

मन्दो देरी कोकोती वाकोती वाकोती सोयबाड़

लड़के डगाल ला रहे हैं,

शादी का खम्भा एक झुकी हुई लकड़ी है।

बाले कुंवार पेकान दाइ

सुखुन दुखुन बेहावो दाइ।

अरी ओ, इस लडकी माँ

उस के सुख-दुःख भुलादो।"[124]

'शैलूष' उपन्यास में रूपा और मानिक की शादी के बाद झुंड- की- झुंड नट कन्याएँ, हाथ-से-हाथ पकड़े मानिक और रूपा चतुर्दिक घूम-घूम कर गाने लगे-

केकरा ही नदिया रे झिलमिल पनिया ***(विवाह के अवसर पर गीत)***

आ रे केकरा हि नदिया सेवाल रे

केकरा हि नदिया चल्हवा मछलिया

कवन दुलहा लावेला जाल रे

बाबा के नदिया रे झिलमिल पनिया

भइया के नदिया सेवाल रे

ससुरू के नदिया सेवाल रे

ससुरू के नदिया के चल्हवा मछरिया

मानिक दुल्हा लावे महाजाल रे !"[125]

आदिवासी युवतियाँ विवाह के संदर्भ में दुल्हन को चिढ़ाते हुए गीत गाती हैं जिसका विवरण इस प्रकार है-

"सोमा का विवाह हो रहा था परन्तु खुशी जलिया को हो रही थी। तब सिलिंगदार भी यहाँ था। सोमा कुछ दिन सिलिंगदारकी गीकी-यार रह चुकी थी। उसे चिढ़ाने के लिए जलिया और महुआ दोनो ने एक साथ गाया था-

बरग सरपार ते, उदीतन सिरदार, ***(विवाह के संदर्भ में सखियाँ दुल्हन को चिढ़ाते हुए)***

सरपार तेहे हनद।

ताने इने पांयनदी,

अयो अयो इनद्

तुत ताने ओनदी सेइदार।

सरदार अकाडे के बीच क्यों बैठे हो ?

वह सड़क से आ रही है।

तुम उसे पकड़ लो।

वह कहेगी नहीं-नहीं सिरदार।

तुम इसे खींचकर जंगल ले जाना।"[126]

विवाह सम्पन्न होने के बाद लड़की के विदाई का दृश्य अत्यंत मार्मिक होता है। इस संदर्भ का अंकन 'पठार पर कोहरा', 'जंगल के फूल' तथा 'शैलूष' में किया गया है। 'पठार पर कोहरा' उपन्यास में रूदिया के विवाहोपरान्त विदाई की बारी आती है। इस अवसर में औरतें विदाई के कारुणिक गीत गा रही थीं- "...जिस गाँव में तू जाएगी ओ धिया, सूखे वृक्ष पत्तों से लद जाएंगे ! बाँझ औरतों की गोद भर उठेंगी ! बूढ़ी गायों के थन से दूध टपकने लगेगा ! जहाँ तेरे पाँव पड़ेंगे धिया, उजड़े गाँव आबाद हो जाएँगे ! सेमल और कपास के बीज मोतियों में बदल जाएँगे...! रूदिया की सीलती आँखें...! गीले होते कंधों का गीलापन संजीव को भीतर तक भिगोने लगा। मड़वे में लड़कियाँ गीत गा रहीं-

केकर माथे लाल-सुन्नर पगड़ी ***(विदा गीत)***

केकर हाथे लाल गोंदा फूल

ओ मैना रे,

मति जाबे दूर विदेस...

किसके सिर पर सुन्दर लाल पगड़ी है, अर्थात- दूल्हे के।

किसके हाथ में गेंदे का फूल है अर्थात दुल्हन के।

ओ मेरी दुलारी मैना (बेटी) इस पगड़ी पर लुभाकर

हमसे बहुत दूर परदेस न चली जाना।"[127]

'जंगल के फूल' उपन्यास में गोठुल का चित्रण हुआ है जिसमें अविवाहित युवक-युवतियाँ दोनों भी उसके सदस्य होते हैं। विवाहोपरान्त उन्हें गोठुल से विधा होना अनिवार्य है। इसी प्रसंग में जलिया का विवाह होने के बाद उसे गोठुल से विधा मिलती है। इस संदर्भ में गोठुल की युवतियाँ जलिया को विदा करते हुए गीत गा रहीं है-

सिरपुर हेलो डोरी निवेदके दाकाट रोय ***(विदा गीत)***

सांगो निवेदके काकट रोय

आज तुम कहाँ जा रही हो मेरी साथिन ?

आदि-आदि।"[128]

मृत्यु संबंधी गीत

'जंगल के फूल' उपन्यास में गोंडों के मृत्यु संस्कार के चित्रण से हमें ज्ञात होता है कि आदिवासी मृत्यु के संदर्भ में किये जाने वाले धार्मिक कार्यों में भी गीतों का योग दान होता है। उपन्यास में चित्रित मृत्यु संस्कार में वर्णित गीत इस प्रकार है- आतुममासा ने बाहर खड़े होकर 'हातुरढोल' (किसी की मृत्यु होने पर बजाया जाने वाला वाद्य ताकि सब लोग जमा हो जाएँ) बजाया। गाँव भर में उसके कर्कश स्वर गूंज उठे। सब लोग धीरे-धीरे वहाँ जमा हो गए। हनगुण्डा भी आ गया और झमको भी। झमको ने सत्ताया की लाश से कपड़ा उठाया, उसका मुँह देखा। उसने सत्ताया के चहरे पर हाथ फेरा। हिरमे ने घर के देवता की पूजा की, फिर गाँव के कुछ सयानों ने लाश उठाई। हाथुरढोल और जोर से बजने लगा। मुश्किल से पाव कोस चलना पड़ा होगा। नरवा के तीर पर मरघट था। वहाँ गड्ढा उरसाया गया। तब तक औरतें बराबर गीत गाती रही-

चोले दादरो रोले, अइ अइ अइ। ***(गोंड मृतक को मरघट ले जाते समय गाये जाने वाला गीत)***

ओरू बोरू राजाल रे ए ए ए।

भाइयो, आओ यह कौन राजा है ?"[129]

गोंडों में मृत्योपरान्त मृतक की याद में एक पत्थर लगाने की प्रथा प्रचलित है। सत्ताया के मरने बाद उसकी याद में पत्थर लगाने का दिन आ ही गया। जहाँ उसे दफनाया गया था, सब लोगों ने नाच गाने के साथ वहाँ एक पत्थर गाड़ दिया-

सोरा घारू धरती रोए देवता ***(गोंड मृतक की याद में पत्थर लगाते समय गीत)***

नव खण्डू पिरथीर एले

सिंगार मालोर दिपू रोए देवा

दगाल हाय वालोर र एले।

सोलह परत दुनिया,

नौ परत धरती।

मनुष्य के कल्याण की धरती है,

यहाँ सब मरते हैं।"[130]

व्यवसाय संबंधी गीत

जीविका संबंधी गीत -

व्यवसाय संबंधी गीत के विवरण पहले ही प्रस्तुत कर चुके हैं जिसमें अनेक व्यवसाय संदर्भ आते हैं। इनमें से एक मदारी गीत है जो नाच-गाना, खेल-करतब दिखाते समय गाये जाते हैं। उपन्यास 'सूरज किरण की छाँव' में इस संदर्भ का उल्लेख हुआ है। इसी संदर्भ में गाया गया लोक गीत इस प्रकार है-

आभा के खांदी बेंदरा झूली जाय, ***(मदारी द्वारा खेल दिखाते हुए)***

जानी सूनी के लकड़ी का बरभूली जाय।

सहज सीऊना सुलंगी धउरा,

बाट छोड़ी देरे डौकी खेलाऊं भौरा।

आम पर जैसे बन्दर झोंका लेता है,

उसी तरह जान-बूझकर भी तू

प्रेम के झुलावे में झूल रही है।

इतने दिन तू मुझे भूल गयी,

चौरी वृक्ष पास है, वह सब जानता है।"[131]

व्यवसाय करते समय श्रम परिहार करने के निमित्त गीत

कृषि संबंधी गीत -

भारत में आदिवासी भले ही वे उत्तरपूर्व, उत्तर भारत, मध्य भारत व दक्षिण भारत के आदिवासी क्यों न हो सबका मुख्य व्यवसाय कृषि ही है। अलग-अलग प्रान्तों में अलग-अलग कृषि पद्धति को अपनाकर वे अपना जीवन यापन करते रहते हैं। हिन्दी में लिखे गये अनेक आदिवासी उपन्यासों में कृषि का प्रसंग विधिवत रूप से आया है। कृषि कार्य में लगे आदिवासी बड़े परिश्रमी होते हैं। प्रत्येक कार्य का आरम्भ उनके लिए एक पर्व ही होता है। विधिवत धार्मिक अनुष्ठान संपन्न करने बाद ही कृषि कार्य आरम्भ किया जाता है। उपन्यास 'जंगल के गीत' में कृषि कार्य आरम्भ से जुड़े पर्व और रोपनी के समय आदिवासियों द्वारा गाये जाने वाले गीत का उल्लेख इस प्रकार है- "साँझ को पूरे गाँव में ऐलान कर दिया गया। कल 'कादलेटा' उत्सव के साथ ही धान की रोपनी सुरू कर दी जाएगी। सुबह होते ही पहान आ गया था। गाँव की लड़कियाँ-औरतें घुटनोतक मोटियारी में सजी कितनी खूबसूरत लग रही थीं। हल जोतने का सामान संभाले युवकों की टोली में उत्साह खेल रहा था। पहान ने पहले 'डंडा काटा' की विधि पूरी की, सखुए के पत्ते में मेरा रखा गया था। पहान ने हंड़िया उड़ेला। हरे भरे भीड़ा के तीन गुच्छों पर पहान ने पानी छिड़का। रोपा की उद्‌घाटन विधि सोल्लास खत्म हो गयी। लोगों के चहरे पर खुशी की लहर दौड़ गयी। युवक खेतों की ओर चल पड़े। औरतें-युवतियाँ बीड़ा उखाड़ने में लग गयीं। पहाड़ियों से घिरे छोटे-छोटे खेतों में रोपा करती गाँव की अल्हड़ बालाएँ एक कतार में परियों सी कितनी खूब सूरत लग रही थीं। पूरा प्रकृति-प्रांगण खिल उठा था। रोपा करते जब रिमझिम बारिश होने लगी तो बीनको मीठे स्वर में गाने लगी-

रसा-रसा चेप पुंइयी ***(रोपनी गीत)***

है रे भइयासिन एरा हूँ पोल्लोन।

पइरी बरी चेप पुंइयी

हैं रे भइयासिन चिन्हा हूँ पोल्लोन।।

रसा-रसा कर बारिश हो रही है,

हैं रे, मैं अपने भाई को देख भी नहीं सकती हूँ।

सबेरे से बारिश हो रही है,

हैं रे, मैं अपने भाई को पहचान भी नहीं सकती हूँ।।"[132]

आदिवासियों में फसल बोने के समय जितना उल्लास होता है उस से बडकर उल्लास रोपनी के समय होता है। अपनी महनत को फलता हुआ देख वे बड़े खुश होकर धान काटने के लिए तैयार होते हैं। इसका प्रसंग 'पठार पर कोहरा' उपन्यास में दिखता है। "इस बार जिसके पास दस हाथ भी जमीन है, बड़े प्रेम से जोती-बोई गयी है। खेत हरे हैं। कलगी फोड़ चुके हैं ज्वार, बाजरा और मकई के पौधे। रस्सियों के लिए लगाई गई पाट और सनई भी खूब बड़े-फूले हैं इस साल। मुण्डाओं की छाती ऊँची है। माथा चमक रहा है। उछाँह लेती आशाएँ और हिलोरे लेता मन...! मुण्डा स्त्रियों के कण्ठ में भी कोयल आ बसी है। खूब शौक से रोपाया है धान। जिसके सीर से कर्ज उतर गये हैं उनका सारा धान इस साल अपना होगा। रोपनी गीतों के ज्वार से नहा उठा है गजलीठोरी...!

बिर तबु चन तन ***(रोपनी गीत)***

आते तबु पीड़ि तन

दारू बु रोवाया

सादी... सादी...

उली कण्टड़ कुद बारू

मु दू हंस; जोतो दारू

दारू बू रोवाया...

जंगल खत्म हो रहा है।

धरती बंजर हो रही।

अतः गाछ रोपेंगे।

टाँड़ के आड़ में रोपेंगे।

कतार-कतार।

आम, कटहल, जामुन, कुसुम,

फरसा, पीपल आदि-आदि।

गाछ रोपेंगे...।"[133]

आदिवासियों में प्रत्येक अवसर पर गीत नृत्य का होना स्वाभाविक है। इसके चलते 'जंगल के फूल' उपन्यास में हल चलाते हुए गीत गाने का वर्णन हुआ है। गोंड प्राचीन काल से अस्थाई खेती करते रहे हैं। उपन्यास में अस्थाई खेती करने की तरीके को बताया गया है। वे पहले जंगल में आग लगा देते हैं, आग बुझने के बाद राख को चारों तरफ फैला दिया जाता है। इस प्रक्रिया में स्त्री का योगदान महत्वपूर्ण होता है। वे काम के साथ गीत भी गाते हैं। उपन्यास में कृषि संबंधी गीत इस प्रकार है-

विरपोंड़ी पन्डो रोमो रोमो ***(हल चलाते हुए)***

कोरक पहची वायकम सांगो

मिया वाय वाय पचतोरम सांगो

हुर्री तासी वायकम सांगो

मिया वाय वाय हुरी तसतोरम सांगो।

विरपोंड़ी के जंगल में रोमो की पहाड़ी है।

हम वहां झाड़ की डगालें काटने आएंगे।

तुम्हारे आने के पहले, हम डगालें काट डालेंगे।

हम डगालों को मैदान में फैलाने के लिए आएंगे।

तुम्हारे आने के पहले, हम डगालें मैदान में फैला देंगे।

हम डगालों में आग लगाने आयेंगे।

तुम्हारे आने से पहले, हम उनमें आग लगा देंगे।"[134]

आदिवासियों में कुछ गीत संदर्भानुसार गाये जाते हैं 'गगन घटा घहरानी' उपन्यास के आरंभ में ही गीत का उल्लेख हुआ है। आदिवासी स्त्रियाँ दिन भर खेत में काम कर वापस लौटते तक देर हो जाती है। अंधेरे में चलना कठिन हो जाता है। गीत ही उनका पथ प्रदर्शक बनता है। जिसका उल्लेख इस प्रकार है- "देर तो होनी ही थी। लेकिन तब तक अंधेरा का खौफ बादलों से भी अधिक घना होकर सब के चहरों पर उतर आया था। इन खिलन्दड़ी लड़कियों में हीरामणी ही कुछ समझदार और गम्भीर थी। उसने सुझाया- "एक काम करते हैं। रूकने से नहीं होगा, गीत शुरू कर। हमारे गाने से रास्ता मालूम करती वे आ जाएँगी। यद्यपि दिन भर रोपनी का गीत गाती, टेहुने भर कादों झुक कर लगातार धान रोपती सब थक गई थीं...। फिर भी उन्हें हीरामनी का विचार पसंद आया। गीत गाती वे आगे बढ़ती जाएँगी और पीछे का दल स्वर की दिशा में बढ़ता चला आएगा। गीत और हँसी उन लड़कियों की पूँजी थी, उनका स्वास्थ्य था और उनका सौन्दर्य था। हीरामनी के गले से गीत के बोल फूटे-

अनि गुड़ी चोना निङ

तरदी योता याता पतर योता योता

चोना निङ (कुड़ुख)

चलो सहेली जाएँ,

दीपक देखते हुए,

प्रकाश देखते हुए चलें

तरदी जो मोलवकि खोड़ झुड़

जो एरिफोए अनि गुड़ी एङ

नानिङ अनिंपउ राजी (कुडुख)

दीपक भी बुझ गया,

रास्ता भी भूल गए,

चलो सहेली लौटें अपने देश।

बिजली जो लवकेतज्, गोङ जो योतज्

अनि गुड़ी चोनातिङ अनियअ राजी (कुडुख)

बिजली भी चमक रही है,

रास्ता भी दीख रहा है,

चलो सहेली चलें अपने देश।"[135]

"गगन घटा घहरानी साधो, गगन घटा घहरानी !

पूरब दिस सों उठी बदरिया

रिमझिम बरसत पानी

साधो गगन घटा घहरानी।"[136]

'शैलूष' उपन्यास में नट ज़मीन प्राप्त करने के बाद उसमें नर्सरी करने की तैयारी लगे हुए हैं। लल्लू काका कहते हैं- "यह घर की जमीन है, इसे प्यार करो, इसे माता की तरह दुलारो। सम्मान करो, यह माटी है माटी। तभी नट लड़कियाँ हाथ में हाथ डाले नाच उठीं, उनके गले से संगीत के बोल उठने लगे।

हरि मोर चलते उतर बनजरिया

दुअरा कदंब लाइ गइले हो राम

जब जब धनिया रे मनवां उदसिहे

तब तुं कदम तरै जोहिहे हो राम।

मेरे प्रिय उत्तर दिशा को नौकरी करने गये।

वे द्वार पर कदंब का वृक्ष लगा गये।

हे धनिया, जब-जब तुम्हारा मन उदासे,

तुम इसी के नीचे खड़ी होकर मेरी बाट जोहती रहना।"[137]

आवसरिक गीत

देवी-देवताओं के गीत -

'शैलूष' उपन्यास में नटों द्वारा की जाने वाली 'नथिया देवी की पूजा' का वर्णन मिलता है। जिसमें पूजा पद्धति के साथ पूजा में गाये जाने वाले गीत का भी वर्णन है- "जय माँ नथिया !' लल्लू गुरू ने एक नारियल को लाल कपड़े में लपेट दिया और अहरे से आग लेकर एक दूसरा हवन कुंड बनाया। सब तरह के विधि-विधान के सात नथिया देवी का पूजन होने लगा। हवन का धुआं नतिया देवी को प्रसन्न कर रहा था। जुड़ावन के कबीले की औरतें और छोकरियाँ ज़ुबेदा ताहिरा एक साथ स्वर में स्वर मिलाकर गाने गलीं-

कंवरू देसवा से चलेली भगवती पहुँचे ली मलिया आवास हो (नथिया देवी के संदर्भ में)

किया मोर सेवक बांधे देव घरवा किया जोहे बटिया हमार हो।

जागु जागु नथिया जागु बनजारिन पुरवो हमारी हास हो

आजु कि भीर पड़ल सेवकन पर रच्छा करो मातु हो।"[138]

पौराणिक, सिद्धपुरुषों के गीत

यह गीत हिन्दी में ही लिखा गया है। इस गीत को पौराणिक, सिद्धपुरुषों के गीत की कोटि में रखा जा सकता है। समय के अनुसार आदिवासी अपने समाज के प्रमुख पुरुषों की जीवन गाथा को गीतों के रूप में गाते रहे हैं। इस प्रकार के गीतों में से यह एक गीत है जो 'पठार पर कोहरा' उपन्यास में चित्रित है।

''मैं बिरसा जंगल का बेटा

मैं जंगल का दावेदार

मैं पहाड़-सी काली काया
तन में, मन में शक्ति अपार
है पठार-सी ऊँची छाती
सह सकती है अनगिनन वार

जेहल में जो थूका मैंने
लहू नहीं वो अगिनफूल थे।
देर मरी थी मेरी लेकिन
नहीं मरे थे बीज-मूल रे

नहीं मरेंगे मेरे वंशज
मेरा पुश्तैनी अधिकार
लेगा मुण्डा अपना कब्जा
चाहे कोई हो सरकार

सुन ओ पुरखे, सुन ओ आबा
सुन लो ए बिरसा भगवान
आज तुम्हारे मुण्डा बच्चे
आँग रहे हैं उलगुलान
उलगुलान ! उलगुलान !! उलगुलान !!!"[139]

मेले, त्योहारों और व्रतों संबंधी गीत

मध्य भारत के आदिवासियों का प्रमुख पर्व है 'करमा'। इस पर्व का उल्लेख मुख्यरूप से 'जंगल के गीत' तथा 'पठार पर कोहरा' उपन्यास में मिलता है। करमा पर्व के आरम्भ में आदिवासी जंगल में जाकर करमा डाली को काट लाते हैं तथा उसे पूजा स्थल में रोपने के बाद पूजा करते हैं। डाली को लाने का कार्य सामूहिक होता है, जंगल में जाते समय गीत गाया जाता है जिसका प्रसंग 'जंगल के गीत' उपन्यास में चित्रित है- इमली की गाछ के नीचे पूरी टोली तैयार खड़ी थी इस बार फगुवा लोगों का नेता बना था वही करम डाली काटेगा। गुनगुनाते, उछलते-कूदते, उमंगों में पूरी टोली जंगल की ओर चलने लगी। सबकी आँखों में अजीब उत्साह हिलोरें ले रहा था। करमा उत्सव की खुशी पूरे माहोल में बादो की पुहर के मानिंद बिखरी पड़ी थी। सब एक स्वर में गाने लगे। पहाड़ों में गीतों की कड़ियाँ दूर-दूर तक छिटक गयीं-

गुचा भइया रे खेल ओधरा ***(करमा पर्व के संदर्भ में गीत)***

गुचा बरा रे करम तारा कालोत रे।

पुतवारी भइया खेल ओधरा

गुचा बरा रे करम तारा कालोत रे।

चलो रे भइया मांदर निकालो

आओ चले करम काटने जायें।

सांझ को भइया मांदर निकालो

आओ चलें करम काटने जायें।।"[140]

'उराँव' आदिवासियों का एक प्रमुख पर्व है 'सरहुल'। उराँव अपनी बोली में इस पर्व को 'खद्दी' कहते हैं। इस पर्व का प्रसंग 'जंगल के गीत' उपन्यास में मिलता है- "उस पहाड़ी की तराई में बसे तुंबा टोली के लोगों की ज़िंदगी में एक नई सुबह आ गई थी। पूरे इलाके में आज बड़े त्योहार का दिन है। तराई में बसे उस इलाके के उराँव खद्दी मनाने की तैयारी में हैं। हर कहीं उत्साह और उमंग है। युवक युवतियों में एक अलग ही उत्साह का आलम। त्योहार का मौसम घर-आँगन में हर कहीं हवा में तैर रहा था। पिछली रात के नाच गान की स्मृतियाँ अखाड़े के करीब में लंबे ऊँचे दरख्तों में अब भी उसांसे भर रहा था। अंग-अंग में कल के नाच की

खुमारी टपक रही थी। एक-एक गीतों की कितनी यादें उभरती हैं-

खद्दी गे झंडा गड्डेरा ***(सरहुल पर्व के संदर्भ में नृत्य गीत)***

गुचाय कोय डिंडा पेलो

बेचागे कालोत ।।

पइरी बारी झंडा गड्डेरा

गुचाय कोय डिंडा पोलो

बेचागे कालोत ।।

खद्दी के लिए झंडा गाड़ा गया है

ये कुवाँरी लड़कियों चलो नाचने के लिए ।।

सुबह में झंडा गाड़ा गया है,

ए कुवाँरी लड़कियों चलो नाचने के लिए ।।"[141]

आदिवासियों में प्रत्येक पर्व के संदर्भ में गाने के लिए अलग-अलग गीत होते हैं। जिसका उल्लेख 'पठार पर कोहरा' उपन्यास में किया गया है- "अच्छा गाती है रुदिया...! संजीव ने प्रशंसा की।

अभी कहाँ संजीदा ? जपी, करमा, जेना, जराजी, जादुर, कोजड़ो...

यह क्या गिनवा रहा है रे ? संजीव ने लगातार बोलते जाते सोनारा को टोक दिया।

सब गीत हैं संजीदा ! दूसरे-दूसरे परब में गाते हैं।

रुदिया के कण्ठ से निकलकर गीत ज्यों ही हवा में बिखरता है, शब्द लवंगलता हो जाते हैं। रुदिया के मधुर कण्ठ से फूटते गीतों में सुर मिला रही हैं शेष वनजाएँ-

''खेया सेडोय हियो रे नाद नौर ***(सरहुल पर्व के संदर्भ में गीत)***

खडोने डोय हियो रे नाद नौर

मिरिम चाँदो चाँद रे नाद नौर

भर चाँदो चाँद रे नाद नौर

भर चाँदो चाँद रे ले उना..."

भौजी को बुलाओ।

पतौहुओं को न्योता भेजो।

सब को जुटाओ। बड़ी मुर्गी की बलि दो।

टूठे घड़े में हँड़िया भर-भर अर्घ्य दो चाँद को।

सरहुल का चाँद आ गया।"[142]

ओड़ाक खोनित्त ओण्डोक लेन   ***(करमा पर्व के संदर्भ में नृत्य गीत)***

छटका रेत्र तिंग लेन

ओका महल रेंचो तिरिया साड़े

ए आआ रहे-होरेआआआ

दूर महल में कोई बाँसुरी की मीठी धुन बजा रहा है।

बाँसुरी सुनकर मैं घर से निकलकर ओसारे पर आ गयी।"[143]

इसी प्रकार करमा पर्व के संदर्भ में एक नृत्य गीत 'पठार पर कोहरा' उपन्यास में चित्रित है। "आज करमा का त्योहार है। ढोल-मांदल का ताप पर झूम रहा है गजलीठोरी ! सुअर के माँस के साथ खूब सारी हँड़िया...! करमादेऊ की पूजा के बाद दावत और नृत्य-गीत...!

तिरिया नाजोम नात्र जोमते   ***(करमा पर्व के संदर्भ में नृत्य गीत)***

मुरली नातेन-नातेन ते

जुरी बागी कोतेत्र नोण्डोक सेनोक

एआआआ हेरे-होरे आआआ

धितंग...धितंग...

धिधिधि...धितंग-धितंग...

बाँसुरी की मधुर धुन सुन जी चाहता है,

दुल्हे का घर छोड़कर वहीं जा पहुँचूँ,

जहाँ बज रही है यह मधुर धुन !"[144]

जिस प्रकार 'पठार पर कोहरा' उपन्यास में करमा पर्व के संदर्भ में नृत्य-गीत आदि का उल्लेख हुआ है उसी प्रकार करमादेव के विदाई गीत का भी उल्लेख इस उपन्यास में मिलता है। संजीव को घर छोड़ने के बाद हरमू सरना के थान की ओर लौट पड़ता है। और सोचने लगता है- "देर से ही सही, पूजा में शामिल होना ज़रूरी है। कल भर ही तो गाँव में बसेंगे करमदेऊ। परोसों अनगुत्ती किरन फूटते ही करम की डाली नदी में प्रवाहित कर दी जाएगी। विदाई हो जाएगी करमदेऊ की, ताकि फिर अगले वर्ष स्वागत कर सकें लोग।

धीरे-धीरे चढ़ रही है करमा की रात...! जैसे इत्र की शीशी गिर कर फूट गई हो। दूर-दूर तक फैले रहे हैं करमा के गीत और माँदल की धुन...! दूर...दूरान्तर तक, जैसे कोई कस्तूरी मृग भटक आया हो गजलीठोरी में ! कस्तूरी-कस्तूरी हो रही है करमा की चाँदनी...यह चाँदनी रात ! रात का तीसरा पहर ...! करमउदासी गाई जाने लगी है। करमउदासी अर्थात करमादेऊ का विदा गीत...।

सबकारो घरे आइज माँदर बजाय ***(करमादेव का विदाई गीत)***

मोर घोर सुना चेल रेआआआ

मोरा साइयाँ गेल परादेस

मोरा घारे सुना चेल रे आआआ

करम कहाल गे सँवारो

करमा के दिन कैसे आवय रे आआआ

करमा का तेर-तेर जला भरी फूल रे

डाला भरी बाती बराय रे आआआ

सबके घर आज माँदल बज रही है,

पर मेरा घर सूना है।

पति गया गया है परदेस।

अगले करमा में सनयाँ आनेवाला है।

जल्दी अगला करमा आवे।

घर की उदासी टूटे।

करम की डाली को सींचूँ।

टोकरी भर दिए जलाऊँ।"[145]

जिस प्रकार 'पठार पर कोहरा' उपन्यास में करमादेऊ पर्व के संदर्भ में करमउदासी गीत का उल्लेख मिलता है उसी के समानांतर 'जंगल के गीत' उपन्यास में भी करमदेऊ के विदाई गीत का चित्रण है-

चेरोम गा बरचा इन्नम गा काला लागी ***(करमादेव का विदाई गीत)***

गुच् खदो बरे ख़दो

नम्हैं करम काला लागी।

कल ही तो आया, आज ही जा रहा है,

चलो ए लडकियों, आओ ए लडकियों

हमारा करम राजा चला जा रहा है।"[146]

आदिवासियों के अनेक देवी-देवता होते हैं। प्रत्येक देवता के लिए प्रत्येक पर्व होता है। मुख्यरूप से गोंडों के लिए नारायणदेव प्रमुख हैं। प्रति वर्ष वे नारायण देव की पूजा बड़ी श्रद्धा के साथ करते हैं। 'जंगल के फूल' उपन्यास गोंड जीवन पर आधारित हैं। उपन्यास के आरंभ में ही नारायण देव की पूजा के संदर्भ में गीत गाया जाता है। जो इस प्रकार है-

तेर ना नी न ओ, तेर ना ना के नांव रे। ***(नारयण देव की पूज ाके संदर्भ में नृत्य गीत)***

तेर ना ना, ना ना, तेर नाना के नांव रे;

तेर नाना ओआआआ

ती ना ना मुर ना ना रे ना ना

ना मुर ना ना हो............ ।"[147]

'जंगल के फूल' उपन्यास में 'चैत परब' के संदर्भ में भी गीत गाये जाने का विवरण प्रस्तुत है। खेद की बात यह कि अन्य उपन्यासों में गीतों का हिन्दी अनुवाद दिया गया है किन्तु 'जंगल के फूल' में इन गीतों का हिन्दी अनुवाद नहीं दिया गया है।

तैना नामुर ना मुर रे ना ना रे ना ना (चैत परब के समय गाते हैं।)

तुभी नाका डोंगा जोंगा, हामी नाकुन्दे खड़क सरकार चो !

रैयत के दंड पड़ली दरभा ठाना चो सड़क।

हो ते ना ना मुर आआ।

पकालू गोबर की पावली तरास हुनाके बोल्दे छेना।

सरकार चो।

दुल्हर कुती चो दुकान मड़ाला दुल्हा कुती चो घेना।

हो तै ना ना मुर आआ।

माय चो नाव हीपे हीपे, बेटी चो नाव हीपे हीपे

पान टोडुक जो हीपे, तुलसी डोंगरी चो हीपे

हो तै ना ना मुर आआआ।"[148]

आखेट के अवसर पर गीत

आदिवासियों की संस्कृति में आखेट का महत्वपूर्ण स्थान है। शिकार उनकी परम्परा है। प्रति वर्ष वे शिकार करने के लिए जाते हैं जिसके पहले गाँव में जंगल के देवता की पूजा की जाती है, तदोपरान्त गाँव के सभी युवक अपने-अपने तीर धनुष लेकर शिकार करने जंगल की ओर बढ़ते हैं। इस प्रकार के शिकार के प्रसंग 'जंगल के गीत', 'जंगल के फूल' और 'पठार पर कोहरा' उपन्यास में चित्रित है- "फग्गू सेंद्रा से लोगों का इंतजार करते अखाड़े में गाँव की सजी-संवरी, सांवली पहाड़ी बालाएं नाचते-गाते बेसुध थिरक रही थीं, बीनको

की पतली, सुरीली आवाज हवा में लहरा रही थी, जिसे युवतियों की टोली पूरे पहाड़ी अंचल में बिखेर रही थी। गीतों की एक-एक कड़ियों में एक उन्माद था। एक नशा था, एक खुशी थी-

एंदेरा लो खरख़ी कोय पेलो ***(शिकार के अवसर पर गीत)***

बनारी परेता नू सोहोड़ बई।।

पके सादिम के ख़रख़ी कोय पेलो

बनारी पेरता नू सोहोड़ बई।।

क्या रकपका रहा है, लड़की,

बनारी पहाड़ में सोहोड़ की आवाज करता है।।

सूखी पत्तियाँ करपका रही है, लड़की,

बनारी पहाड़ में सोहोड़ की आवाज करता है।।"[149]

"सेंदरा कादय भइया, करेगा कादय ***(शिकार के अवसर पर गीत)***

मझी-मझी भइया अमकेमना, भइया रे मोरा, एकसन रअदय।

तीर दिम लग्गो भइया, बंदुक दिम लग्गो,

मझी-मझी भइया अमकेमना, भइया रे मोरा, एकसन रअदय।

शिकार खेलने जाते हो भैया, पहाड़ जाते हो

बीच-बीच में मत रहना, भैया मेरे कहाँ हो।

तीर लगेगा भैया बंदूक लगेगा

बीच-बीच में मत रहना, भैया कहाँ हो।। "[150]

"चीखल माटी करिया मामा,

करीगिर कारीगिर शिकारी शिकारी ।

चिकनी मिट्टी मामा के काले रंग की तरह है,

शिकारियों अपनी बंदूकें संभालो।"[151]

यहाँ मातुल के पास खड़ी मोटियारियाँ अपने-अपने मन में चेलिकों की सफलता की कामना कर रही

थीं। उनमें से हर एक-का प्रेमी जंगल जा रहा था। देवता से मन ही मन मनौती मानतीं और गले से सुर छेड़ती -

कैना का गुलेल दाइ,

कैना का कोरी वो।

दाइ सुना कैना का गुलेल।

बांस के तो गुलेल बाबू

सन सुतरी डोरिगा बापू।

हो, कैना का गुलेल दाइ।

गुलेल काहे की बनी है माँ,

रस्सी काहे की बनी है

बाँस की गुलेल है और

सन की सुतरी की रस्सी है।"[152]

गोदने के अवसर पर

आदिवासी स्त्रियाँ अपने शरीर पर गोदना गुदवाती हैं। गोदना उनकी सुंदरता में चार चाँद लगा देता है। इनका विश्वास है कि मृत्यु के बाद अपने साथ कुछ जाता है तो वह गोदना ही है। इस प्रकार के विचार 'जंगल के फूल' उपन्यास में गोदने प्रसंग में उल्लिखित है। महुआ एक कट्टुल पर बैठ देख रही थी। दूसरे चेलिक और मोटियारी चारों तरफ घेरे खड़े थे। ओझा (वह जो शरीर गोदने का काम करते हैं। ओझा एक जाति है, जिस के मर्द और औरत दोनों शरीर गोदने का काम करते हैं) पीतल की एक लम्बी सुई दिया में रखे काले पदार्थ में डुबोती और लड़की के जाघ में चुबो देती। वह जोर से चिल्ला उठती, ऊ इ इ इ माँ...।

उसकी माँ उसके सिर पर हाथ रखकर कहती- "मत रो बेटी, ये गुदने तेरी सुन्दरता में चार चाँद लगा देंगे। तुझे अच्छे-से-अच्छा प्रीतम मिलेगा। दुनिया भर के चेलिक तुझे प्यार करेंगे, पर तू उनमें से सम्हलकर चुनाव करना। और मरने के बाद यही गुदने तुझे नरक की यातनाओं से बचाएँगे। तब देवता तेरी छाती में

भाला नहीं घुसेड़ेगा।

अरजी मां हमारा,

उस दिन की बचन तुमारा

सूजी की झार उतारा।

हे माँ हमारी प्रार्थना सुन लो,

उस दिन तुम ने वचन दिया था।

सूजी की जलन उतार दो।"[153]

मनोरंजन संबंधी गीत

नृत्य गीत -

आदिवासियों का प्रमुख मनोरंजन का साधन है उनके गीत और नृत्य। अपने जीवन के प्रत्येक अवसर में इन गीतों के माध्यम से अपने सारे तनाव, दुविधाओं को भूल कर मस्त रहने की कोशिश करते हैं। 'जंगल के गीत' उपन्यास में एक नृत्य गीत का उल्लेख हुआ है- "मांदर, ढोल अब तेजी से डिमडिमाने लगे हैं। अखाड़े में युवक-युवतियों की टोलियाँ सज गई हैं। गीतों की कड़ियाँ छिटक पड़ती हैं, तो बेसुध युवतियों की बलखाती कमर, एक लय में झूमने लगीं। एक के बाद एक उठता ज्वार, उन्मुक्त भावनाओं की बनती-बिगड़ती बेहिसाब लहरें-

कादन कादन बअदी कोय पेलो ***(नृत्य गीत)***

खेड्डन्ता धूलिन, खेतेरअय कालय ।।

निंग्योनिंबा केबोर कोय पेलो

खड्डन्ता धूलिन खेतरअय कालय ।।

ए लड़की तुम जाऊँगी-जाऊँगी तो कहती हो,

पैर की धूल को जरा झाड़कर जाओ ।।

ए लड़की तुम्हारे माँ-बाप गाली देंगे,

पैर की धूल को जरा झाड़कर जाओ।।"[154]

आदिवासियों की अगहन पूर्णिमा के अवसर पर जतरा मनाने की प्रथा झारखण्ड क्षेत्र में प्रचलित है। इस जतरा में सभी गाँव के लोग इकट्ठे होते हैं। युवकों के लिए अपने जीवन साथी को चुनने के लिए यह महत्वपूर्ण अवसर होता है। सभी गाँव से आये युवक-युवतियाँ बड़े उमंग के साथ इस जतरा में भाग लेते हैं और नृत्य-गान करते हैं। इस जतरा का उल्लेख 'जंगल के गीत' उपन्यास में इस प्रकार चित्रित है- "जतरा में चारों दिशाओं से आकर लोग जमा हो गए। पूरा जतरा एक-ब-एक खिल उठा था। उधर जतरा देवता की प्रतिमा को जंगली फूल-पत्तों से सजा दिया गया था। पहान देवता के प्रतिमा पर पानी, तेल उड़ेला, सिन्दूर का चिह्न लगाया, देवता की दुहाई दी, और तब विधिवत जतरा उद्घाटन हो गया। अलग-अलग गाँव के अलग-अलग झुरमुट बन गये थे। युवक-युवतियाँ मदहोश से उस नृत्य सागर में खो गये। नई उमंगों से बे हिसाब लहरें उठने लगी थीं। धुंधलका बढ़ते गीतों की कड़ियाँ पहाड़ी अंचल में बे रोकटोक गूँजती रही-

सिंगिल बिंगिल तुंबा दे ***(नृत्य गीत)***

अमके तेंगा कुद्दा कोयनिग्हैं जोगे तुंबा दे।।

ख़ई काली कीता डहरे नू,

बबूस कादस मइता डहरे नू,

बोंगा से भैया, चेंगा से भैया ख़ई गने।।

सिंगिल-बिंगिल तुंबा रे,

मत बता-चलना कि तुम्हारे योग्य तुंबा है।।

कन्या नीचे के रास्ते से जाती है,

बाबू ऊपर के रास्ते से जाता है,

भैया जल्दी-जल्दी चले जाओ, कन्या के साथ।।"[155]

मरियागोंड आदिवासियों में घोटुल का प्रचलन है। जिसमें प्रत्येक दिवाली में एक गाँव के घोटुल के सदस्य दूसरे गाँव के घोटुल के निमंत्रण पाकर नाच गाने के लिए वहाँ पहुँच जाते हैं। यह उनकी परम्परा है।

इस परम्परा का वर्णन 'जंगल के फूल' उपन्यास में इस प्रकार चित्रित किया गया है- "दो दिन बाद दिवाली के परब का ठीक दिन आ गया और इसी दिन गायता ने बारसूर की मोटियारियों का गेंवड़ें में स्वागत किया। ये छः गाँव पार करके यहाँ आई थी। नाचते-गाते गायता के घर की ओर एक दम बढ़ गई।

सुलकासाय, पाण्डु और झालर सिंह ने मोटियारियों का स्वागत किया। ये कुल दस थीं। इन्हें वे घोटुल ले गए। आपस में बातचीत चली। परिचय हुआ। सबने अपने-अपने घोटुल का नाम बताया। खूब हसीं मजाक हुई। रात को नाच का इन्तजाम किया गया। गीत और नृत्य के माध्यम से वे अपना परिचय बताते हुए नाच-गान किया।

अग बागा परेगांव रोय देले ***(नृत्य गीत)***
डोंगर भूम तांव पारेगांव रोय देले
अग बागा रैया मंदा रोय देले ?
गायता दादा दुआर रे रोय देले
किले रे कोरू रचाय रोय देले
अगाए इते रइतांग रोय देले।
ये सुन्दरी किस गाँव से आई है
ये ऊंचे स्थान से आई हैं।
वे कहां ठहरी हैं
वे गायता के घर ठहरी हैं
उसकी बाड़ी के सामने उनका निवास है,
वहीं वे टहरी हैं।"[156]

'शैलूष' उपन्यास में रेवती मइया के पूजा के बाद नृत्य-गान का आयोजन किया गया है। जिसका वर्णन लेखक ने इस प्रकार किया है- "रेवती मइया के चौरे के पास मशालें जल रहीं थीं। ढोलक, मजीरे, एकतारे, डमरू बज रहे थे। बजते तो ये रोज ही थे, भीख मांगने के लिए या करतब दिखाने के लिए मगर आज ये सिर्फ

खुशी में बज रहे थे। नट-युवक और युवतियाँ एक-दूसरे के साथ सटे, एक-दूसरे के कंधों पर हाथों का डैना फैलाये लम्बी कतारें जोड़कर न्च्ााच रहे थे।

अमवा महुवआ के बाग तहिरे बीच लगी ***(नृत्य गीत)***

अमवा के लाम्बे लाम्बे पात टिकोरवा से डाल झुकी।

जवानी की निशानियां, आम के पत्ते और

लटकते हुए कच्चे फल मर्दों की तुलना में

औरतों को ज्यादा पागल करती है।"[157]

आदिवासी समाज में सभी दिनभर कड़ी मेहनत करके शाम में घर वापस लौटते हैं। अपनी थकान को दूर करने के लिए मनोरंजन के लिए नाचते हैं, गाते हैं। यही प्रवृत्ति बच्चों में भी पाई जाती है। बच्चों के मनोरंजन के लिए अलग से गीत होते हैं। आदिवासी लोक गीतों में बाल गीतों का अपना महत्व है। ये गीत अवसरानुकूल गाये जाते हैं। बच्चों के खेल के अपसर पर गाया जाने वाला गीत 'जंगल के फूल' उपन्यास में चित्रित है, इसका प्रसंग इस प्रकार है- "थानागुड़ी के सामने मैदान में गाँव के छोटे-छोटे लड़के और लड़कियाँ खेल रहे थे। सब मिलकर यह पाटा गाते और उसे बार-बार दुहराते। फिर सब भाग जाते। पिर एक-दो लड़के उनके पीछे दौड़ते- लिटो बांग परेला।

सब भाग जाते। कबी कुछ लड़के-लड़कियाँ खड़ेहोकर कहते- 'काबर-काबर जोलमा टोरेला' दूसरे लड़के जोलमा की ओर दौड़ने लगते। उन बच्चों का खेल गीत इस प्रकार है-

लिटो लिटो बांग परेला, ***(खेल गीत)***

काबर काबर कोन टोरेला

काबर काबर जोलमा टोरेला

छई छई बोरी कोन बेचेला

छई छई बोरी मनई बेचेला

नकटी पैसा कोन झोकेला

नकटी पैसा जलाय झोकेला।

भटे तैयार हैं।

उन्हें झुके-झुके कौन तोड़ रहा है ?

झुके-झुके जोलमा तोड़ रही है।

उन्हें बाजार ले जाकर कौन बेचेगा ?

बाजार में मनई ले जाकर बेचेगा।

यह खोटा पैसा किसने लिया ?

जलाया ने यह खोटा पैसा लिया है।"[158]

केरा लाटा मंगनाया रे ***(यह एक गोंडी खेल-गीत है।)***

खेलू खेलू काय लेकी मन,

चिम्मनाय रे।

अर्थ है- लड़के-लड़कियाँ आओ, हम खेलें।"[159]

वियोग गीत

हिन्दी के आदिवासी उपन्यासों में वियोग गीतों का उल्लेख हुआ है। कथानक के विविध संदर्भों में उपन्यासकारों ने उन आदिवासी समूहों में प्रचलित वियोग गीतों को रचना में समेटने की कोशिश की है। 'जंगल के फूल' उपन्यास में वियोग गीत का प्रसंग इस प्रकार है। झालर और जलिया के प्रेम-बंधन टूटने पर महुआ अपना दुख भूलकर उसकी दुःख में शामिल हो जाती है। और उसे समझाते हुए घोटुल में उनके द्वारा गाये जाने वाले गीत को याद दिलाती है-

''नियारा जोर तोर लयोर रोय हेलो, (घोटुल की लड़कियाँ अपनी सहेली को सांत्वना देते हुए-गीत)

जो दिरे ओनदोय किति रोय हेलो

संगी रे जोर तीर लयोर रोय हेलो-

अदेर राजो पुरो रोय हेलो

इडेक बर पुंदकी रोय हेलो।

यहाँ तुम्हारा एक प्रेमी था,

अब तुम उसे छोड़कर जा रही हो।

तुम उसे अब अकेला छोड़कर जा रही हो।

तुम इस घोटुल में कभी न आ सकोगी,

परन्तु तुम्हें यह शीघ्र पता लग जायेगा कि

विवाह की जन्दगी में भी कितना मजा है।"[160]

जलिया के विवाह की तैयारी हो रही थी। सारा गाँव ढोल की आवाज के साथ गूँज उठा। घर-घर मे खुशी के गीत गाये जाने लगे। जलिया को चारों ओर से उसकी सहेलियों ने घेर रखा था, परन्तु उसकी स्थिति अजीब थी। वह न तो खुशी से हँस रही थी और न दुख से रो रही थी। झालर सिंह को वह भूल जाए, कैसे हो सकता है। जिसके साथ जाने कितनी चाँदनी रातें उसने बिताई है, काजल सी अंधी रातों में उसके हाथ में हाथ डालकर वह गाँव की गलियों से गुजरी है। झुनरी के खेतों से लेकर दीपा तक में उसका साथ रहा है। हर सुख दुख में दोनों एक थे। दोनों ने सपनों के कितने बड़े-बड़े महल गढ़े थे। उसका मन कभी महुआ, सागौन और गोटमरे के नीचे, करौंदे और झरिया की झुरमुट में घूमता है तो कभी कोदों, जून्हरी और मक्का के खेतों में खड़ा होकर दूर नीले आसमान को देखता है, जहाँ धरती आकाश से मिलती है। न जाने कब से ये दोनों मिले हैं और आज तक कभी नहीं बिछुड़े। नदी की घाटी, ऊँचा-नीचा पठार और तेंदू के पत्ते सब एक-एक कर उसके सामने आते हैं-

पतर टोड़ली काखोरे झाकिली ***(जलिया का वियोग)***

ताकला कोल्हे परा लुडंगी धरली

कोनी बोट नोई बाखे

हाट फिटी गेला हाट रे दिन हेला

जांग फिटी गेला मांसे

सिरलिंगा झिर लिंगा राइकेरा झोंड़ी

खेलाबी टोकसा गरी

गाड़ी बाइल पर बेसनी छेड़बी

कतक होइबी ऊबा करी।

पत्ते तोड़कर कांख में भरती जाती हूँ।

सड़क के किनारे बंडल बना-बनाकर रखे हैं।

(सांझ होने पर) घर की ओर थके सियार की भांति लौट रही हूँ।

किसी भी तरफ मैं नहीं पहुँच पाई।

हाट छूट गया, आठ दिन में भेंट नहीं हुई।

एक माह से तेरा स्पर्श नहीं मिला।

रात की कौन कहे, मैं दिन को चला आता-तेरे पुरुष का जो भय है।

सिरलंगा-झिरलिंगा, राईकेरा का नाला।"[161]

मरिया गोंडों में घोटुल की प्रथा प्रचलित है, जिस के सदस्य विवाह के बाद घोटुल की तरफ से विदाई लेते हैं। यह घोटुल का नियम है। जलिया के विवाह के बाद विदाई का संदर्भ इस प्रकार चित्रित है- घोटुल को अच्छी तरह सजाया गया, जलिया को घोटुल में ले आया गया। सरदार के नाते झालरसिंह ने जलिया का विशेष स्वागत किया। उसने कौड़ियों की एक माला जैसे ही जलिया के गले में डाली कि दोनों एक साथ फूट पड़े और एक दूसरे के गले लिपट गए। जलिया को कट्टुल पर बिठाया गया। सब मोटियारियाँ उसे घेर कर खड़ी हो गईं। उसके बालों को छोड़कर उन्होंने फिर से कंगी की। एक लम्बी चोटी डाली। उसमें फूल लगाया गया। उसके बालों में खुसी दर्जनों कंघियाँ निकालकर फेंक दी गई और सिरदार की ओर से घोटुल के द्वारा दी गई तीन चार कंघियाँ बड़ी होशियारी से खोंस दी गई। गले में कई मालाएँ डाल दी गईं और उसके साथ ही सब एक साथ गा उठीं-

सिरपुर हेलो डोरी निवेदके दाकाट रोय (घोटुल से विदा होते समय गाये जाने वाला गीत)

सांगो निवेदके काकट रेय

आज तुम कहाँ जा रही हो

मेरी साथिन ? आदि-आदि।"[162]

सखि को चिढ़ाते हुए

रे रेला रे रेलो रे रेलो ***(घोटुल का विदा गीत)***

नियारा मनदाना लोनी रोय हेलो

लोनी गाजुर हिन्दु रोय हेलो।

यह तुम्हारा घर था,

तुम्हारी बातें कितनी मजेदार होती थीं।"[163] इसी प्रकार 'कब तक पुकारूँ' उपन्यास में वियोग गीत का उल्लेख मिलता है। सुखराम और प्यारी के बीच संवाद के बाद यह गीत शुरू होता है। सुखराम प्यारी से कहता है-

आज की रात जागर में बीत गई।

प्यारी कहती है अभी तो सूका (शुक्र तारा) नहीं उगा। सुखराम- तू मुझे एक गीत सुना दे। प्यारी- कौन सा ? सुखराम- वही, जिसमें तू गाती है कि बिरहिन की आग सताए... प्यारी- आज तो मैं तेरी बगल में हूँ। तू क्यों सुनना चाहता है ? सुखराम- जानता है , आज तो रात हम ने कुछ नहीं किया। प्यारी- मैं समझती हूँ जिन रातों किया था, वे अपनी न थीं। आज तू मेरा है। उससे कोई मन नहीं मिल जाता है। प्रीत तो मन की होती है। अच्छा गाना गा दे। प्यारी- तू मेरे संग ही गाना।

प्यारी-

"ऐ रे, मैं आग में जल रही हूं,

हाय मेरे बालम, तू कहाँ चला गया।

पहाड़ के धौ सूख गये हैं।

ऐसे मेरी चाहना भी सूख गई है।

पर मेरा हिया देख, इसमें क्या है ?

तू पर्वत पै धूनी रमाए बैठा है।

जोगी ! आ मेरे मन की धूनी तो देख जा !

सुखराम-

तेरी धूनी मुझे जलाती है तो तन जलता है,

यह धूनी जलती है तो तन गलता है।

प्यारी ! तेरे बिना मुझे जोग भी नहीं सुहाता।

प्यारी-

ओ जोगी !

जब भसम रमाई है तो मन लगाके समाध लगा।

अब पीछे न हट ! नहीं तो सब लुगाइयाँ मुझसे

कहेंगी कि अपने प्यारे को भेड़ा बना लाई।

यह जादूगरनी है।

सुखराम-

प्यारी ! दुनिया में कौन क्या है,

कोई नहीं जानता।

कोई किसी की जीभ नहीं पकड़ सकता।

यह भसम नहीं है।

तेरे गोरे अंगों की याद है।

यह धुआं देख मुझे

तेरे बालों की याद आती है।

मैं तो जलकर मर जाऊंगा।

कैसे करूं, यह मैंने कैसी बेड़ी

अपने-आप अपने पांवों में डाल ली है।

प्यारी-

प्यारे ! मैं जानती हूँ,

तुझे मुझसे प्रीत नहीं है।

तुझे तो चमकती बिजलियों से

सूनापन लग रहा।

तू जब मोरनी के पास मोर नाचता

देखता है तो तेरी हूक उठती है।

हिरणी के पीछे दौड़ता हिरण

तेरा काम जगाता है।

ओ काम के मतवाले !

तू मुझे प्रीत का धोखा क्यों देता है।

तू तो फिर ऐसे ही चला जाएगा

जैसे ये सावन के मेघ चले जाएंगे,

फिर जब सरद आएगी

तब मैं और आसमान दो हीती तो

धरती पर आंसू गिराने को रह जाएंगे।

सुखराम-

मुझसे कसम ले ले प्यारी !

अबकी शरद-पुन्यो मैं तुझे दूध से निहलाऊंगा

और चुल्लू-चुल्लू वह दूध बिखरेगा तो

चांदनी फैल जाएगी।

तू मेरी कामिनी कैसी सुन्दर है,

जैसे चंदा में से चीर के निकाली हो।

मैं जोगी तो तेरे लिए बना हूं प्यारी।

तू ही मेरी सबकुछ है।

दोनों-

आज प्रीत की रीत का निबाह हो गया।

वह गोरी कैसी जिसका बलमा साथ न हो !

तलवार सबको काटती है,

पर म्यान को नहीं काटती।

लौ काठ को भसम करती है,

पर काठ लौ को झुकाती नहीं है,

उठती ही रहती है।

ओ प्रीत के दीवानो, यह बताओ,

प्रीत में ढोला जलता है कि गोरी जलती है ?

कोई आज तक बता पाया कि

आग लकड़ी को पकड़ती है कि

लकड़ी आग को पकड़ लेती है ?"

इस प्रकार गाते गाते सवेरा हो गया है।"[164]

'शैलूष' उपन्यास का प्रमुख पात्र जुड़ावन सावित्री को अपने जीवन साथी के रूप में पाने पर अपने आप को धन्य मानता है। किसी जनम का पुन्य समझता है। किन्तु उतना ही दुखी होकर सोचने लगता है- "क्या मिला उसको ? इतना ऊँचा कुल-सम्मान छोड़कर एक नट पर सारा कुछ लुटा दिया। उसके लायक एक साड़ी भी तो नहीं दे पाया। अकस्मात उसकी आँखें भर आती हैं। उसने ढोलक पर थाप दी। नट लड़के एक दम चुपचाप बैठे थे। जुड़ावन काका के आँखें क्यों छलछला आयीं ? जुड़ावन ने आलाप ली-

आहो रामा मानिक हमरो हेरइले हो रामा

आहो रामा ओही रे जमुनवा के चिकनी मटियवा

चलत पांव बिछलइले हो रामा

आहो रामा तोरे लेखे ग्वालिन मानिक हेरइले

मोरे लेखे चान छिपइले हो रामा।

मेरा माणिक्य खो गया।

उस जमुना की माटी इतनी चिकनी थी

कि चलते हुए पाँव बिछला गये।

अरे ग्वालिन, तेरे लिए माणिक खो गया होगा,

मेरे लिए तो मेरा चाँद ही चुप गया।"[165]

इसी प्रकार उपन्यास में और एक कारूणिक गीत का उल्लेख हुआ है।

''पियवा के कठिन करेजवा हो, सइयां बाउर कइला ***(कारूणिक गीत)***

सूतल हम रहलीं पिया संगे सेजिया

बाते-बाते बढ़ी गइले झगरवा हो, सइया बाउर कइला

पहिले त पिया तुहुं मोहि गरिअवल

मोरी बतिया पे भइल फकिरवा हो, सइयां बाउर कइला।

मैनवा अपने सीने में उमड़ते दुःख को किससे कहे !

एक ही सेज पर मैं अपने प्रिय के साथ सोई थी,

बातों-ही-बातों में लड़ाई हो गई।

पहले तो प्रिय तुमने ही गाली दी,

पर मेरी बात से चिढ़-कर वे फकीर हो गये।

मैं बावरी हूँ । बावरी हूँ।"[166]

पत्नी के मर जाने के बाद भी रज्जब रोया नहीं था। किन्तु आज उसने वह ढोल उठाई जिसे वह सैंकड़ों बार पालती मार कर, अपने दोनों जाँघों के बीच रखकर बजाता आया था। आज आल्हा नहीं कुछ और ही था।

उसकी आवाज में ऐसी मदहोशी थी, मानो सैकड़ों काले-काले भौरें रावटी के पर्दे से टकरा रहे थे। आज गजराज के भीतर इकट्ठा सारा मद कपोंलों के पास से अपनी मोटी खाल को छेदकर बहने लगा था। मधुमक्खियों की भिनभिनाहट हवा को सघन बनाने लगी-

जहिया से सहियां मोरा छुअले लिलरवा ***(कारूणिक गीत)***

दुलभवा भइले ना

मोरे बाबा की नगरिया

दुलभवा भइले ना।

रज्जू, मेरे लिए मेरी नगरी, मेरी गृहस्थी

दुर्लभ हो गई है तुम्हारे बिना।"[167]

संयोग गीत

'सूरजकिरण की छाँव' में चित्रित यह संयोगगीत है। बंजारी कहती है- मैं खड़ी-खड़ी देखती रही। वह न दिखी तो सामने आसमान का वह छोर था, जहां वह पहाड़ों से मिलता है। कहते हैं इसका अन्त नहीं। न कभी आसमान खतम होता और न कभी पहाड़ मिटता। कितना चले जाओ, इन दोनों का बिछोह कभी नहीं दिखता। विरह जैसे इनकी जिन्दगी से दूर है- कैसे रहते होंगे ये। दिन-रात खूब हंसते होंगे, खूब गाते होंगे।

तलाइता पड़ी पाडी पारो गुडरालो मरकाओ,

मरका फोंडी जोडी बाया नीख नावा जोडी ओ।

तालाब के पास एक आम का झाड़ है।

उस झाड़ में जो आम फलते हैं,

काटने पर कटे आम की दो फांकें एक होती हैं।

(इसी तरह) तू और मैं एक हो जाएं।"[168]

इसी प्रकार इस उपन्यास के और एक संदर्भ में संयोग गीत का चित्रण हुआ है।

''हाथ धरे टंगिया, कांधे मां बसुला

चले जा डोंगरी पहरिया,

बिरजबन रसिया, हो......

चले जा डोंगरी पहरिया

बिरजबन रसिया, हो......

हे मेरे श्रमिक प्रियतम चलो

जंगल की ओर पहाड़ों की ओर

चलकर जीवन का आनन्द लें।"[169]

'जंगल के गीत' उपन्यास में फगुवा और झरिया के प्रेम प्रसंग में मिलन गीत का चित्रण हुआ है। फगुवा झरिया से अपने प्रेम को व्यक्त करने पर झरिया मौन रहती है। फगुआ झरिया से कहता है- "तो मैं इसे तुम्हारी मंजूरी समझूँ। झरी, फगुवा ने भर्राये गले से कहा और आगे बढ़कर सीने से लगा लिया। झरिया का दिल किसी सुखद स्मृतियों में गीतों की कड़ियों सा छिटकने लगा-

लोहेरा-लोहेरा पेलो मैना बेद्दा केरा ***(मिलन गीत)***

मैना निग्हैं पेलो कोड़ानू रई।

पइरी पेलो मैना बेद्दा केरा

मैना निग्हैं पेलो कोड़ानू रई।।

लोहरा लकड़ी मैना ढूँढ़ने गई,

तुम्हारी मैना तो हे लड़की, घर के कोने में है।

सुबह के समय लड़की मैना खोजने गई,

तुम्हारी मैना तो ए लड़की, घर के कोने में है।"[170]

'सूरज किरण की छाँव' उपन्यास में लोरी का चित्रण हुआ है। बंजारी माँ बनने के बाद उसे अपने घर की याद आ जाती है- "आवा चूल्हा फूंक रही है, तापे खटिया में बैठा चिलम फूंक रहा है, बड़ा बीर दरवाजे पर

डटा है... मेरी छोटी बहन ने पानी लुढ़का दिया, तो बड़े बीर ने चाँटा दे मारा। आवा दौड़ी आयी, शरम नहीं आती, छोटी लड़की भला क्या समझे। उसने ने उसे छाती से चिपका लिया। यहाँ वहाँ घूमकर लोरी गाने लगी-

लोरी

परजा दुलारी हानी हानी, कजरा री कोयला

बदरा छिपिस चांद अमरित बीर ला चोलरा।

हे दुलारी बेटी, धीरे-धीरे सोजा

मैं कोयल से काजल चुराकर लाई हूं।

आज का चाँद बादल में छिपा है।

लेकिन फिर भी बड़े वार उससे

अमृत छीनकर लायेंगे।"[171]

माँ अपने बच्चों के कोमल चहरे को देख बड़े लाड़ प्यार के साथ उनका रूप वर्णन करते हुए गीत गाती हैं। इसी प्रकार का गीत 'सूरज किरण की छाँव' उपन्यास में चित्रित है। बंजारी अपनी बेटी को देख उसका बचपन याद करती है। जोसफ फ़ादर के यहाँ सलामी बजाने गया था। पड़ी-पड़ी बंजारी मुन्नी को देखती रही। उस पर हाथ फेरती रही। आज अपने आप मन में बड़ा प्यार उमड़ आया था। उसके कोमल गालों को सहलाती रही। बंजारी को याद आता है जब मैं छोटी थी, तो मेरी माँ मेरे सिर पर लाड़-दुलार से हाथ फेरा करती थी। वह कहती थी-

रूप वर्णन के गीत

"खुमरी मुघकी गोंडिन

सलहो मुधकी पनकिन

मुलमुलही बैगिन।

घुंघराले बालों वाली गोंडिन,

सुन्दर देहवाली पनकिन,

और (बाहर निकले)

लम्बे दांतों वाली बैगिन-

खूबसूरत मानी जाती है।"[172]

3.4.3. आदिवासी लोक-नृत्य

सृजनात्मक सौंदर्य को कला कहते हैं। कला का इतिहास उस समय से प्रारम्भ होता है जब गुफा निवासी मानव अपने अवकाश के क्षणों में जानवरों को चित्रित करते थे या मूर्तियाँ बनाते थे। लोकनाट्य की परम्परा मानव ने प्रकृति की प्रेरणा से अनजाने में अपनी कलात्मक वृत्तियों के प्रकाशन के लिए किया होगा। भाषा के अभाव में मन के भावों को व्यक्त करने के लिए उसने अभिनय का सहारा लिया होगा और अभिनय से ही अंग परिचालन और भावाभिव्यक्ति की परिपाटी बन गई होगी। पक्षियों के कलरव और नदियों की कलकल के स्वरों ने उस संगीत सिखा दिया होगा। फूलों और इंद्रधनुष के रंगों को देखकर वह रूप सज्जा करता होगा। अभाव रहित सरल सात्विक जीवन ने उसमें कला की प्यास जगा दी होगी। प्रकृति के खुले मैदान में उसने अपनी रंगशाला बनाई होगी और वहीं लोकनृत्य का जन्म हुआ होगा।

इन नृत्यों के जन्म के संबंध में एक आदिवासी लोककथा का उल्लेख है। इसमें बताया गया कि- "इन्द्र राजा की पुत्री बिजली का श्यामलिया मेघ के साथ धूमधाम से विवाह हुआ, लेकिन विदा के समय बिजली ने हट किया कि वह अपने पति के साथ तभी जायेगी जब बाराती नाचते-गाते, बाजा बजाते हुए आगे-आगे चलेंगे। बिजली को सब लोगों ने अनेक प्रकार से समझाया लेकिन उसने अपने हट को न छोड़ा। इस समय तक आदिवासी किसी प्रकार के नृत्य को नहीं जानते थे। इंद्र राजा ने सब बारातियों को अपने जल महल के पास ठहरा दिया। रात होने पर मेघों ने गरजना शुरू किया और आँधी इतनी जोर से चली कि बहुत से पेड़ उखड़कर जमीन पर गिर पड़े। आँधी का वेग इतना तेज था कि बड़े-बड़े पहाड़ भी हिलने लगे। कुछ समय के बाद नागराज पर बैठे नारद जी आए। उन्होंने अपनी बाँसुरी बजाई और मेघों का गरजना, आँधी का सांय-साँय करना एवं बड़े-बड़े पहाड़ों का हिलना बंद हो गया। चारों ओर शांति फैल गई तथा सारे बाराती गहरी नींद में सो गये। बारात में एक व्यक्ति भी था जो जादूगर था और जादू से बीमारियों को क्षण-भर में भगा देता था। इधर सब बाराती गहरी नींद में थे और इधर वह व्यक्ति एक स्वप्न देख रहा था। पितर लोक से एक बूढ़ा आया तथा बड़वा को स्वप्न में कहने लागा- 'तुम तो जादूगर हो, तुम्हें मालूम होना चाहिए कि देवता नृत्य देखकर बहुत प्रसन्न होते हैं। मनोहर नाच से क्रुद्ध देवता भी अपना गुस्सा भूल जाते हैं। जंगल में रीछों को देखकर तुम

मदमाती चाल सीख सकते हो, कोयल की मधुर तान से तुम रसीला गान सीख सकते हो, मृगों से तुम चाहो तो नाचने की अनेक विधियाँ समझ सकते हो, शेरों की दहाड़ से आगे बढ़ना और पीछे हटना भी सरलता से सीखा जा सकता है। काले-काले मेघों के आकाश में छा जाने पर मोर नाचते हैं तब उन्हें ध्यान से देखना-समझना चाहिए, इस प्रकार तुम नाचना सीख सकते हो।' पितर लोक से आया हुआ बूढ़ा यह सब स्वप्न में उस व्यक्ति को समझा रहा था, लेकिन नींद में पड़े हुए सब बाराती बूढ़े की बातों को सुन और समझ रहे थे। नाच की कई विधियों को भी ये लोग समझ चुके थे। अचानक धरती हिली और वह व्यक्ति जागकर बैठ गया। पितर लोक से आया हुआ बूढ़ा भी सहसा गायब हो गया। बाराती भी जग चुके थे। चारों तरफ आकाश में नाच-गान हो रहा था। अनेक प्रकार के बाजे बज रहे थे। सुंदर कपड़े तथा गहनों से अलंकृत हजारों परियां तितलियों के समान फुदक रही थीं। इनके बीच एक सुंदर युवक था जो मांदल बजा रहा था। ढोल, ठिमकी, सारंगी, थाली, लोटा, कटोरा, मटका, शंख, खड़ताल, बाँसुरी, अलगोजा, डफला, डफली, घुँघरू, रमलूना, शहनाई, चिमटा, झालर, रूप, घंटा आदि कई वाद्यों के सुरीले स्वर सारी प्रकृति को मोहित कर रहे थे। इतने में मृग, रीछ, शेर, मोर, कोयल, हाथी हजारों पशु-पक्षी नाच-गाकर अपने आनंद को प्रकट कर रहे थे। रात के स्वप्न से और आकाश में नाचती हुई परियों को देखने से सब बाराती नृत्य-कला से परिचित हो गये और प्रसन्न होकर नाचने लगे। इतने में बिजली को भली-भाँति सजाया गया। उसे बोर, राखड़ी, झुमका, बिंदी, टोड़ी, नथ, टाँगली, साख, पाटली, चूड़ियाँ, कंगन, लोड़िया, कड़ा, विटया, घुँघरिया, हँड़िया, कंठिया, पावलियाँ, बिछिया आदि हजारों गहने पहनाये गये। इसके बाद नाचते-गाते सब बाराती विवाह के बाद बिजली बहू को ससुराल ले गये। दहेज में राजा इंद्र ने हजारों बकरियाँ, मुर्गियाँ, भैंस, गायें, कुत्ते, आदि दिए, जिन्हें बैलगाड़ियों में बाठाकर श्यामलिया मेझ का पिता अपने घर लाया। दो हजार मटके ताड़ी के भी दिए गए और साथ-ही-साथ मीठी-नमकीन खाने की वस्तुएँ भी दी गयीं।

इस प्रकार सब देवता प्रसन्न हुए और श्यामलिया के पूरे परिवार को सुख से रहने का वरदान दिया। जो देवियाँ अप्रसन्न थीं, वे भी इन आदिवासियों के सुहावने नृत्यों को देखकर बहुत खुश हुयीं।"[173] इस लोक कथा से स्पष्ट हो जाता है कि इन आदिवासियों के नृत्य-कला का प्रमुख लक्ष्य देवी-देवताओं को प्रसन्न करना है। इसका कारण है कि ये अरण्यवासी गहन जंगलों में रहते हैं। देवी-देवताओं के प्रकोप से डरते हैं और लोक-

विश्वासों के वशीभूत होने से सर्वत्र विविध भूत-प्रेतों, डायनों आदि की स्थिति मनाते रहते हैं।

शनैः-शनैः प्राकृतिक दृश्यों को देखकर आदिवासी नृत्यों में इन वनवासियों ने परिवर्तन-परिवर्धन किए और आज यह नृत्य-कला शास्त्रीय-नृत्यों की जननी बन गई। यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि आदिवासी नृत्य पूर्णरूपेण धार्मिक हैं, जिनमें सामाजिकता का पूर्ण समावेश है। प्राकृतिक वातावरण से प्रभावित यह नृत्य-कला धार्मिक समारोहों को तो अलंकृत करती है, साथ-ही-साथ समाज की मनोवृत्तियाँ सुसंस्कृत होती हैं। इस प्रकार लोककला यहाँ विविध रूपों में अभिव्यक्त की जाती है।

3.4.3.1.आदिवासियों के नृत्यों का सामान्य वर्गीकरण

सामान्यतया ये नृत्य तीन रूपों में विभाजित हैं -

1. युवक-नृत्य- युद्ध नृत्य, तलवार नृत्य आदि।

2. युवती-नृत्य या रीना-नृत्य आदि।

3. मिश्रित-नृत्य- युवक-युवतियाँ दोनों मिलकर नाचतें हैं।

आदिवासी लोक-नृत्यों की विशेषताएँ-

यह भी स्वयंसिद्ध है कि किसी भी जाति विशेष के लोक-नृत्यों में उस जाति की सामाजिक और धार्मक विशेषता के पूर्ण दर्शन हो सकते हैं। आदिवासियों के लोक-नृत्यों में भी उन विशेषताओं की पूर्ण झलक है। आदिवासियों के नृत्यों की ये विशेषताएं हैं -

1. इनके नृत्य में ओजपूर्ण, शक्तिशाली अंग-भंगिमा और लय-ताल की दृष्टि से सरलता दिखाई देता है।

2. इनके नृत्य में अनेक प्रकार के नृत्याकृतियाँ होती हैं। कतारबद्ध, गोलाकार, कतार तथा चौकोर, अर्द्ध-गोलाकार कतारों में सामूहिकता और अंग-भंगिमाओं के गठन में चपल और चुस्तता दिखती है।

3. अधिकतर मिश्रित-नृत्य, स्त्री-पुरुषों की भावात्मक प्रतिक्रियाएँ, नृत्य में संग नाचते हुए भी स्वस्थ और स्वाभाविक होता हैं।

4. नृत्यों के साथ चलने वाले गीतों और ध्वनियों में सरलता, एकरूपता पायी जाती है। कभी-कभी साजों का प्रयोग नहीं भी करते हैं, और यदि करतें हैं तो साजों के दिखावे अत्यधिक आकर्षक, परंतु वादन अत्यंत सरल और प्राथमिक होता हैं।

5. नृत्यों के साथ चलने वाले गीतों में शब्दों से अधिक ध्वनि का प्राधान्य होता है, तथा अधिकतर गूँज पैदा करने वाले स्वर होते हैं।

6. आकर्षक अलंकरण और प्रकृति के निकट होने से पोशाक की सुंदरता आकर्षणीय होती है।

ये गुण लगभग सभी आदिम जातियों के नृत्यों में कुछ कम-ज्यादा परिणाम में पाए जाते हैं। उन पर अन्य स्थानीय विशेषताएँ तो होती हैं फिर भी इन नृत्यों में पुरातन परिपाटी और परंपरा का बड़ा प्रभाव है। उनमें आधुनिक जोड-तोड़, बनाव, सजाव, श्रृंगार उनके गुणों को कम कर देता है। इनके नृत्यों में चेष्टाहीनता का प्राधान्य रहता है। यही कारण है कि समस्त भारतवर्ष के आदिम नृत्यों की अपनी अलग श्रेणी है। उन्हें अन्य लोक-नृत्यों की श्रेणी में डालना उतित नहीं है।

3.4.3.2. आदिवासी नृत्यों का नामकरण

इन नृत्यों का नामकरण कतिपय निम्नस्थ आधारों पर आधारित है -

1. देवी-देवताओं से संबंधित- करमा-नृत्य, गौरी-नृत्य, भैरव-नृत्य, इंदल-नृत्य, जागर-नृत्य आदि।
2. वाद्यों से संबंधित- डफ-नृत्य, बाँसुरी-नृत्य, थाली-नृत्य, चटकोटा-नृत्य आदि।
3. पशु-पक्षियों से संबंधित- शेर-नृत्य, भालू-नृत्य, मोर-नृत्य, सुआ-नृत्य, भैंसा-नृत्य आदि।
4. अस्त्र-शस्त्रों से संबंधित- तलवार-नृत्य, भाला-नृत्य, कुल्हाड़ी-नृत्य, तीर-नृत्य आदि।
5. जाति-उपजाति नामों पर अवलंबित- बैगा-नृत्य, कोरकू-नृत्य, संथाल-नृत्य, गोंड-नृत्य, भील-नृत्य उरांव-नृत्य आदि।
6. पर्व-त्योहार से संबद्ध- दिवाली-नृत्य, होली-नृत्य, नवाई-नृत्य, जवारा-नृत्य, दशहरा-नृत्य, बीजारोपणी-नृत्य आदि।
7. संस्कारों से संबंधित- पुत्र-जन्म-नृत्य, विवाह-नृत्य, तेरहीं-नृत्य आदि।
8. नृत्यों के नामकरण में शैलियों का विशेष महत्व माना गया है। फलतः अनेक नृत्यों के नाम शैलीगत माने गये हैं। यथा घेरा-नृत्य, देहरी-नृत्य, घूम-नृत्य, चकरी-नृत्य, मंडल-नृत्य आदि।

इन नृत्यों में नर्तक कभी घेरा बनाकर नाचते हैं, कभी चकरी की भाँति उनकी पद-गति में क्षिप्रता आती है, कभी वे मंडलाकार में घूमते रहते हैं तो कभी द्हरी की भाँति उनकी पंक्ति परिवर्तित हो जाती है।

नाचते-नाचते जब नर्तक अपने दाहिने पैर को झुकाव देते हैं और लंगड़ाते-से प्रतीत होने लगते हैं तब

उनका यह नृत्य लंगड़ा कर्मा कहा जाता है। इसी प्रकार राई-नृत्य, बीजरोपनी-नृत्य, झूला-नृत्य, ठुमकिया-नृत्य, आदि में नृत्यगान शैलियां विशेषतः उल्लेख्य हैं।

9. व्यवसायों से संबद्ध नामकरण, यथा शिकार-नृत्य, काष्ठ-नृत्य, पनघट-नृत्य आदि।

10. उपकरण-विशेष से संबंधित, यथा गेंडी-नृत्य- इस नृत्य में नर्तक गेंडी (एक लंबी मजबूत लकड़ी) की खूंटी पर ही पैर रखकर नाचा करते हैं। इसमें शरीर का संतुलन दृष्टव्य है।

11. युद्धों से संबद्ध नृत्यों का नामकरण आदिवासी नृत्य-कला में अधिक उभरा है। यथा दुर्गा-नृत्य, अटारी-नृत्य आदि।

12. यह प्रायः देखा गया है कि इन नृत्यों में विविध गीतों का गायन अनिवार्य-सा है। परिणामस्वरूप कई नृत्यों का नाम गीतों की टेकों पर भी आधारित माने गये हैं। जैसे रीना-नृत्य- इसमें आदिवासी महिलाएं नाचती हुई रीना-रीना, रीहा ना, टेक को बारंबार दोहराती हैं। इसी प्रकार आदिवासी बालक, चरे-चेरता-चेरता की आवृत्ति करते हुए छोटी-छोटी लकड़ियों को धरती पर पटकते हैं तथा पौष के अंतिम दिवस पर अनाज मांगते हैं, उछल-कूद के साथ नाचते हैं। अतः यह नृत्य चेरता-नृत्य के नाम से प्रसिद्ध हो गया है।

3.4.3.3. नृत्यों के विविध अवसर एवं वेषभूषा

धार्मिक एवं सामाजिक उत्सवों में किये गए किए गए नृत्यों में नर्तक एवं नर्तकियां सुंदर तथा आकर्षक वेशभूषा से शरीर को अधिक सुहावना बनाते हैं और प्रकृति प्रदत्त फूलों, किसलयों आदि से तन-मन को सजाकर दर्शकों की प्यासी आँखों की प्यास बुझाते हैं। समाज में प्रचलित विशिष्ट अलंकारों (मुकुट, मूँगों की माला, वनभैंसा के सींग, विविध गहने, मृग-चर्म, हरिण के सींग, पशु-पक्षियों के नकली चहरे आदि-आदि) का इन्हीं अवसरों पर अधिक उपयोग किया जाता है। देवी-देवताओं की आराधना में उल्लसित मन से संलग्न ये आदिवासी अपने जीवन के अभावों को भूलकर जब इन नृत्यों को अपनाते हैं, तब इनका मुरझाया हुआ मानस-सुमन स्वयं खिल उठता है। आदिवासियों के कुछ विशेष प्रचलित नृत्य - विशेष प्रचलित आदिवासी नृत्यों की तो एक बड़ी संख्या है, लेकिन निम्नस्थ नृत्य लोकप्रिय हैं-

1. कर्मा नृत्य   2. शैला-नृत्य   3. दुर्ग नृत्य

4. गेंडी नृत्य	5. युद्ध नृत्य	6. तलवार नृत्य
7. शिकार नृत्य	8. लाठी नृत्य	9. घेरा नृत्य
10. जवारा नृत्य	11. गैर नृत्य	12. छिरवा नृत्य
13. ढोल नृत्य	14. पाली नृत्य	15. दीवाली नृत्य
16. दशहरा नृत्य	17. गौरी नृत्य	18. गोंचा नृत्य
19. मोहिली नृत्य	20. नेवताली नृत्य	21. जड़पथ नृत्य
22. देहरी नृत्य	23. कानरा नृत्य	24. सुआ नृत्य
25. छाक नृत्य	26. ऊँदीपाली नृत्य	27. चटकोटा नृत्य
28. राई नृत्य	29. होली नृत्य	30. रीना नृत्य
31. मटकी नृत्य	31. इंदल नृत्य	32. अटारी नृत्य
33. चेरता नृत्य	34. चेरता नृत्य	35. भगोरिया नृत्य
36. देव मिलन नृत्य	37. सर्प नृत्य	38. भैंसा नृत्य
39. शेर नृत्य	40. लक्ष्मी जागार नृत्य	41. काकसाड़ नृत्य आदि।

इस प्रकार आदिवासियों की नृत्य-कला शाश्वत है, जीवनोपयोगी है तथा इसमें सामाजिकता का तत्व इतना व्यापक बन गया है कि अध्यात्मवाद की रेशमी डोर स्वतः इसका कोमल बंधन बन गयी है।

जिस प्रकार वन की सौंधी-माटी नगर की चिकनी सड़कों को प्राणवती बनाती है, उसी प्रकार यह सहज नृत्य-कला शास्त्रीय नृत्यों की आंतरिक भावानुभूति को निरंतर उद्वेलित करती रहती है। यही आदिवासी नृत्य, नृत्य-कला का वैशिष्ट्य हैं।"[174]

आदिवासी लोक नृत्य के से जुड़े कुछ पक्षों के प्रस्तुतिकरण के बाद हम आदिवासी उपन्यासों में चित्रित लोक नृत्य के संदर्भों का विवरण प्रस्तुत करने जा रहे हैं। यूं तो अनेक उपन्यासों में लोकनृत्य का चित्रण हुआ है। गीतों के बिना नृत्य अधूरा है। उपन्यासों में जहाँ-जहाँ नृत्य का उल्लेख हुआ है वहाँ गीत भी हैं। इसी अध्याय में 'आदिवासी लोकगीत' के अन्तर्गत नृत्य का भी उल्लेख किया गया है। मुख्यरूप से नृत्यों का चित्रण

'जंगल के फूल', 'जंगल के गीत', 'जंगल के आसपास', 'सूरज किरण की छाँव', 'शैलूष', 'पठार पर कोहरा', 'कचनार' आदि उपन्यासों में किया गया है। 'जंगल के आसपास' उपन्यास के अनेक संदर्भों में करियाल नृत्य का उल्लेख हुआ है। लोकनृत्य समाज में चेतना लाने का साधन होते हैं। उपन्यास का प्रमुख पात्र दिनेश आदिवासियों में जागृति लाने के लिए करियाला नृत्य के माध्यम से प्रयास करता है। वह सोचता है कि- करियाला जैसे लोक नृत्य का नये ढ़ंग से विकास करना है। करियाला इस इलाके की जनता को जगाने का अच्छा साधन साबित हो सकता है। लोकनृत्य के साथ-साथ लोककथाएँ तो उसमें होती ही है, बस उन कथाओं को आज की ज़न्दगी की अर्थों की तरफ मोड़ने की जरूरत है।"[175] दिनेश लेखक तो है ही, नृत्य में प्रदर्शन करने के लिए नाटिका लिखने में कोई दिक्कत नहीं हुई। आदिवासी बच्चों से उसका रिहर्सल करवाना शुरू कर दिया। "आखिर वह दिन आ ही गया, रहर्सल कर रहे लड़कों को अपने करतब दिखाने का मौका मिल रहा है। नृत्य के साथ खेली जाने वाली संक्षिप्त नाटिका के लिए दिनेश ने पात्रों की वेशभूषा के अनुसार सारी चीजें ला चुका था। आसपास के गाँवों को भी कुछ दिन पहले ही संदेश भेजा गया था। उस लिए वहाँ के कुछ उत्साही युवक सज-धजकर छोटी-छोटी टोलियों में वहाँ पहुँचने लगे थे और अपने-अपने रिस्तेदारों या परिचितों के घरों में जम गये थे, क्योंकि- उन्हें करियाला में युवतियों के साथ नृत्य करने का अवसर मिलने वाला था। करियाला में आदिवासी युवक और युवतियों को आपस में मिलकर खुले तौर पर नृत्य करने की अपने-अपने परिवारों से इजाज़त मिल गई थी।"[176] दिन ढलते ही करियाला नृत्य आरम्भ करने की प्रक्रिया शुरू हुई। उपन्यास में लेखक नृत्य का चित्रण इस प्रकार करते हैं- "सूरज डूबते ही देवता की पूजा करने के बाद अलाव को आग दे दी गई। आग देते ही करियाला पार्टी का ढोलची अलाव के पास खड़ा होकर ढोल पीटने लगा। ढोल की आवाज़ सुनते ही लोग अपने-अपने घरों से निकल कर अलाव के चारों ओर गोल घेरे में जमा होने लगे। आखिर ढोल बजना बन्द हो गया। मशालें जला दी गईं। दूर के अंधेरे में बैल के मुखौटे लगाए दो मानव-शरीर पैरों के घुंघरू छनकाते आते दिखाई दिये। भीड़ ने तालियाँ बजाकर और बच्चों ने हो-हुल्लड़ मचाकर उन शरीरों का स्वागत किया। करैलियों के मैदान में आते ही ढोल फिर बजना शुरू हो गया और ढोल के साथ ही एक तरफ बैठे साजिन्दों ने अपने परम्परागत साज भी बजाने शुरू कर दिये। दो छोटी-छोटी डफलियाँ, एक शहनाई की तरह

का बाजा, एक मीटे बाँस की बाँसुरी और बीच-बीच में गुहार उठने वाली बड़े से सींग को लेकर बनाई गई तीखी आवाज़ वाली श्रंगी।

लाल चोगों से सजे बैल क् मुखौटों वाले दोनों करैलियों ने चक्कर काट-काटकर और बाहें उछाल-उछालकर नाचना शुरू कर दिया, मानो किसी अदृश्य शत्रु से, हवा में हथियार घुमा-घुमाकर युद्ध कर रहे हों। जब करैलिए काफी नाच चुके तो उन्होंने एक तरफ खड़े होकर हाथ के इशारों से युवक और युवतियों को समूह-नृत्य के लिए आमंत्रित किया। आमंत्रित होते ही सब के सब हो-हुल्लड़ करते हुए मैदान में उतर आये। युवतियों ने एक-दूसरी की बगल में बांहे डालकर एक पंक्ति खड़ी कर ली और उधर युवकों ने भी इसी तरह दूसरी पंक्ति बना ली। अब साज एक दूसरी ही तिरकन-भरी तर्ज़ पर बजने लगे। युवतियों के समवेत स्वर में एक हूक-भरी, फिर स्वर साजों की ताल पर झरने की आवाड़ की तरह निरंतर बहने लगा। साथ ही बहने लगे कड़ों के आपस में टकराने से हल्की-आवाज़ करते हुई युवतियों के नंगे पैर। युवकों के पैर खाली थे। वे भी जैसे धूल को उछाल-उछालकर कड़ों के आमंत्रण का आवाज देने लगे।

युवतियों की एक पंक्ति समुद्र की एक लहर की तरह से एक तरफ से दूसरी तरफ जाती और दूसरी तरफ से आने वाली युवकों की लहर को काटकर आगे निकल जाती। लोग मुग्ध होकर पंक्ति लहरों के इस कटाव को देख रहे थे और साजिन्दे मस्त होकर साज बजा रहे थे। साजों के साथ गूंजने वाली गीत की कोई एक शब्द-पंक्ति, कुछ इस तरह की ध्वनि के साथ गूँज रही थी- हाहा हाहा हो...हो...! हाहा हाहा हो...हो...!!"[177] नुत्य के खतम होने के बाद दिनेश द्वारा रिहर्सल कराई गई नाटिका का भी प्रदर्शन किया गया। इसी प्रकार "जंगल के फूल उपन्यास में भी नृत्य का वर्ण हुआ है। गाँव में अंग्रेज अफसर आने से नृत्य प्रदर्शन का कार्यक्रम आयोजित किया जाता है। इस संदर्भ में नर्तकों के वेशभूषा का उल्लेख इस प्रकार है- पुरुष सिर पर मोर-पंखा और जंगली भैंसे के सींग बाँधे थे। स्त्रियाँ अपनी पारम्परिक नृत्य पोशाक में सजी हुईं थी।"[178] वे नाचने के लिए तैयार थे। टेंडुर, निसान और किकिर बज उठे और जैसे ही बाँसुरी के सुरों ने हवा में लहराते झोंकों को पकड़ा, वह औरतों और मरदों की टोली झूम उठी। सुलकासाय ने बीच में कूदकर तान छेड़ी। महुआ ने सबसे पहले उसका जबाब दिया, और इन धुन के साथ ही धीरे-धीरे नीचे सरका। महुआ ने गीत पर जो पैंतरे

दिखाए, उसकी लचीली कमर ने नागिन की तरह जितने रंग बदले। गीत की हर लय और तान के साथ उसने जो अंगड़ाई ली। पहाड़ी नाले की तरह उचटती और हवा की तरह लहराती महुआ उस झुंड में अकेली दीख रही थी। इस प्रकार आधी रात तक नाच-गाना होता रहा।"[179]

3.4.4. शगुन-अपशगुन

आदिवासी समाज में शगुन अपशगुन का विधिवत विचार किया जाता है। प्रत्येक कार्य करने से पहले शगुन देखा जाता है। इसी प्रकार का शगुन उपन्यास 'वन के मन' में चित्रित है- "सोमपा जंबीरा से पूछा- जंबीरा तुम्हारे पड़ोस के सिदिउ हो का ब्याह ठीक हो गया था, गोनों (हो समाज में ब्याह के लिए वर-पक्ष की ओर से कन्या पक्ष को दहेज देना पड़ता है। इसे पन भी कहा जाता है।) तय था, और लड़की वाले गये भी थे गोनोंहर (वह समारोह जिसमें कन्या पक्ष के लोग लड़के के घर गोनों लाने के लिए जाते हैं।) में, तब ब्याह कट क्यों गया ?

जंबीरा- ब्याह तो कटना ही था, काका, बात यह हुई कि एरेउञ (शकुन का विधिवत् विचार) खराब हो गया।

सोमपा- क्या कराबी आई

जंबीरा- लड़की के घर से सात चट्टु (घड़ा) डियांग (चावल की बनी हल्के नशे वाली मदिरा। इसे हंड़िया भी कहते हैं। यह हो समाज का प्रधान पेय है।) आई थी। सब कुछ ठीक था। किन्तु जब वे लोग अपनी यात्रा का वर्णन करने लगे तब हिसाब लगाने पर अपसगुन निकल गया। तोड़ा कुछ रहता तो पूजा-पाठ से कट भी जाता, लेकिन था बहुत खराब।

सोमपा ने उत्सुकता से पूछा- क्या था ?

दल के स्त्री पुरुष सभी का ध्यान इस ओर खिंच गया।

जंबीरा- गाँव के आध मील ही लड़की के दलवाले चले थे कि कुत्ता सामने ही पैरों से जमीन खरोंचता हुआ मिला। इसका अर्थ यह है कि कोई-न-कोई मरेगा और खोदकर गाड़ा जायेगा। खासकर जन्म होते ही बच्चा के मर जाने का भय है।

सोपमा- बस इतना ही

जंबीरा- ना, इतने पर तो ब्याह न कटता, लेकिन फिर आगे चल कर उन लोगों ने देखा कि दाई ओर गीदड़ आपस में लड़ रहे हैं।

सोमपा- तब तो इसका भी अर्थ यही हुआ कि दोनों में कोई तरफ कोई न कोई मर जायेगा। ऐसी हालत में ब्याह कोई कैसे करता कई क्षण सन्नाटा रहा, फिर कोंकवा ने हँसकर पूछा- जंबीरा भाई, दुंबासाई की करमी कुई का हाल तो सुना ही होगा

जंबीरा- ना क्या हुआ ?

कोंकवा ने हँसते- हँसते कहा- वह ब्याह होने के कुछ दिन के भीतर ही दूसरे गाँव के एक लड़के के साथ पति छोड़कर भाग गई। इतना पूरा गोनों दिया गया था, सब रीति-रस्म भी अच्छा से ही हुआ। लड़की कितनी सीधी थी उसकी हरकत सुनकर सभी दंग रह गये।

डुका तो उसी गाँव का था। उसने गंभीर भाव से कहा- दंग होने की बात तो नहीं है, कोंकवा भाई। जब आँख मूंदकर पुरकों का कहा अमान कर कोई काम करे तो इसमें बेचारी लड़की को ही दोष देना गलत है।

कोंकवा- अच्छा-सा पति छोड़कर भाग जाय, सो भी ब्याह के होते न होते, और तुम कहो कि उसका दोष नहीं है और हम कहें कि यह कलंक नहीं है ?

डुका- मैं तो उस दल में खुद था जब लोग लड़के के घर गोनों लाने जा रहे थे। एक गाँव से पार होते समय सभी ने देखा कि सामने से ही चील एक मुरगी चेंगा को उठा ले गई। इसका तो साफ अर्थ भगवान से ही दिया हुआ है कि लड़की को कोई उठा ले जायेगा। मैंने ऐरेउञ् के समय खास आपत्ति नहीं की, मैं उनका अपना कुटुंब का तो था नहीं। देखा उन लोगों ने इस पर पूरा ध्यान नहीं दिया। लेकिन मैंने दोस्तों से कह रखा था कि क्या होने वाला है और हुआ भी ठीक वही। इस पर उस बागी हुई लड़की के प्रति मजदूर दल में सभी की सहानुभूति हो गई। दोष था सगुन न मानने का।"[180]

इसी उपन्यास में लुकना के विवाह के संदर्भ में भी शगुन देखने का प्रसंग चित्रित है- "रास्ते में एक गाँव मिला। उसे पार होते समय देखा कि बाईं ओर एक कुत्ता अगले और पिछले पंजे से जमीन खोद रहा है, कि इतने में दूसरा कुत्ता आया और उससे लड़ने लगा तब पहले कुत्ते ने जमीन खोदना बंध किया। तीनों व्यक्तियों ने इस एरे (शकुन) को गौर से देखा और नोट किया। फिर आगे चलकर जंगल में घुसने के पहले एक नाला मिला। वहाँ देखा कि एक सांप बेग की ताक में चुपचाप बैठा हुआ है और अचानक उस पर

लपका। भेंग भी होशियार था, उछलकर पानी में जा गिरा। वह भी नोट किया गया।"[181]

इसी प्रकार 'जंगल के फूल' उपन्यास में अनेक संदर्भों में शगुन के प्रसंग सामने आते हैं। उनमें एक प्रसंग, गायता द्वारा गाँव में आये अंग्रेजी अफसर को अपने ही घर में घटित घटना को बताने के संदर्भ में शगुन का उल्लेख हुआ है। जो इस प्राक है- "मेरे ही लोन (घर) का किस्सा है सिरकार। कोबोसाल (दो साल पहले) मिहरिया ने एक पेड़गी (लड़की) को जन्म दिया। यह खबर बताने जब पेकी (जवान लड़की) बाहर आई, तो छानी पर उसने एक अरुआ (उल्लू) बैठा देखा। पेड़गी का जनम और अरुआ का सिर पर सवारी ! कित्ता बड़ा अशुभ था यह ! उसने अरुआ को मारने के लिए एक पथरा फेंका। उस पथरे को उठाकर अरुआ भाग गया और उसके बाद पेड़गी माटी-जैसी रोज घुलने लगी...! अफसर को इन बोतों पर विश्वास नहीं होता और गायता को फटकारता है। गायता के मन को धक्का लगा। हाथ जोड़कर बोला- सही कह रहा हूँ सिरकार ! मेरी बात का भरोसा रखें उस अरुआ ने वह पथरा पानी में भिगोकर किसी ऊँचे टिगस्ते (टेकरी) पर रख दिया होगा। जैसे-जैसे पथरे का पानी सूखता गया, पेड़गी भी घुलती गई। गुनिया ने बड़ी कोशिश की, पर उस चुडैल ने मेरी पेड़गी को न छोड़ा।"[182]

3.4.5. गुदना

आदिवासी क्षेत्रों में गुदना की परम्परा का प्रचलन इसकी प्राचीनता को व्यक्त करने वाला है। बस्तर की मुरया आदिवासी जाति में गुदना को लड़की की जवानी का आरम्भ माना जाता है। इस समाज में यह धारणा है कि- "विवाह के पूर्व देह पर गुदना जरूर अंकित हो जाना चाहिए। नारी देह पर गुदना स्वर्ग पहुँचाने के पहचान चिह्न हैं। यदि ये चिह्न नहीं रहते तो महापुरुष देवता उसे मृत्यु के बाद दंड़ित करते हैं। गुदना गोदने का कार्य केवल स्त्रियां ही करती हैं, इस तथ्य से उस धारणा को बल मिलता है कि चित्र रचना में केवल स्त्रियों को ही महारत हासिल थी। बस्तर के आदिवासी क्षेत्रों में ओझा की पत्नी ही गुदना गोदती है।"[183] इस संबंध में एक मिथक कथा मुरिया समाज में प्रचलित है।

"सृष्टि की रचना के आरम्भ में कोई जाति नहीं थी। महापुरुष ने सृष्टि में समाज विभाजन का निश्चय किया और विभिन्न व्यक्तियों को पुरस्कार बाँटे। जिस आदमी को महापुरुष ने जाल दिया वह मछुआरा बना, जिसे हल दिया गया वह किसान के रूप में गौंड बना, जिसे कलम दी गई वह ब्राह्मण हुआ।

अंत में महापुरुष ने देखा कि मादल को छोड़कर उसने सबको सभी वस्तुएं दे दी हैं। मादल को देने हेतु उसने पात्र चयन के लिए सामने देखा तो कुछ मनुष्यों की कतार के आगे एक मनुष्य अगुआ बना जा रहा था। महापुरुष ने उसे अपने पास बुलाया और उसे अपना मादल दे दिया। उसका नामकरण ओझा किया गया।

ओझा मादल बजाता और गाँव-गाँव घूमता था। एक दिन शाम को वह घर लौटा तो उसकी पत्नी ने भोजन नहीं बनाया था। वह पत्नी पर क्रोधित हुआ, और उसे प्रताड़ित करने लगा। वह बेचारी क्या करती ? उसने खाना-पीना बंद कर उपवास करना शुरू कर दिया।

आठवें दिन बूढ़ी माता ने ओझा की पत्नी को अपने पास बुलाया। बूढ़ी माता ने उससे कहा कि वह उसके व्रत से प्रसन्न हैं और उसे एक विशेष कार्य देती हैं। वे उसे जंगल में ले गईं। वहाँ उन्होंने सरई वृक्ष से

गोंद निकाला। उसे मिट्टी की डिबिया में रखा। इस डिबिया को गोबर के कंडों के बीच रखकर कंडों में आग लगा दी। कुछ देर बाद आग से डिबिया को हटाया गया। उसमें एक काला पदार्थ एकत्रित हो गया था। इस पदार्थ को बूढ़ी माता ने नारियल की खोपड़ी में रखा। इस पदार्थ में थोड़ा पानी मिलाया। घोल बन जाने पर बूढ़ी माता ने बाँस की सुई से ओझा की पत्नी के चिबुक पर एक गुदना गोंद दिया। ओझा की पत्नी भली चंगी हो गई। गोदना गोदने की तरकीब इस तरह बूढ़ी माता ने ओझा की पत्नी को सिखाई। यह परम्परा बूढ़ी माता से आरम्भ हुई।

विभिन्न आदिवासी जातियों में गुंदना से संबंधित इसी तरह की मिथ-कथाएं प्रचलित हैं। गोंड जाति में जो कथा गुदना के मिथ से संबंधित है, उसके अनुसार महादेव ने सभी देवताओं को सपत्नीक भोजन पर आमंत्रित किया। गोंड देवता भी इस आमंत्रण में गये। देव पत्नियाँ पार्वती को घेरे बैठी थीं। गोंड देवता ने भूल वश अपनी पत्नी समझकर पार्वती के कंधों पर अपना हाथ रख दिया। पार्वती इस कृत्य से क्रोधित हो गई, किन्तु महादेव हँसते रहे। तब पार्वती ने अन्य देवताओं की स्त्रियों के शरीर पर गुदना गोदवा दिए ताकि उनका अभिज्ञान अलग रूप में किया जा सके। इसके बाद सभी जनजातियों में गुदना का प्रचलन हो गया।"[184]

इन मिथ-कथाओं में गुदना के अलग-अलग अभिप्राय उजागर होते हैं। मुड़िया जाति में देवी के वरदान के रूप में गुदना स्त्री जाति को प्राप्त हुए हैं, जो बाद में सौभाग्य के सूचक और पुण्यप्रद माने गये हैं। गोंडी मिथक कथा में वर्ग और समाज विभाजन के प्रतीक चिह्न के रूप में गुदनों का इस्तेमाल हुआ।

गुदना ऐसे रहस्य प्रतीक के रूप में भी है, जो संबंधित व्यक्ति को अशुभ आत्माओं से सुरक्षित रखते हैं। गुदना एक चिकत्सकीय व्यवस्था भी है। शरीर के विभिन्न नाड़ी केन्द्रों पर गुदना गुदाने से अनेक बीमारियों का निरसन हो जाता है। यह एक तरह की नाड़ी संवेदन चिकित्सा पद्धति है।

गुदने के सामाजिक, धार्मिक और वैज्ञानिक महत्त्व को संभवतः उस समय के लोग न जानते हों और उन्होंने केवल इन्हें शरीर के सौंदर्य प्रसादन के रूप में ही इस्तेमाल किया हो, तथा इनका संबंध केवल चित्र रचना से ही रहा हो, किन्तु इसके अन्य सह-सुपरिणामों का पता बाद में चलता गया होगा। विभिन्न बीमारियों में डमा लगाने का या अग्निदग्धित करने का प्रचलन आज भी ग्रामीण समाज में है। विशेष रूप से पशु चिकित्सा के अन्तर्गत इसका अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। धार्मिक दृष्टियों से तीर्थयात्रियों के शरीर पर अग्निदग्ध के रूप में छापे लगाये जाते हैं।

गुदना इन सभी अभिप्रायों को समेटे हुए मुख्यतः सांस्कृतिक अभिप्रयों के रूप में गुदना ने लोक चित्रकला के बदलते अनुषंगों को अपनी विकास यात्रा में समेटा है। यद्यपि शरीर पर की जाने वाली इस चित्र कला के प्राक् नमूनों का विसर्जन देहों के विसर्जन के साथ ही होता रहा है, किन्तु पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित होने वाली इस चित्र रचना परम्परा के भीतर इन चित्रों का विकास क्रम भी परिलक्षित होता है।

जीवित चर्म पर इस तरह चित्रांकन निश्चित ही कष्टप्रद है। इस कष्ट को स्त्रियां लोक विश्वास की दृढ़ता के कारण ही सहती रही हैं किन्तु अपने प्रारंभिक तरण में गुदना देह सज्जा का प्रतीक रहा है। देह सज्जा के लिए गुदना गोदवाने में कम-से-कम कष्ट उठाना पड़े, इसलिए गुदना चित्र रचना की जो प्रारंभिक तकनीक थी वह बिंदु प्रधान थी। चूंकि सुई को चर्म में चुभोकर ही आकृति उभारी जाती है।

अनेक आदिवासी क्षेत्रों में केवल एक बिंदु से ही चित्र रचना के उदाहरण प्राप्त होते हैं। कहीं-कहीं त्रिकोणाकृति में बिंदु राशियों को लगातार एक रैखिक अंदाज में प्रस्तुत किया जाता है- "इसे घिनौची कहा जाता है। घिनौची घड़ों को रखने का स्टैंड है। ये बिंदु एक के ऊपर एक रखे घड़ों का बिंब देते हैं। आँख और कान के बीच वाले उपांग पर बिंदु गोदने का रिवाज है। ये बिंदु दाएँ-बाएँ सूरज चांद की तरह होते हैं। ठुड्डी पर गोदा गया बिंदु मुक के सौंदर्य में अभिवृद्धि करता है। भुजाओं के ऊपर, कंधों के निम्न भागों में बीचों-बीच और वक्षों पर भी बिंदु गुदवाने का रिवाज आदिवासियों में प्राप्त होता है।"[185]

एल्विन वैरियर ने मुड़िया युवक एवं युवती के प्रेमपूर्ण संवाद का उल्लेख करते हुए लिखा है कि- "घोटुल के अंतरंग क्षणों में चेलिक की प्रेमिका उसके कानों में फुसफुसाती है कि उसके ये प्रेमपूर्ण शब्द मेरे साथ सदैव उसी तरह रहेंगे, जैसे की मेरे स्थनों पर गोदा गया यह बिंदु। वक्ष पर गोदी बिंदु राशी प्रिय के प्रेम की शाश्वत अनुभूति है। बिंदुओं के रूप में कभी-कभी दो बिंदुओं का उल्लेख चेलिक और मोटियारी के पारस्परिक प्रेम के रूप में दोनों की उपस्थिति का प्रदर्शन करते हैं। प्रिय को सदैव अपने पास अनुभव करने का यह अभिप्राय आज भी प्रिय के नाम को कलाई पर या अन्य स्थान पर गोदवाने के रूप में सुरक्षित है।"[186]

मछली, मुर्गा, बिच्छू, सर्प आदि प्राणियों के गुदने भी विभिन्न आदिवासी जातियों में प्रचलित हैं। इन प्रणियों की आकृतियाँ अधिक सज्जित नहीं हैं। रेखाओं के माध्यम से ही इनके स्वरूप का आभास होता है। इन

गुदनों में गार्हस्थिक आसक्ति, प्रणय संदर्भ तथा यौन-संवेदनीय अभिप्रायों का संकेत छिपा हुआ है। मछली-मुर्गा उर्वता के प्रतीक हैं। मत्स्य-युग्म और सर्प युग्मप्रजनन गर्भी प्रतीक हैं। इन प्रणियों की उपस्थिति घर में अन्न-जल की भरपूरता के भी संकेत हैं।

इनके साथ-साथ अग्नि, चांद, तारे, सूरज आदि प्रकृतिक प्रतीक पवित्रता के साथ-साथ फल आपूर्तिकर्ता से प्रवर्द्धित हैं। मनुष्य की आदिम अवस्था से ही ये प्रतीक देवता के रूप में प्रतिष्ठित रहे हैं। इस लिए इन देवताओं को सदैव अपने साथ अनुभव करना धार्मिक विश्वास की उपस्थिति है। मनुष्य अपने प्रिय, अपनी प्रिय वस्तुओं और अपने आराध्यों को सदैव अपने पास अनुभव करना चाहता है।

लोककथाओं के विशिष्ट अध्येता डॉ. श्याम परमार ने स्पष्ट किया है कि- "शिक्षा और संस्कार के बाद भी गुदना ने मनुष्य की ललक और विश्वास को बांधा है। शरीर पर प्रिय और उपास्य वस्तुओं को अंकित करने के मोह से मनुष्य वृत्ति कभी भी मुक्त नहीं हो सकी है। बीसवीं शताब्दी के नृतत्त्ववादियों का दृढ़ विश्वास है कि आदिम मानव वस्तुओं का प्रतीकांकन इसी आशय से करता रहा है कि अंकित वस्तुओं की वृद्धि हो। चित्रगत वस्तुएँ जीवन के क्षेत्र में उपादेय वस्तुओं का प्रतिनिधित्त्व करती हैं। किन्हीं अंशों में आदिम जातियों में प्रचलित गुदना प्रथा का कारण यह भी है कि दैनिक उपयोग की वस्तु ओर आदिवासी कल्पना के उपकरण शरीर से अलग न रहें। अधिकांश गुदना चिह्न उन्हीं वस्तुओं को रूपायित करते हैं, जिनका जीवन में बहुत महत्त्व होता है।"[187]

ग्रामीण अंचलों में गुदनों का स्वरूप यद्यपि आदिम स्वरूपों को किंचित मात्रा में बचाये हुए हैं, किन्तु इन क्षेत्रों के अधिकांश गुदनों की विषय वस्तु मध्यकालीन धार्मिक प्रतीक चिह्नोंवाली ही है। मध्यकाल में भक्ति की जो अजस्र धारा प्रवाहित हुई थी, उसने न केवल काव्य, संगीत आदि कलाओं को प्रभावित किया, बल्कि तत्कालीन चित्र रचना को भी उसने अपने अनुरूप ढाल लिया। गुदनों के चित्रांकन पर भी भक्तिकालीन चेतना का स्पष्ट प्रभाव मिलता है।

गुदना के अन्तर्गत प्रतीक चिह्नों का प्रयोग गोत्र, जाति आदि के अलगाव को भी दर्शाने वाला है। बैगा, गोंड, परधान, पंडो, कोरकू, भारिया, भील, सहरिया समुदाय में गुदनों को गोदने का प्रचलन आम है। सरगुजा

में पंडों, कौरवा आदि में गोदना कला के प्रति अत्यधिक आकर्षण है। आदिवासी स्त्रियाँ प्रायः संपूर्ण शरीर पर गुदना अंकित कराती हैं। "बैगा स्त्रियां रामानंदी तिलक जैसी आकृति- जो कि अंग्रेजी के 'वी' अक्षर से मिलती-जुलती है- अपने माथे पर अंकित कराती हैं। इसके नीचे दो बिंदियां होती हैं। यह चूल्हा जैसी आकृति भी है। यह आकृति भावी वैवाहिक जीवन की ओर इंगित करती है। इसका अभिप्राय यह है कि विवाह के बाद चूल्हा-चौका ही लड़की का मुख्य स्थान रह जाएगा।"[188]

अर्द्धचंद्र आकृति के बीच में बिंदुवाले प्रतीक को गोंड स्त्रियां अपने माथे पर अंकित कराती हैं। यह प्रतीक चौदहवीं के चांद का दृश्य उपस्थित करके मुख-सौंदर्य में अभिवृद्धि करता है। गोंड जाती की प्रधानता का भी यह चिह्न अवबोधन कराता है।

कोरकू स्त्रियाँ अपने मस्तक पर दोहरे चूल्हे की आकृति और भील स्त्रियाँ अपने कान और आँख के बीच आड़ी रेखा चिरल्या गोदवाती हैं। ये सब चित्रांकन विवाह पूर्व ही कराये जाते हैं। विवाह के बाद इनका अंकन वर्जित है।

अधिकांश आदिवासी क्षेत्रों में गुदना अलंकृति की मनमोहक आकृतियों को संजोने वाले हैं। इनमें कहीं आभूषणों की आकृतियां उभरती हैं, तो कहीं सुंदर सज्जित पाड़ के रूप में इनका प्रयोग किया जाता है। कल्पना की अद्भुत संरचनाओं के रूप में गुदना चित्रकला के लंबे इतिहास का रूपायन कराते हैं।

मुख्यरूप से आदिवासी संस्कृति में स्त्रियों के देह पर गुदने दिखते हैं। हिन्दी में आदिवासी जीवन पर लिखे गये उपन्यासों में गुदना के संदर्भ में बहुत कम ही उल्लेख मिलता है। 'पठार पर कोहरा' उपन्यास में लेखक ने गुदने के संदर्भ में लिखा है- "संजीव ने स्त्रियों के ललाट, भौंहों के मध्य, ठुड्डी, कपोलों, गरदन, छाती, बाँहों, हाथों यहाँ तक कि पैरों की उँगलियों तक पर गोदने गुदे देखे।"[189] इसी प्रकार 'जंगल के फूल' उपन्यास में गुदना संदर्भ आता है। इस संदर्भ का उल्लेख हम ने लोक गीतों के प्रसंग में गुदना गुदाते समय गाये जाने वाले गीत सहित उल्लेख किया है। और भी उपन्यासों में लेखकों ने आदिवासी स्त्रयों के वर्णन के प्रसंगों में गुदना का उल्लेख किया है।

3.4.6. घोटुल

यहाँ आदिवासियों की ऐसी संस्था की चर्चा की जा रही है, जो सांस्कृतिक दृष्टिकोण से बड़ी महत्त्वपूर्ण है। युवक-युवतियों के प्रगति के लिए आदिवासी कितने सजग हैं तथा इनकी चतुर्मुखी-अभिवृद्धि के लिए ये

क्या-क्या करते रहते हैं, इस सबका ज्ञान इसी संस्था की स्थापना के परिचय के साथ जुड़ा हुआ है। प्रायः समस्त आदिवासियों में 'घोटुल' नामक संस्था की स्थापना का प्रचलन है। बोली की विविधता के कारण विभिन्न आदिवासी समाज में इस संस्था के भिन्न-भिन्न नाम हैं। मुड़िया या मुरिया इसे 'घोटुल' कहते हैं। 'मुंडा' एवं 'हो' इसे 'गतिओरा' कहकर संबोधित करते हैं। उराँव में यह संस्था 'धुमकुरिया' कही जाती है। इसी प्रकार असम के नागा लोग इसे 'याकिचुकी' कहा करते हैं। उत्तर प्रदेश के आदिवासी-समाज ने इस उपयोगी संस्था को 'रंग-भंग' नाम से अभिहित किया है। इस संबंध में यह जानना आवश्यक है कि यह संस्था पूर्ण रूपेण अविवाहित कुमारों एवं कुमारियों के लिए ही है। विवाहितों का यहाँ प्रवेश निषिद्ध है। रात में उक्त अविवाहित कुमार-कुमारी इस मोहक गृह में रहकर जीवनोपयोगी कई बातों को सीखते हैं और सामाजिक एवं धार्मिक तथ्यों से वे अवगत कराए जाते हैं।

कहा जाता है कि- "घोटुल आदिवासियों के लिंगों देवता का वरदान है। उनकी आस्था और धारणा यह है कि लिंगो देवता घोटुल के प्रथम जन्मदाता हैं। लिंगों देवता का घोटुल घर अत्यंत सुंदर था, गौर श्रृंग के समान सुंदर और अश्वग्रीवा के समान मनोरम। महासर्प अजगर के समान उसका ध्रुव-स्तंभ था। छत की बल्लियों का महामंडप सर्पों से निर्मित किया गया था। बरामदे की छत बुलबुल के पंखों से छाई गई थी। उसकी दीवारें मछलियों की हड्डियों से गढ़ी गई थीं। द्वार लाल सिलियारी पुष्पों से निर्मित किये गये थे। आसन-निर्माण नक्र या घड़ियालों से किया गया था। लिंगो देवता की धोती रंगीन रेशम की थी। उनका अंगरखा सूर्य-रश्मि में झिलमिल चमकता था। उनका साफ़ा लौकी के फूलों के समान उज्ज्वल-धवल था। उनके पदावरण नेवले के केश-गुच्छ से बने थे और उनके उपानह मलयचंदन से निर्मित थे। मुरिया जनजाति की धारणा है कि घोटुल संसार में सबसे बड़ा विभव है, जो लिंगो देवता ने मानव-जाति को दान दिया है।"[190]

साधारणतया ये घोटुल गाँव के समीप हरे-भरे कानन के पास बनाये जाते हैं और इन्हें कुमार-कुमारियां बड़े चाव से बनाते हैं। दीवारों पर कई देवी-देवताओं की आकृतियां विविध रंगों में चित्रित की जाती हैं। युवा-गृह में एक बड़ा लंबा कमरा होता है, जो घास-फूस से छाया जाता है। प्रवेश के लिए एक छोटा-सा दरवाजा बनाया जाता है। संध्या होते ही गाँव के कुमार एवं कुमारियाँ इस गृह में जाते हैं और इसकी सफाई में लग जाते

हैं। कतिपय आदिवासी जातियों में कुमारों के लिए पृथक् और कुमारियों के लिए अलग घोटुल होते हैं। लेकिन ऐसे भी कई घोटुल होते हैं जिसमें अविवाहित युवक-युवतियाँ एक साथ रहते हैं। यहाँ नृत्य-गानादि की शिक्षा भी दी जाती है। समय-समय पर कई आयोजन आयोजित किये जाते हैं, जिनमें ये कुमार अपनी कुमारियों के साथ नाचते गाते हैं और मद्यपान के साथ भोजन भी करते हैं। शीतकाल में युवा-गृह के प्रांगण में आग लगाई जाती है और कहानियां सुनाकर मनोविनोद किया जाता है। यहां सामाजिक धरातल पर पारस्परिक परिचय के साथ घनिष्ठता बढ़ाई जाती है। अपनी इच्छानुसार युवक युवतियों को चुनते हैं और फिर विधिवत इनका विवाह संपन्न किया जाता है।

इसी प्रकार के घोटुक का वर्णन उपन्यास 'जंगल के फूल' में किया गया है जो इस प्रकार है- "गढ़ बंगाल का घोटुल। नारायनपुर से सिर्फ तीन मील दूर, दक्षिण में, नाले के पार, गाँव से लगा, पर गाँव के बाहर। दिन-भर सोता रहता है। चिड़िया भी नज़र नहीं आती। पोरद (पोड़द या सूरज) पच्छिम की पहाड़ी में आंख मूंदता है, इसके भाग जाग जाते हैं। नींद टूट जाती है। झोरिया (घोटुल का अफसर जिसके जिम्मे घोटुल की सफाई का काम रहता है।) आता है। उसके साथ दो-तीन साथी। सब खरहरा उठाते हैं। घोटुल का कोना-कोना साफ कर जाते हैं। उसे जगा जाते हैं। वह आंख खोले किसी की प्रतीक्षा करता है। जब चांद कुछ ऊपर आ जाता है, गांव के कुत्ते रह-रहकर भूंकने लगते हैं तो गांव की हर गैल घोटुल के जाती। गांव का हर पेड़गा (अविवाहित युवक) और पेड़गी (अविवाहित युवती) बगल में गीकी (चटाई) दबाए घोटुल पहुँचते हैं। पहले पहुंचने वाला देर से आने वाले दूसरे साथी का द्वार पर स्वागत करता है। दूसरा तीसरे का, तीसरा चौथे का। बस यही क्रम चलता है। लड़कियों का सिंगार देखते बनता है। दिन-भर वे आवारा भले ही रहें, रात को वे लगन से संवरती हैं। बालों में प्यारे से लहरियां डालती हैं। पड़िया (लकड़ी की कंघियां) खोंसती हैं। एक नहीं, दो, तीन, चार या उससे भी ज्यादा। पड़िया उनकी ज़िंदगी है- किसी प्रेमी के प्यार के प्यार की निशानी। उसे उन्हें कभी खरीदना नहीं पड़ता। उनका प्रेमी उन्हें भेंट करता है। पड़ियों से एक प्रेमी की आगाध प्रीत या कई प्रेमियों के प्यार का परिचय मिलता है। गले में रंग-बिरंगी मालाएँ, लाल-सफ़ेद घुंघचियों की, मोतियों की, कांच की रंगीन गुरियों की, लाख की गोटियों की। मालाओं से गला भर जाता है और वे स्तन तक झूलती लगती हैं। स्तन बेपरवाह खुले रहते हैं, उन्हें ढंकें वे लड़कियां जिन्होंने प्रेम करना नहीं जाना। जो प्रेम को पाप समझें। प्रेम

जिनके लिए गिरगिट की तरह है। जो उस से भूत की तरह भागें या भय खाए। इन लड़कियों में भय नहीं। प्रेम उनके लिए व्यापार नहीं। प्रेम उनके लिए नया पाठ नहीं। न उसे वे पाप समझतीं। प्रेम उनका देवता है। प्रेम उनकी ज़िंदगी है। पहाड़ के पत्थरों को वे दिन-भर छाती में धरती हैं। जंगलों के काटों से हर घड़ी उन्हें लड़ना पड़ता है। रात को सब-कुछ खतम हो जाता है। सब दुःख डूब जाता है। रात उनकी राजधानी है और वे रात की रानी हैं। उनके पैरों की पायल मधुर झंकार बिखेरती है। रातें सुरों में सुर मिलाती हैं और वही सजी-धजी रानियां घोटुल की मोटियारी हैं।

चेलिक, उनका प्रेमी, वह भी सज-संवर कर घोटुल में आता है उनके गले में डगरपोल (गुरियों की माला) होता है। कान में छोटी-छोटी बालियाँ। वह कभी न ये बालियां खरीदता, न डगरपोल।वह अपनी मोटियारी को प्रेम की भेंट देता है तो मोटियारी से भी इन्हें भेंट के रूप में पाता है। इस हाथ दे, उस हाथ ले। न कभी देर, न कभी अंधेर।

धीरे-धीरे सब घोटुल पहुँच जाते हैं। घोटुल को छोड़कर सारा गाँव नींद में सोता है। गांव की हर झोपड़ी में पति-पत्नी होते हैं या तीन-चार बरस से कम लड़के-लड़कियाँ। बाकी सब घोटुल में आकर अपनी जगह में गीकी बिछा देते हैं। यह उनका बिछौना है। घोटुल का हर सदस्य गीकी से बंधा है। गांव करी हर गीकी घोटुल से बंधी है।

सब पहुँच जाते हैं तो सिरदार आता है। सब मिलकर उसे जुहार करते हैं। सिरदार उनका मुखिया है। घोटुल का लीड़र (नेता) है। यहाँ का हर काम उसकी मरजी से होता है। सिपाही एक बार हुक्म-अदूली कर सकता है, पर घोटुल का कोई सदस्य सिरदार की बात नहीं टाल सकता। टाले भी क्यों ? वही उसे लीडर बनाते हैं। वह भी अपना धरम निभाता है। न निभाहे तो पद से हटा दिया जाए। सारे सदस्यों की राजी-खुशी पूछता है। सबकी हाजिरी लेता है। उसके कई सहायक हैं, लड़के भी और लड़कियां भी। बेलोसा और दुलोसा कुमारियों की रानियां हैं। तिलोका, निरोपा, पियोसा, जानको और मालको घोटुल की ऐसी लड़कियां हैं, जो सफाई करतीं, पत्तों के दौने बनातीं और दूसरे काम करती हैं। दीवान और मुखवान घोटुल के बुद्धिमान कुमार सदस्य होते हैं। यहाँ के हर सदस्य के भले-बुरे कामों को ताकना उनका काम है।

कोटवार और चलान सबकी उपस्थिति और काम बांटने के लिए जिम्मेदार हैं। मुंशी घोटुल के सदस्यों

का हिसाब-किताब रखता है। झोरिया घोटुल की सफाई के लिए जिम्मेदार है और जमादार यह देखता है कि कोई मोटियारी बिना पड़िया के तो नहीं है। चालकी सबको तम्बाकू बांटता है और उत्सवों में भाग लेता है।

घोटुल इस गांव की संपत्ति है। गांव भर के लोग मिहनत कर इसे बनाते हैं। आज जो चैन से घर में सो रहे हैं, कभी यहां के सदस्य थे। शादी की और घोटुल ने इन्हें दुलत्ति मारी। तब वे यह सोचते बिदा लेते हैं कि उनके भी लड़के-लड़कियां होंगे और उनकी तरह ही वे भी यहां आयेंगे, खेलेंगे, और मौज करेंगे।

घोटुल गांव की रखवाली करता है। यहां के जवान सदस्य गांव के सिपाही हैं। गांव में जाने वालों को पहले इनसे मुठभेड़ लेनी होती है। यहाँ हर प्रेमी की एक प्रेमिका होती है और हर प्रेमिका अपने प्रेमी पर शासन करती है। ये प्रेमिका समय-समय पर बदल सकते हैं। रात को काफी देर तक यहां किस्सा-कहानियाँ, नाच-गाना होता रहता है और जब चाँद सिर पर चढ़कर नीचे गिरने को मुँह औंधा करता है तो प्रत्येक प्रेमी अपनी प्रेमिका को लेकर गीकी से बंध जाता है। मुर्गे की बांग होते ही फिर घोटुल धीरे-धीरे खाली होने लगता है।

घोटुल कच्ची मिट्टी की फूस की एक छोटी-सी झोंपड़ी है। बीच में खासा खुला मैदान। चारों ओर परछी। परछी की दीवारों पर कई चित्र-आड़े-तिरछे, सीधे-टेढ़े। घोटुल के सारे सदस्य अपनी मरजी से लगन के साथ इन्हें बनाते हैं। उनकी कला इन चित्रों में बोलती है। ये चित्र उनकी ज़िंदगी का इतिहास कहते हैं। घोटुल के खुले मैदान के बीच में आग जलती रहती है। यही उनका उजाला है। यही जंगली जानवरों से उनकी रक्षा करती है।"[191]

सत्य तो यह कि यह संस्था जीवन साथी चुनने के लिए पर्याप्त एवं सुगम साधन एकत्र करती है। शिष्टाचार संबंधी नियमादि को सीखकर घोटुल के सदस्य समाज में अनुशासन स्थापित करते हैं और बड़े-बूढ़े के आशीर्वाद प्राप्त कर अपना जीवन सुखी बनाते हैं। घोटुल की व्यवस्था के लिए कई योग्य व्यक्तियों को सर्वसम्मति से नियुक्ति की जाती है और ये सब प्रकार के विवादों को निपटाते हैं तथा अपराधियों को दंडित भी करते हैं। गांव के वृद्धों का भी इन पर कड़ा निरीक्षण रहता है। यथावसर घोटुल के समस्त सदस्य गांव के विवाहों में सहयोग देते हैं, गांव की सफाई करते हैं, रोगियों की सेवा में संलग्न होते हैं और धार्मिक उत्सवों में भाग लेकर उन्हें सफल बनाते हैं।

इन घोटुलों की उत्त्पत्ति के संबंध में नृवंश-शास्त्रियों ने विभिन्न दृष्टिकोण से विचार किया है। हौड़सन के

मतानुसार "सामुहिक शक्ति को विकसित करने तथा वन्य पशुओं और शत्रुओं के आकस्मिक आक्रमणों को रोकने के लिए ये गृह स्थापित किये गये थे। ग्रियर्सन का कथन है कि किसी समय स्वगृह में शरीर संबंध वर्जित था, अतः एकांत में ये शयनागार बनाये जाते थे। कुछ विद्वानों का विचार है कि प्राचीन शिकार युग में जब माता-पिता कानन में मृगया के लिए जाते थे, तब अपने बच्चों की रक्षा के लिए वृद्धों को वे छोड़ जाते थे, जो इन गृहों में रहते थे।"[192]

मानवशास्त्र विशेषज्ञ श्री राय की कल्पना है कि- "घोटुलों की स्थापना में आर्थिक लाभ, युवक-प्रशिक्षणार्थ भी ये युवा-गृह बड़े उपयोगी हैं, ऐसा कतिपय विद्वानों का मत है। जंगल में खेती की रक्षा अपेक्षाकृत कठिन होती है। अतः जंगल के समीप निर्मित इन गृहों में रहकर युवक और युवतियां सुगमता से कृषि को वन्य पशुओं से बचा लेती है। किसी-न-किसी रूप में ये दृष्टिकोण मान्य हो सकते हैं।"[193]

3.4.7. पर्व-त्योहार

आदिवासी लोक जीवन की अलग विशेषता है। अपनी संस्कृति के अनुरूप आदिवासी अपने को ढालने का प्रयास करते हैं तथा पूरी निष्ठा से उसका पालन करते हैं। पर्व और त्योहार इनकी संस्कृतियों के महत्त्वपूर्ण अंग हैं और वर्ष का शायद ही कोई माह है जो त्योहारों से खाली जाता है। पर्व और त्योहार किन्तु रीझरंग एवं मनोरंजन से ही नहीं, वरण धार्मिक जीवन से भी जुड़े हैं। पर्व और त्योहार का बड़ी बेसब्री से सबको इन्तजार

होता है। जिन्हें बड़े धूमधाम के साथ संपन्न करने का प्रयास किया जाता है।

3.4.7.1. करमा पर्व

करमा प्रति वर्ष भादो माह के शुक्लपक्ष की एकादशी के दिन मनाया जाता है। यह पर्व कृषि से संबन्धित पर्व है, साथ-ही-साथ यह सौहार्द्र, सत्कर्म और सद्‌भावना का पर्व है। भादो एकादशी में मनाया जाने वाला यह पर्व प्रतिवर्ष करमा और धरमा नामक दो भाइयों की लोक प्रचलित कथा पर आधारित है। इसके दो रूप होते हैं, एक राज करम तथा दूसरा देश करम, राज करम जहाँ घर के आंगन में मनाया जाता है वहीं देश करम गाँव के अखारों में मनाया जाता है। करमा-धरमा की कथा सत्य-असत्य, धर्म और अधर्म, आस्तिक और नास्तिक पर आधारित है।

इस पर्व में महिलाओं और लड़कियों द्वारा करमा देवता की पूजा की जाती है। एकादशी के दिन महिलाओं एवं लड़कियों द्वारा करमा की डाली लाकर अपने आँगन या अखाड़ा में गाड़ते हैं। करमा डाली की पूजा होती है जिसमें उपवास करने वाली लड़कियाँ एवं महिलाएँ सम्मिलित होती हैं। पूजा के दौरान पहान द्वारा करमा-धरमा की कहानी सुनायी जाती है। ढोल, नगाड़ा, मांदर की थाप पर लोग गीत एवं नृत्य का आनंद उठाते हैं। सभी लोग साथ-साथ नाचते गाते हैं। दूसरे दिन करमा की डाली को नदी या तालाब में विसर्जित कर दिया जाता है।

भादो एकादशी से नौ दिन पहले से ही इस पर्व की तैयारी प्रारंभ हो जाती है। उस दिन जावा उठाने या उगाने की विधि संपन्न की जाती है। जावा का साधारण अर्थ वैसे जौ का अंकुरित या पल्लवित स्वरूप है परंतु करमा पर्व के अवसर पर जावा उठाने की जो परम्परा है उसमें एक बाँस की नई छोटी टोकरी में बालू भरकर उसमें जौ, धान, कुरथी एवं गेहूँ का बीज बोकर उसे करमा पूजा की तिथि तक पूरी तरह पल्लवित पौधों के रूप में प्राप्त करने की परंपरा रही है। इसे सामुहिक कल्याण के उद्देश्य से अखाड़े में रखा जाता है तथा द्वादशी के दिन इसे काटकर पहले सभी देवताओं को समर्पित किया जाता है तथा बाद में पारस्परिक सद्‌भाव तथा कल्याण की वृद्धि के लिए एक दूसरे के कान पर खोंसकर एक-दूसरे का यथोचित अभिवादन करते हैं।

भादो के द्वादशी के दिन प्रायः लोग अपने खेतों में बेलवा की डाली, सखुए की डाली तथा करम की डाली गाड़ते हैं। ये सब भी प्रतीकात्मक है। उनकी मान्यता है कि भेलवा की डाली एवं पत्तों से उनके खेतों में

लगे फसलों के कीड़े मर जाएंगे, सखुए के पत्तों से फसलों के पौधे बड़े होंगे एवं करम की डाली से उनके खेतों में फसल लहलहा उठेंगे। करमा पर्व के द्वारा देवताओं के प्रति श्रद्धा, अपने खेती के प्रति आस्था एवं परस्पर मिलजुल कर रहने की रहने की प्रेरणा मिलती है। यह पर्व हमें आत्म-संयम रखने, धर्म के अनुसार आचरण करने महिलाओं का सम्मान करने, ईर्ष्या-द्वेष से दूर रहने, क्षमाशील बनने, अपने परिश्रम से आगे बढ़ने, अपने पूर्वजों एवं अपनी परम्पराओं से प्रेरणा लेते रहने, ईश्वर के प्रति अडिग श्रद्धा रखने तथा समाज के लोगों के साथ मिलजुल कर कार्य करने की प्रेरणा देता है।"[194] इस प्रकार हम देखते हैं कि आदिवासियों में यह पर्व बड़े उल्लास के साथ मनाया जाता है, जो सौहार्द्र, धर्म, सत्कर्म और सद्भावना के लिए सभी लोगों को प्रेरित करता है।

3.4.7.2. सरहुल

आदिवासियों के नानाविध त्योहार हैं और प्रत्येक का अलग महत्व है, उन्हीं में एक है सरहुल। छोटानागपुर, संथाल परगना के आदिवासियों द्वारा बड़े उत्साह उमंग और धूमधाम के साथ मनाया जाता है। सरहुल शब्द संभवतः आदिवासी भाषा का शब्द नहीं है। आदिवासी क्षेत्रों में सदियों से गैर आदिवासी रहते आये हैं, जिन्होंने यहाँ कि सांस्कृतिक परम्पराओं के साथ अपने को आत्मसात करने के प्रयास किये हों और इसी क्रम में उनके द्वारा इस पर्व को सरहुल नाम दिया गया हो। कारण आदिवासी जन इस पर्व को कई नामों से पुकारते हैं। बिहार राज्य में मुण्डा-भाषा परिवार एवं द्रविड़-भाषा परिवार के आदिवासी रहते हैं। मुण्डा भाषा परिवार के आदिवासियों में मुण्डा, हो, संथाल, बिरहोर, असुर, लोहार, बिरिजिया, खड़िया, आदि शामिल हैं। इनमें मुण्डा, हो और संथाल जैसे बहुसंख्यक आदिवासी इस पर्व को बाह्य कहकर संबोधित करते हैं, जिसका शाब्दिक अर्थ है फूल-पर्व, द्रविड़ भाषा परिवार के उराँव आदिवासियों ने इसे खद्दी पर्व की संज्ञा दी।

उपर्युक्त विश्लेषणों से एक बात स्पष्ट है कि कुल मिलाकर सरहुल फूल पर्व है। दूसरे शब्दों में यह वसंतोत्सव है। पतझड़ के बाद जब ठूंठ तरुओं पर नयी कलियों और कोपलों का आगमन होता है, वनों और पर्वतों की छठा ही बदल जाती है। चतुर्दिक नई पत्तियों और फूलों से वन प्रदेश नहा उठता है, मानो प्रकृति नव श्रंगार कर रही है, खिले फूलों से उठती गंध वातावरण में मिठास और मादकता घोलने लगती है। लगता है प्रकृति अपने बालों में सुगंधित तेल चुपड़ लियें हो। तब आदिवासी युवक-युवतियाँ खिले फूलों को तोड़ने के

लिए मचल-मचल उठते हैं। किन्तु सरहुल पर्व मनाये बिना, फूलों से शरीर का श्रृंगार करना वर्जित है। आदिवासियों का विश्वास है कि प्रकृति देवी की कृपा से ही जंगलों में नई कपोलों और फूल खिलते हैं। अतः पहले प्रकृति देवी की ही पूजा होगी ताकि चिरकाल तक इसी तरह फूल-फल प्रदान करती रहे।

प्रकृति जीते आदिवासियों का विश्वास है कि धूप-बरसात, हवा, भोजन सारा कुछ उन्हें प्रकृति देवी की कृपा से उपलब्ध है। प्रकृति की कृपा से ही खेतों में फसल लहराती है तथा प्रकृति ही जंगलों में पाये जाने वाले फल-फूल तथा जीवन के अन्य आधार उन्हे देती है। अतः उन सब का सेवन तब तक नहीं करना है जब तक सरहुल पर्व संपन्न न हो जाए। यहाँ तक की कृषि कार्य करने वाले आदिवासी सरहुल पर्व के आगमन पर ही धान की बुवाई करते हैं। लेकिन आजकल मौसम की अनिश्चता के कारण बोवाई पर्व अलग से मनाया जाता है। इसी तरह आजकल नये फल फल-फूलों और सब्जी के रूप में व्यवहृत कोपलों-लताओं के सेवन में ढिलाई भरती जा रही है। किन्तु आदिवासियों के धार्मिक प्रधान, वाहन, नायके, दिउरी, नया बैगा आदि परम्परागत नियमों का ही पालन करते हैं।

आदिवासी जन प्रकृति देवी को जयरबुढ़ी या जयरएरा के नाम से स्मरण करते हैं। हर गाँव में जयर या जयेरथान होता है जिसे सरना भी कहते हैं। यह वह पवित्र स्थान है जहाँ आदिवासी लोग अपने पर्व-त्योहारों के अवसर पर, धार्मिक प्रधानों के माध्यम से पूजा-पाठ संपन्न कराते हैं। यह स्थान गाँव के बगल में स्थापित बड़े-बड़े शाल वृक्षों के झुरमुटों से पहचाना जा सकता है। सरना या जयर की अन्य विशेषता भी है। गाँव के मूल निवासी ने बसते समय जिस शाल-कुंज में सर्व-प्रथम पूजा पाठ किया तथा अपने देवी-देवताओं को स्थापित किया, वही स्थान सरना या जयर के नाम से जाना जाता है। सरहुल फूल पर्व है, किन्तु आज शाल-पुष्प की ही प्रधानता रह गई है। चैत्र माह में खिलते शाल के फूल मोहक मादक गंध बिखेरने लगते हैं। इन पवित्र फूलों को सरहुल पर जयरबुढ़ी को अर्पण करते हैं। जयरबुढ़ी को अर्पण करने के बाद आदिवासी नर-नारी कानों तथा जूड़ों में धारण करते हैं।

सरहुल पर्व विभिन्न गाँवों तथा आदिवासी समाजों में अपने अपने नियमों और सुविधाओं के अनुसार मनाया जाता है। फिर भी सामान्य तौर पर यह तीन दिनों तक संपन्न होता है। पहला दिन मुण्डा आदिवासी हई-कड़कोम के रूप में मनाते हैं। इस दिन गाँव के पुरुष नदी में मछली और केकड़ा पकड़ने जाते हैं तथा स्त्रियाँ

शाल की पत्तियाँ गूंटती हैं। रात में मछली और केकड़ों को इमली के रस में पकाया जाता है। घर का प्रधान पूजागृह में अपने पूर्वजों को केकड़ा और मछली अर्पित करता है। इसके बाद सब मिलकर भोजन करते हैं।

दूसरा उपवास का दिन होता है, जिसे मुंडा कटब कहते हैं। इस दिन घर का प्रधान दम्पती उपवास के साथ पूजा-पाठ संपन्न करता है। सुबह आंगन में डंबढा की नई कोंपलें और चार (पियार) के पत्ते जलाते हैं। पुरुष बा जोनो (फूल-झाडू) बनाते हैं, जिसे लेकर उपवास रखने वाली स्त्रियाँ कुएँ पर नहाने जाती हैं और लौटकर भोजन पकाने के लिए चूल्हे पर घड़ा चढ़ाती हैं। इस दिन विशेष तौर पर उड़द की दाल बनती है। दोपहर में घर का प्रधान पूजागृह में शाल के दोनों में भात और दाल देवताओं को अर्पित करता है। पवित्र पेय हंड़िया भी शाल के दोनों में अर्पित करते हैं। इसके बाद पूरा परिवार शाल के पत्तों पर आसन ग्रहण कर खाता-पीता है तथा बंधु-बांधवों का सत्कार करता है।

इस उपवास के दिन गाँव का प्रधान पुजारी (पहान) सरना में दो नये, पानी से भरे घड़ों को लाता है, इससे पूर्व पहान का सहायक पनभरा सरनास्थल को गोबर से लीपकर घड़ों को सजा देता है। पहान पूर्व की ओर मुंह करके अरवा धागे को दोनों घडों के गले में तीन बार लपेटता है और घड़ों के मुंह पर दो-दो शाल के डंटल रखता है एवं शाल के वृक्ष में अरवा धागे की तीन लड़ियाँ लपेटता है। इसके बाद पुनः पूर्व की ओर मुंह करके जय बुड़ी की आराधना करता है। साथ ही पहान गाँव की चौहद्दी को छोटे-बड़े देवी-देवताओं (बोंगाओं), गाँव के नदी-नालों, पहाड़ों और खेतों में निवास करने वाले देवी देवताओं का आह्वान, गाँव वालों के सुख के लिए करता है। गाँव के हर नर-नारी तथा अबालावृद्ध पहान की पवित्र पूजा देखने सरना पहुँचते हैं तथा नाच-गाकर सरना देवी को प्रसन्न करते हैं। गाँव वाले इसी दिन सरनास्थल पर रखे घड़ों के पानी का अध्ययन करके पता लगाते हैं कि इस वर्ष की स्थिति कैसी रहेगी। शाम को गाजे-बाजे के साथ पहान को गाँव लाया जाता है। गाँव का अखाड़ा सारी रात नाच-गान के स्वरों से गूंजता रहता है।

पर्व के तीसरे, अर्थात अंतिम दिन, हर परिवार के लोग जंगल से शाल के फूल तथा तिलय की डाली काटकर लाते हैं और पूजागृह मे स्थापित करते हैं। परिवार का प्रधान स्नान करके पूजास्थल पर शाल फूल तथा तिलय देवी देवताओं को अर्पित करता है। इसके बाद रंगीन मुर्गी की बली दी जाती है। बाद में परिवार के सब लोगों में पवित्र शाल एवं तिलय फूल बाँटा जाता है। पूजा-पाठ समाप्ति के बाद खान-पान का दौर चलता

है। सब लोग एक-दूसरे को फूलों से अभिवादन करते हैं और मुंग में नाचते-गाते सरहुल में सराबोर हो जाते हैं।

दूसरी ओर पहान इस दिन सरना में ही पूजा-पाठ करता है और विभिन्न देवी-देवताओं के नाम से भिन्न-भिन रंग की मुर्गियों की बलि चढ़ाता है। पहान वहीं सब लोगों को भोजन भी कराता है। सरना बूढ़ी या जयर बूढ़ी को शाल फूल अर्पित करने के बाद पहान उन पवित्र फूलों को लोगों में वितरित करता है। शाम के पूजा-पाठ और खान-पान के बाद पहान को कंधे पर बिठाकर गाते-बजाते और नाचते घर लाते हैं। स्त्रियाँ पहान तथा उसकी पत्नी के ऊपर पानी डालती हैं। इसके बाद पहान की ओर से सामूहिक रूप से हंड़िया पिलाई जाती है।

पर्व के चौथे दिन पूलखोंसी की रस्म होती है। पहान नये सूप में शाल के पवित्र फूल लेकर प्रत्येक घर के दरवाजा पर जाकर उसे ऊपर खोंसता है। गाँव वाले हंड़िया पिलाकर पहान का सत्कार करते हैं। फूलखोंसी की रस्म कहीं-कहीं तीसरे दिन शाम को ही होती है। सरहुल का यही तरीका तथा रूपरंग परम्परा से चलता आया है।"[195]

3.4.7.3. खद्दी पर्व

खद्दी उराँव जनजाति का प्रमुख पर्व है। इस जनजाति के लोग प्रत्येक वर्ष के अप्रैल माह में यह पर्व हर्षोल्लास के साथ मनाते हैं, जबकी इसकी तैयारी फागु पर्व से ही प्रारंभ हो जाती है। वनों से फल, फूल, बीज आदि खाद्य सामाग्री का संग्रह खद्दी मनाने तक प्रतिबिंबित होता है।

उराँव सरहुल को खद्दी या खेखेल-बेंजा भी कहते हैं। खेखेल-बेंजा का तात्पर्य धरती का विवाह। धरती अर्थात् समस्त प्राकृतिक सम्पदा को धारण करने वाली। इसका विवाह सूर्य से सरहुल पर्व पर सम्पन्न होता है। सूर्य की गर्मी तथा धरती की ऊर्वरता का सीधा संबंध है। प्रकृति के इस भौगोलिक रहस्य को धरती-सूर्य के विवाह के रूप में, अनेक जाति के धर्मों में अपने-अपने स्वरूप के अनुसार उद्घाटित किया गया है। सरना धर्म में इस अवसर पर गाँव के धर्म-पुरोहित पहान को सूर्य मानकर उनका विवाह पहनाइन को धरती मान कर किया जाता है। यह विवाह सभी ग्रामीणों की उपस्थिति में गाँव का महतो एवं उसकी पत्नी बड़े धूम-धाम से कराते हैं। उराँवों की मान्यता के अनुसार इस विवाह का सीधा प्रभाव उनकी कृषि की उपज पर पड़ता है।

इस पर्व के अवसर पर अच्छी फसल के लिए ईश्वर से प्रार्थना की जाती है ताकि आने वाले वर्ष में

अच्छी फसल हो सके। इस पर्व के दिन नदी या तालाब से मछली या केकड़ा पकड़ने का रिवाज है। खद्धी के दिन से एक सप्ताह पहले सरना स्थान में नये घड़े में पानी भर कर रख दिया जाता है। घड़ा का पानी ज्यों का त्यों भरा रह जाता है तो पहान यह अनुमान लगाता है कि इस वर्ष अच्छी वर्षा होगी। घड़े का पानी जितना गिर जाता है उसी अनुपात में उस वर्ष वर्षा होने का अनुमान कम लगाया जाता है। इस प्रकार यह देखते हैं कि इनका यह पर्व परम्पराओं से जुड़ा हुआ है। इन समाजों में आज भी घड़े में पानी रखने की प्रथा प्रचलित है।"[196]

3.4.7.4. सरहोई पर्व

कार्तिक मास का त्योहार है जो मवेशियों का पर्व कहलाता है। अपने पशुओं का उपकार मानने के लिए लोग गोशालाओं में दीप रात भर जलाते हैं और गोरेया भूत को, जो पशुओं का संरक्षक कहा जाता है कि बलि चढ़ाते हैं। जानवरों को भी तेल चढ़ाते हैं, फूल मालाओं से सवांरते हैं, अनाज खूब खिलाते हैं, और चारागाह भेज देते हैं।"[197]

3.4.7.5. फागु पर्व

यह पर्व फागुन महीने में मनाया जाता है। इसमें सेमर के वृक्ष में पुआल बाँधकर पहान द्वारा आग लगाने का रिवाज है। इस पर्व की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि कुएँ से पानी निकालने पर प्रतिबंध होता है। इस दिन नहाने-धोने पर भी प्रतिबंध होता है। दूसरे दिन वे जंगल में शिकार करने जाते हैं और लौटने पर लकड़ी काट कर साथ लाते हैं। घर लौटने पर महिलाएँ उनका पैर धोती हैं। जंगल से लाये गये शिकार को पकाया जाता है और साथ ही बचे हुए शिकार को सुखाकर रख दिया जाता है ताकि बाद में धान बोने के दिन पकाकर खाया जा सके। रात्रि में नाच-गान का आनंद उठाते हैं और दूसरे दिन पुनः शिकार करने के लिए जंगल चले जाते हैं। जंगल से लौटने के बाद फिर नाचने-गाने का आनंद लेते हैं। यह पर्व दो-तीन दिनों तक मनाया जाता है। इसके अतिरिक्त इनके समाज में माघ पर्व तथा चाँड़ी पर्व मनाने का भी प्रचलन है। जिसमें नाच-गान द्वारा मनोरंजन करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जनजातीय समाज में पर्व-त्योहार मनोरंजनात्मक अभिव्यक्ति का साधन भी है, जिसके अन्तर्गत नगाड़े, मांदर और ढोल की थाप पर लयात्मक नृत्य की प्रस्तुति की जाती है। नृत्य में बच्चे, युवा-युवतियों और वृद्धों के बीच कोई अंतर नहीं होता। सभी एक साथ मिलकर गीत-नृत्य द्वारा

मनोरंजन करते हैं।"[198]

3.4.7.6. भगोरिया

भगोरिया प्रमुख रूप से भील युवक-युवतियों और उनके बीच प्रणय संबंध का त्योहार है। भील युवक-युवतियों पर उन्मुक्त और उन्मत्त जीवन शैली का असर सर्वाधिक होता दिखाई देता है। किशोर वय में ही उनके हृदयों में प्रणय का रस छलकने लगता है, सौन्दर्य के सैकड़ों रंग पूरी देहयष्टि पर छलछलाने लगते हैं। मौसम का खुमार पोर-पोर में चटखने लगता है। खेत-खलिहानों में, हाट-बाजारों में, अकेले और भीड़ में मिलने-जुलने, आँखों से इशारे करने और बतियाने का क्रम धीरे-धीरे प्रणय में बदल जाता है। भगोरिया में यह प्रणय परवान चढ़ता है, परिणय के रूप में।

भगोरिया हाट में भील प्रेमी-प्रमिका मौके की खोज में रहते हैं। मौका मिलते ही प्रेमी अपने प्रेयसी के गालों पर गुलाल मल कर सार्वजनिक रूप से अपने प्रेम को स्वीकार कर लेता है और विवाह की मंशा प्रकट करता है। इसके बाद दोनों परिवारों की ओर से विवाह की बातचीत चलाई जाती है और रिश्ता तय होने पर उन्हें पारम्परिक तौर-तरीकों से विवाह बंधन में बाँध दिया जाता है। कभी-कभी किसी एक परिवार की असहमति और विरोध की वजह से प्रेमी-प्रेमिका को भगाकर ले जाता है और विवाह कर लेता है। कुछ समय बाद जाति-पंचायत से सामाजिक स्वीकृति प्राप्त कर सामान्य जीवन जीने लगता है। भागने की इस परम्परा की वजह से इस बाट का नाम भगोरिया पड़ गया है।

एक अन्य मान्यता के अनुसार जब प्रेमी द्वारा प्रेमिका को गुलाल लगाया जाता है तो लड़के के परिवार वाले सगाई करने हेतु लड़की वालों को एक तीर और चोली भेजते हैं। यदि लड़की पक्ष राजी होता है तो चोली रखकर तीर वापस भेज दिया जाता है। यदि तीर रखकर चोली वापस की जाती है तो यह मान लिया जाता है कि उन्हें रिश्ता स्वीकार नहीं है।

भगोरिया की सुबह अनूठे रंगों की सुबह होती है। अलस्सुबह से गाँव-गाँव में ढोल-मांदल और कुण्डी की सामुहिक स्वर लहरियाँ निस्तब्धता को तोड़कर गुनगुनाहट से भर देती हैं। सूरज की पहली किरण के साथ ही भगोरिया हाट की तरफ चल पड़ती हैं भील स्त्रियाँ और पुरुषों की टोलियाँ- चटकीले रंगों की अपनी पारम्परिक परिधानों में, बेहतर-से-बेहतर बनाव-सिंगार में। पान की गिल्लोरियों से सजे लाल होठों पर थिरकते

लोकगीतों के सुर, संगीत की थातों पर इठलाते हुए झांझर वाले पैर, शराब और ताड़ी के खुमार में बहकते-मचलते युवा-समूह, मनोविनोद, छेड़-छाड़, हँसी और ठहाकों के दौरे। लगता है जैसे रंगों की एक पूरी बारात, खुशियों और उत्साह का एक दरिया उफन आया हो। आँखें सब कुछ अपने में समेट लेने में असमर्थ सी प्रतीत होने लगती हैं।

पुरुष रंग-बिरंगे साफे, तरह-तरह के कुर्ते और बंड़ी, घुटनों तक नई सफेद चमकती धोती, कानों में चाँदी की लड़े, कलाइयों में चाँदी के कड़े, कमर में चाँदी के करौंदे, पैरों में घुंधरू पहने होते हैं। हाथों में तीर, तलवार, लट्ठा और एक प्रकार का हथियार कामठी लिए होते हैं।

भील स्त्रियों के अद्‌भुत सौन्दर्य से तो जैसे सारा परिवेश ही मंत्रमुग्ध सा हो जाता है। सिर से पैर तक चाँदी के नाना प्रकार के गहने, गहरे लाल, पीले, कत्थई बेलबूटेदार भीलौंड़ी लहंगे, रंग-बिरंगे पोलका (ब्लाउज) और घाघरा, तरह-तरह के केश विन्यास। गहनों में कानों में लड़ियाँ, गले में हँसली और हार, हाथ पैरों में कुहनी व घुटनों तक कथिर के कड़े तथा नाक में चाँदी का कांटा, अंग-प्रत्यंग में गुदनों का स्थाई श्रृंगार, आँखों में आंजा हुआ सुरमा या काजल। साथ ही श्रृंगार की निरंतर देख-रेख के लिए हाथ में आरमा (आइना) होता है।

भगोरिया हाट वाले गाँव में सुबह से ही चहल-पहल और गहमा-गहमी शुरू हो जाती है। एक अनूठा और अद्वितीय रंगा-रंग माहौल यत्र-तत्र उभर आता है। मुख्य बाजार में अनेक दुकाने सजने लगती हैं जिनमें होटल, चूड़ियों, गहनों, रंग-गुलाल की दुकानें मुख्य होती हैं। एक ओर झूले, हिंडौले और चकरियाँ तो दूसरी ओर तहर-तरह के तमाश बीन, जादूगर, मदारी व करतब-कौशल दिखाने वालों के डेरे हाट के आकर्षण को द्विगुनित करते हैं। रंग-स्वर और उल्लेस के अनुपम संगम होते हैं। ये बाजार धीरे-धीरे अलग-अलग रास्तों में नाचती गाती टोलियाँ हाट में आने लगती हैं, बाजार में जन-सैलाब के साथ-साथ उत्साह का एक सैलाब भी उमड़ता जाता है। दोपहर तक हाट एक भव्य मेंले का आकार ले लेता है।

कहीं तमाशबीनों व मदारियों के करतब देखते हुए, कहीं झूलों में पेंग भरते हुए युवकों की टोलियाँ तो कहीं चूड़ियाँ-गहने पसंद करती हुई, कहीं गुदना गुदवासी भील-ललनाओं की भीड़। दिन भर शराब और ताड़ी के दौर चलते हैं। जहाँ-जहाँ युवा दिलों के प्रेम पगे मान-मनुहार की सतरंगी छटाएँ बिखरती रहती हैं। भील

युवकों द्वारा अपनी प्रेयसियों के कपोलों पर गुलाल मलने और अपहरण के दृश्य बहुतायात होने के बावजूद अविस्मरणीय और अलौकिक जैसे होते हैं।

शाम के धुंदलके तक आदिम सौंदर्य, प्रेम, हर्ष, यौवन, और अभिसार का महोत्सव भगोरिया ज्यों का त्यों बना है। रंगारंग और संगीत की रुनझुन सो झंकृत माहौल में लगे जी भरके मौज मस्ती और आनंद का आस्वादन और अनुभूति करते हैं। फिर धीरे-धीरे वैसी ही गाती-थिरकती अपने-अपने गाँवों की ओर लौट जाती हैं। भीड़ छंटने के बाद दुकाने उठने लगती हैं। गाँव अपनी पुरानी अवस्था में लौटने लगता है। कतिपय गाँवों में दूसरे दिन भी यह उत्सव मनाया जाता है। इसे बासी भगोरिया कहते हैं।"[199]

भगोरिया झाबुआ और उसके इर्द-गिर्द के भीली-अंचल का सदियों पुराना आदिम महापर्व है। यहाँ के भील-भिलाले बड़ी उत्कंठा से साल भर इस रंग-उत्सव की प्रतीक्षा करते रहते हैं। उपरोक्त पर्व-त्योहार मध्य भारत के आदिवासियों के प्रमुख पर्व हैं। आज तक लेखकों ने जनजातीय जीवन को केन्द्र में रखकर लिखे उपन्यासों में इन पर्वों का संदर्भ बहुत कम ही दिये हैं। पर्व के प्रसंग आते भी हों तो मात्र प्रचलित पर्व के ही, जो आज का तथाकथित सभ्य समाज के द्वारा भी मनाई जा रही हैं। कुछ उपन्यास जैसे पठार पर कोहरा, जंगल के फूल, वन के मन में, जगल के गीत, वन लक्ष्मी आदि में करमा पर्व का उल्लेख हुआ है, क्योंकि यह पर्व लोक प्रचलित है। आदिवासियों के ये जाने-माने पर्व ही नहीं है। उनके जीवन पद्धति में प्रत्येक संदर्भ पर्व का ही होता है। हमें उनके छोटे से छोटे पर्वों पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है। क्योंकि उनके जीवन को समझने से पहले उनकी संस्कृति को समझना अनिवार्य है। तभी हम उनके जीवन से जुड़े हर पक्ष को पन्नों पे ला सकते हैं।

3.4.8.आखेट

आखेट आदिवासी समाज का महत्त्वपूर्ण पक्ष है। आखेट उनकी संस्कृति है। आदिवासियों के त्योहारों में आखेट का त्योहार भी होता है। मरियागोंड प्रति वर्ष इस त्योहार को मनाते हैं तो उराँव बारा साल में एक बार इस पर्व को मनाते हैं। गाँव का प्रत्येक पुरुष आखेट में भाग लेता है। बिना शिकार किये गाँव में आने पर स्त्रियाँ उन्हें अपमानित करती हैं। 'जंगल के फूल' उपन्यास में आखेट का उल्लेख हुआ है- "गाँव के चेलिक (लड़के) अपने

आप उचट रहे थे। हर चेलिक ने अपनी पीठ पर तीर और तरकस बांध रखे थे। घुटने तक पैरों में छाल का एक विशेष कपड़ा वे बाँधे थे। सबके शरीर में फुर्ती थी। पुजारी ने करदेंगल (जंगल का देवता) की पूजा की। धूप दिया, दिया जलाया। एक-एक मुर्गी उठाकर उनकी गर्दन तोड़नी शुरू कर दी। दो-चार बकरों का खून चढ़ाया और फिर भैंसे की गरदन में तेज़ धार का चमकता फरसा चला दिया। वह ज़मीन पर लोटने लगा। मातुल (गाँव की देवी) को भैंसे के खून से नहलाया गया। गाँव के सारे लड़के शिकार के लिए तैयार थे। हर साल यह समय आता है। हर गाँव के हट्टे-कट्टे चेलिक शिकार के लिए निकलते हैं। वे जंगल-जंगल भटकते हैं और छोटे से लेकर बड़े-बड़े जानवरों को मारते हैं। शिकार करने में उनमें एक होड़ सी लगती है। कभी-कभी एक ही जंगल में दो-चार घोटुल के शिकारी दल मिल जाते हैं। फिर क्या सब मिलकर एक हो जाते हैं। जंगली जानवरों का दर्प चकनाचूर करने में भिड़ जाते हैं। सारे लड़कों ने करदेंगल को जुहार (नमन) की और पाटा गाते गेंवड़े से आगे गए। यहाँ मातुल (गाँव की देवी) के पास खड़ी मोटियारियाँ (प्रेमिकाएँ, लड़कियाँ) अपने-अपने मन में चेलिकों की सफलता की कामना कर रहीं थी। उनमें से हर एक का प्रेमी जंगल जा रहा था। वे देवता से मन ही मन में मनौती मांगती।"[200]

इसी प्रकार से शिकार का उल्लेख 'पठार पर कोहरा' उपन्यास में मिलता है- उराँव आदिवासी समाज में हर बारहवें वर्ष आयोजित होता है 'जनीशिकार' का कार्यक्रम। उराँव समाज की सिनगी दाई और कैली दाई-दो वीर स्त्रियों की स्मृति को सुरक्षित रखने और अपनी महिलाओं के मर्दाने साहस के साथ मर्दों से जूझने के इतिहास को संरक्षित रखने का त्योहार है- जनीशिकार। शिकार का ऐसा आयोजन जिसमें जनजातीय स्त्रियाँ मर्दों का वेष धारण कर शिकार पर निकलती हैं। साथ कोई पुरूष नहीं होता।"[201]

शिकार में असफल मुण्डा फिर-फिर प्रयास करता है। एक बार शिकार हेतु प्रस्तुत हो जाने के बाद खाली हाथ लौटना अपशगुन है जंगल में। एक चिड़िया भी मार लेना आवश्यक है अन्यथा शस्त्र प्यासे रह जाते हैं। अपना ही अंग-भंग होने का खतरा होता है पर वह युवक...! अब जनजातियों का जीवन-संघर्ष इतना झटिल हो चुका है कि सम्भवतः शकुन-अपशकुन का भय भी जाता रहा है। एक संघर्षमय इतिहास की संवाहक जाति का ऐसा टूटा मनोबल...।"[202]

संदर्भ-सूची

1. जनजातीय भारत - नदीम हसनैन, पृ. 39

2. शैलूष - शिवप्रसाद सिंह, पृ. 250

3. गगन घटा घहरानी - मनमोहन पाठक, पृ. 12

4. वरूण के बेटे - नागार्जुन, पृ. 9

5. मृगनयनी - वृन्दावनलाल वर्मा, पृ. 22

6. गगन घटा घहरानी - मनमोहन पाठक, पृ. 188

7. जंगल के फूल - राजेन्द्र अवस्थी, पृ. 125

8. जंगल के फूल - राजेन्द्र अवस्थी, पृ.126

9. धूणी तपे तीर - हरिराम मीणा, पृ. 44

10. रथ के पहिए - देवेन्द्र सत्यार्थी, पृ. 251

11. नदी के मोड़ पर - दामोदर सदन, पृ. 98

12. जंगल के फूल - राजेन्द्र अवस्थी, पृ. 56

13. लोकायत - देवी प्रसाद चटोपाध्याय, पृ. 214

14. लोकायत - देवी प्रसाद चटोपाध्याय, पृ. 224

15. लोकायत - देवी प्रसाद चटोपाध्याय, पृ. 238

16. वनलक्ष्मी - योगेन्द्रनाथ सिन्हा, पृ. 75

17. पाँव तले की दूब - संजीव, पृ. 26, 27

18. वन-लक्ष्मी - योगेन्द्रनाथ सिन्हा, पृ. 9

19. जंगल के आसपास - राकेश वत्स, पृ. 149, 150

20. गगन घटा घहरानी - मनमोहन पाठक, पृ. 37,38

21. गगन घटा घहरानी - मनमोहन पाठक, पृ. 38, 39

22. नदी के मोड़ पर - दामोदर सदन, पृ. 37

23.	पठार पर कोहरा	- राकेश कुमार सिंह,	पृ. 47
24.	ल्कावे	- जयसिंह,	पृ. 32
25.	ल्कावे	- जयसिंह,	पृ. 33
26.	नदी के मोड़ पर	- दामोदर सदन,	पृ. 143
27.	जंगल के फूल	- राजेन्द्र अवस्थी,	पृ. 223
28.	क्लावे	- जयसिंह,	पृ. 31
29.	क्लावे	- जयसिंह,	पृ. 31
30.	पठार पर कोहरा	- राकेश कुमार सिंह,	पृ. 47
31.	गगन घटा घहरानी	- मनमोहन पाठक,	पृ. 8
32.	धूणी तपे तीर	- हरिराम मीणा,	पृ. 45
33.	क्लावे	- जयसिंह,	पृ. 33
34.	रथ के पहिए	- देवेन्द्र सत्यार्थी,	पृ. 76
35.	पठार पर कोहरा	- राकेश कुमार सिंह,	पृ. 23, 24
36.	वन के मन में	- योगेन्द्र नाथ सिन्हा,	पृ. 25
37	सूरज किरण की छांव	- राजेन्द्र अवस्थी,	पृ. 36, 37, 38
38.	पाँव तले की दूब	- संजीव,	पृ. 40, 41
39.	पठार पर कोहरा	- राकेश कुमार सिंह,	पृ. 45
40.	पठार पर कोहरा	- राकेश कुमार सिंह,	पृ. 48
41.	बाजत हनहद ढोल	- मधुकर सिंह,	पृ. 78
42.	पठार पर कोहरा	- राकेश कुमार सिंह,	पृ. 17

43. पठार पर कोहरा - राकेश कुमार सिंह, पृ. 18.

44. पठार पर कोहरा - राकेश कुमार सिंह, पृ. 18

45. सूरज किरण की छाँव - राजेन्द्र अवस्थी, पृ. 36

46. पठार पर कोहरा - राकेश कुमार सिंह, पृ. 24

47. पठार पर कोहरा - राकेश कुमार सिंह, पृ. 24

48. जंगल के फूल - राजेन्द्र अवस्थी, पृ. 14

49. वन के मन में - योगेन्द्र नाथ सिन्हा, पृ. 85

50. वन के मन में - योगेन्द्र नाथ सिन्हा, पृ. 91

51. गगन घटा घहरानी - मनमोहन पाठक, पृ. 91

52. रेत - भगवान दास मोरवाल पृ. 81

53 रेत - भगवानदास मोरवाल, पृ. 81. 82

54. रेत - भगवानदास मोरवाल, पृ. 18, 19, 20, 21

55. सूरज किरण की छाँव - राजेन्द्र अवस्थी, पृ. 24, 25

56. पठार पर कोहरा - राकेश कुमार सिंह, पृ. 68, 69, 70

57. गगन घटा घहरानी - मनमोहन पाठक, पृ. 89, 90

58. गगन घटा घहरानी - मनमोहन पाठक, पृ. 91

59. बाजत अनहद ढोल - मधुकर सिंह, पृ. 19

60. बाजत अनहद ढोल - मधुकर सिंह, पृ. 6

61. आदिवासियों के बीच - श्रीचंद्र जैन, पृ. 15

62. बाजत अनहद ढोल - मधुकर सिंह, पृ. 6

63. बाजत अनहद ढोल - मधुकर सिंह, पृ. 28

64. वनलक्ष्मी - योगेन्द्र नाथ सिन्हा, पृ. 75

65. वन लक्ष्मी - योगेन्द्र नाथ सिन्हा, पृ. 75

66. लोकायत - देवी प्रसाद चटोपाध्याय, पृ. 69

67. लोकायत - देवी प्रसाद चटोपाध्याय, पृ. 69

68. लोकायत - देवी प्रसाद चटोपाध्याय, पृ. 69, 70

69. आदिवासियों के बीच - श्रीचंद्र जैन, पृ. 95

70. आदिवासियों के बीच - श्रीचंद्र जैन, पृ. 95

71. आदिवासियों के बीच - श्रीचंद्र जैन, पृ. 95

72. पाँव तले की दूब - संजीव, पृ. 27

73. पाँव तले की दूब - संजीव, पृ. 27

74. आदिवासियों के बीच - श्रीचंद्र जैन, पृ. 81

75. आदिवासियों के बीच - श्रीचंद्र जैन, पृ. 81, 82

76. जंगल के फूल - राजेन्द्र अवस्थी, पृ. 10, 11

77. जनजातीय भारत - डॉ. ए.आर.एन. श्रीवास्तव, पृ. 96

78. गगन घटा घहरानी - मनमोहन पाठक, पृ. 16

79. गगन घटा घहरानी - मनमोहन पाठक, पृ. 16

80 गगन घटा घहरानी - मनमोहन पाठक, पृ. 16, 17

81. गगन घटा घहरानी - मनमोहन पाठक, पृ. 17

82. गगन घटा घहरानी - मनमोहन पाठक, पृ. 92, 93

83. गगन घटा घहरानी - मनमोहन पाठक, पृ. 93

84. काला पादरी - तेजिन्दर, पृ. 71, 72

85. काला पादरी - तेजिन्दर, पृ. 73, 74

86. काला पादरी - तेजिन्दर, पृ. 71

87. काला पादरी - तेजिन्दर, पृ. 72

88. काला पादरी - तेजिन्दर, पृ. 73

89. जंगल के फूल - राजेन्द्र अवस्थी, पृ. 17

90. जंगल के फूल - राजेन्द्र अवस्थी, पृ. 17

91. जंगल के फूल - राजेन्द्र अवस्थी, पृ, 20

92. जंगल के फूल - राजेन्द्र अवस्थी, पृ. 20

93. जंगल के फूल - राजेन्द्र अवस्थी, पृ. 20

94. जंगल के फूल - राजेन्द्र अवस्थी, पृ. 21, 22

95. पठार पर कोहरा - राकेश कुमार सिंह, पृ. 183

96. पठार पर कोहरा - राकेश कुमार सिंह, पृ. 183

97. पठार पर कोहरा - राकेश कुमार सिंह, पृ. 183

98. पठार पर कोहरा - राकेश कुमार सिंह, पृ. 45

99. पठार पर कोहरा - राकेश कुमार सिंह, पृ. 45

100. पठार पर कोहरा - राकेश कुमार सिंह, पृ. 45

101 लोक कथा विज्ञान - श्रीचन्द्र जैन, पृ. 43

102. लोक कथा विज्ञान - श्रीचन्द्र जैन, पृ. 44

103. लोक कथा विज्ञान - श्रीचन्द्र जैन, पृ. 49, 50

104. लोक कथा विज्ञान - श्रीचन्द्र जैन, पृ. 51

105. लोक कथा विज्ञान - श्रीचन्द्र जैन, पृ. 51

106. लोक कथा विज्ञान -श्रीचन्द्र जैन, पृ. 51

107. लोक कथा विज्ञान - श्रीचन्द्र जैन, पृ. 52

108. लोक कथा विज्ञान - श्रीचन्द्र जैन, पृ. 53

109. पठार पर कोहरा - राकेश कुमार सिंह, पृ. 98, 99

110. काला पादरी - तेजिन्दर, पृ. 75, 76

111. जंगल के फूल - राजेन्द्र अवस्थी, पृ. 62, 63

112. जंगल के फूल - राजेन्द्र अवस्थी, पृ. 154

113. जंगल के फूल - राजेन्द्र अवस्थी, पृ. 155, 156

114. पठार पर कोहरा - राकेश कुमार सिंह, पृ. 220

115. पठार पर कोहरा - राकेश कुमार सिंह, पृ. 221

116. शैलूष - शिवप्रसाद सिंह, पृ. 132, 133

117. अल्मा कबूतरी - मैत्रेयी पुष्पा, पृ. 34, 35

118. अल्मा कबूतरी - मैत्रेयी पुष्पा, पृ. 129

119. बाजत अनहद ढोल - मधुकर सिंह, पृ. 34, 35

120. आदिवासी लोक-2, - सं. रमणिका गुप्ता, पृ. 44

121. आदिवासी लोक-2, - सं. रमणिका गुप्ता, पृ. 44

122. आदिवासी लोक-2, - सं. रमणिका गुप्ता, पृ. 45

123. लोक साहित्य सिद्धान्त और प्रयोग - श्रीराम शर्मा, पृ, 54, 55

124. जंगल के फूल - राजेन्द्र अवस्थी, पृ. 150

125. शैलूष - शिवप्रसाद सिंह, पृ. 259

126. जंगल के फूल - राजेन्द्र अवस्थी, पृ. 147

127. पठार पर कोहरा - राकेश कुमार सिंह, पृ. 211

128. जंगल के फूल - राजेन्द्र अवस्थी, पृ. 147

129. जंगल के फूल - राजेन्द्र अवस्थी, पृ. 108

130. जंगल के फूल - राजेन्द्र अवस्थी, पृ. 109

131. सूरज किरण की छांव - राजेन्द्र अवस्थी, पृ. 37

132. जंगल के गीत - राजेन्द्र अवस्थी, पृ. 107

133. पठार पर कोहरा - राकेश कुमार सिंह, पृ. 225

134. जंगल के फूल - राजेन्द्र अवस्थी, पृ. 56

135. गगन घटा घहरानी - मनमोहन पाठक, पृ. 9

136. गगन घटा घहरानी - मनमोहन पाठक, पृ. 205

137. शैलूष - शिवप्रसाद सिंह, पृ. 251

138. शैलूष - शिवप्रसाद सिंह, पृ. 131

139. पठार पर कोहरा - राकेश कुमार सिंह, पृ. 190

140. जंगल के गीत - पीटर पौल एक्का, पृ. 51

141. जंगल के गीत - पीटर पौल एक्का, पृ. 2

142. पठार पर कोहरा - राकेश कुमार सिंह, पृ. 202

143. पठार पर कोहरा - राकेश कुमार सिंह, पृ. 220, 221

144. पठार पर कोहरा - राकेश कुमार सिंह, पृ. 223

145. पठार पर कोहरा - राकेश कुमार सिंह, पृ. 224

146. जंगल के गीत - पीटर पौल एक्का, पृ. 60

147. जंगल के फूल - राजेन्द्र अवस्थी, पृ. 11

148. जंगल के फूल - राजेन्द्र अवस्थी, पृ. 89

149. जंगल के गीत - पीटर पौल एक्का, पृ. 126

150. जंगल के गीत - पीटर पौल एक्का, पृ. 126

151. जंगल के फूल - राजेन्द्र अवस्थी, पृ. 99

152. जंगल के फूल - राजेन्द्र अवस्थी, पृ. 99

153. जंगल के फूल - राजेन्द्र अवस्थी, पृ. 134

154. जंगल के गीत - पीटर पौल एक्का, पृ. 19

155. जंगल के गीत - पीटर पौल एक्का, पृ. 78, 79

155. जंगल के फूल - राजेन्द्र अवस्थी, पृ. 192

156. शैलूष - शिवप्रसाद सिंह, पृ. 134

157. जंगल के फूल - राजेन्द्र अवस्थी, पृ. 85

158. जंगल के फूल - राजेन्द्र अवस्थी, पृ. 53

159. जंगल के फूल - राजेन्द्र अवस्थी, पृ. 140

160. जंगल के फूल - राजेन्द्र अवस्थी, पृ. 143

161. जंगल के फूल - राजेन्द्र अवस्थी, पृ. 147

162. जंगल के फूल - राजेन्द्र अवस्थी, पृ. 149

163. कब तक पुकारूं - रांगेय राघव, पृ. 49, 50

165. शैलूष - शिवप्रसाद सिंह, पृ. 9

166. शैलूष - शिवप्रसाद सिंह, पृ. 31

167. शैलूष - शिवप्रसाद सिंह, पृ. 160

168. सूरज किरण की छांव - राजेन्द्र अवस्थी, पृ. 61

169. सूरज किरण की छांव - राजेन्द्र अवस्थी, पृ. 112

170. जंगल के गीत - पीटर पौल एक्का पृ. 66

171. सूरज किरण की छांव - राजेन्द्र अवस्थी, पृ. 77

172. सूरज किरण की छांव - राजेन्द्र अवस्थी, पृ. 111

173. आदिवासियों के बीच - श्रीचंद्र जैन, पृ. 24

174. आदिवासियों के बीच - श्रीचंद्र जैन, पृ. 28, 29, 30

175. जंगल के आसपास - राकेश वत्स, पृ. 52

176.	जंगल के आसपास	- राकेश वत्स,	पृ. 203
177.	जंगल के आसपास	- राकेश वत्स,	पृ. 204. 205
178.	जंगल के फूल	- राजेंद्र अवस्थी,	पृ. 18
179	जंगल के फूल	- राजेन्द्र अवस्थी,	पृ. 19
180.	वन के मन में	- योगेन्द्र नाथ सिन्हा,	पृ. 11, 12, 13
181.	वन के मन में	- योगेन्द्र नाथ सिन्हा,	पृ. 23
182.	जंगल के फूल	- राजेन्द्र अवस्थी,	पृ. 17
183.	आजकल, सितंबर	- 2004,	पृ. 29
184.	आजकल, सितंबर	- 2004,	पृ 29, 30
185.	आजकल, सितंबर	- 2004,	पृ 31
186.	आजकल, सितंबर	- 2004,	पृ 31
187.	आजकल, सितंबर	-2004.	पृ. 31
188.	आजकल, सितंबर	- 2004,	पृ. 32
189.	पठार पर कोहरा	- राकेश कुमार सिंह,	पृ. 80
190.	आदिवासियों के बीच	- श्रीचंद्र जैन,	पृ. 100
191.	जंगल के फूल	- राजेन्द्र अवस्थी,	पृ. 22, 23, 24
192.	आदिवासियों के बीच	- श्रीचंद्र जैन,	पृ. 102
193.	आदिवासियों के बीच	- श्रीचंद्र जैन,	पृ. 102
194.	जनजातीय महिलाएँ	- रेशमा खलखो,	पृ. 99, 100

195.	आजकल-जुलाई	- 1987,	पृ. 38, 39
196.	जनजातीय महिलाएँ	- रेशमा खलखो,	पृ. 98, 99
197.	जनजातीय महिलाएँ	- रेशमा खलखो,	पृ. 104
198.	जनजातीय महिलाएँ	- रेशमा खलखो,	पृ. 101
199.	आजकल-मार्च	- 1987,	पृ. 15, 16, 48
200.	जंगल के पूल	- राजेन्द्र अवस्थी,	पृ. 98, 99
201.	पठार पर कोहरा	- राकेश कुमार सिंह,	पृ. 65
202.	पठार पर कोहरा	- राकेश कुमार सिंह,	पृ. 156

चतुर्थ अध्याय

हिन्दी के जनजातीय परक उपन्यासों में चित्रित समस्याएँ

चतुर्थ अध्याय

हिन्दी के जनजातीय परक उपन्यासों में चित्रित समस्याएँ

जनजातियों की समस्याएँ बहुआयामी तथा बहुरंगी हैं। ये समस्याएँ जनसांख्यिकी ह्रास से लेकर राष्ट्रीय एकता तक की हैं। दूसरी ओर अलग-अलग जनजातियों की प्रतिक्रियाएँ इन समस्याओं को लेकर भिन्न-भिन्न हैं। यह भिन्नता उस समय और भी विकट हो जाती है जब हम पाते हैं कि एक ओर तो भारत में भील, गोंड तथा संथाल जैसी बड़ी जनसंख्या वाली जनजातियाँ हैं, वहीं दूसरी ओर कुछ ऐसी जनजातियाँ हैं जिनकी जनसंख्या 1000 से भी कम हैं। विभिन्नता के इस मुद्दे को सांस्कृतिक स्तर पर देखा तथा परखा जा सकता है।

जनजातियों द्वारा सामना किये जा रहे विभिन्न समस्याओं के बावजूद सभी समस्याओं का स्रोत बाह्य जगत से सम्पर्क में छिपा है। जब तक जनजातियों का सम्पर्क बाह्य जगत से नहीं हुआ था अर्थात् वे एकाकी निवास करते थे और वे अपनी साम्य-व्यवस्था के अन्तर्गत जीवन यापन करते थे तब तक उन्हें किसी भी प्रकार की समस्याएँ नहीं थीं। ये विभिन्न समस्याएँ तब शुरू हुई जब बाहरी लोगों का जनजातीय क्षेत्रों में आना-जाना प्रारंभ हो गया। जनजातियों के इस दावे के बावजूद कि वे भारत के मूल निवासी अर्थात् 'धरती पुत्र' हैं उन्हें उनके अपने निवास क्षेत्र से विस्थापित कर दिया गया।

बी.एस. गुहा ने 1931 की जनगणना के दौरान यह स्पष्ट किया था कि- "जनजातीय समाज गंभीर

सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक कुण्ठा के दौर से गुजर रहा है तथा उनमें से कुछ में जीने की तमन्ना समाप्त हो गई है।"[1] डी.एन. मजुमदार ने भी प्रशासकों का ध्यान जनजातीय जनसंख्या में कमी की ओर आकृष्ट किया था। ये सारी समस्याएँ संपर्क स्थिति के कारण ही उपज थीं। परन्तु जनजातियों का शोषण निर्विघ्न चलता रहा। यहाँ तक कि "सन् 1971 ई. में 371 मुरिया जनजाति लड़कियों ने आत्महत्या की, क्योंकि बाह्य समाज के लोगों ने उन्हें गर्भवती बना दिया था तथा बिना शादी के गर्भवती हो जाने से उनकी सामाजिक व्यवस्था में उन्हें कोई स्थान प्राप्त नहीं था।"[2] इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि मध्य-भारत के अधिकांश जनजातीय क्षेत्रों में बाहरी व्यक्तियों को ये जनजाति घृणा तथा संदेह की दृष्टि से देखते हैं। बिहार के जनजातीय क्षेत्रों में बाहर से आकर बसे गैर जनजातीय लोगों को वे 'दिकू' कह कर पुकारते हैं।

इसी क्रम में हेमिण्डार्फ ने सन् 1954 गोंड जनजाति की तुलना आपातानी जनजाति से किया। उन्होंने पाया कि- "गोंड़ की तुलना में आपातानी जनजाति काफी विकसित हैं। उन्होंने कई नये व्यवसायों को अपनाया तथा वे सरकारी नौकरी में भी प्रवेश पा गये हैं। इसका मुख्य कारण यह था कि आपातानी जनजाति जिस क्षेत्र में निवास करते थे वह बाह्य जगत से अछूता था। इनका निवास स्थल बीहड़ पहाड़ी क्षेत्र में था जिसके फलस्वरूप यह स्थल बाहरी लोगों के शोषण से अछूता था। इसकी तुलना में गोंड क्षेत्र हमेशा बाहरी लोगों के संपर्क मे रहा तथा एक बार जब गैर जनजातीय लोगों की पहुँच इनके क्षेत्र में हो गयी तो उन्होंने जनजातीय लोगों का शोषण शुरू कर दिया। उन्होंने इनके जमीन को हड़प कर बंधुआ मजदूर बनने पर मजबूर कर दिया, और इस प्रकार धरती पुत्रों को अपने ही क्षेत्र से पलायन करने पर मजबूर होना पड़ा।"[3]

हेमिण्डार्फ यह मानते हैं कि- "संपर्क स्थिति से उत्पन्न जनजातीय समस्याएँ ऐतिहासिक नहीं हैं अर्थात् संपूर्ण ऐतिहासिक काल में इस प्रकार की स्थिति नहीं थी। मुस्लिम शासन के दौरान शासक जनजातीय समाज को परिवर्तित करने के पक्षपाती थे परन्तु उनकी नीति अहस्त क्षेप की थी, तथा जनजातीय समाज के लिए उनके मन में आदर था। राजस्व अधिकारी कर वसूलने के लिए जनजातीय गाँवों का दौरा करते थे और इस प्रकार जनजातीय समाज का संपर्क बाह्य जगत से था परन्तु बीहड़ जंगलों तथा पहाड़ों स्थित जनजातीय जनसंख्या बाह्य जगत के संपर्क से अछूत थी।"[4]

परन्तु अंग्रेजों के आगमन के साथ-साथ देश का अकादमिक तथा गैर अकादमिक शोषण प्रारम्भ हो गया। देश के वृहत अगम्य क्षेत्रों की खोज साहसिक यात्रा करने वालों तथा सामाजिक कार्यकर्ताओं द्वारा की गई। इसके पश्चात् अंग्रेजों का लक्ष्य देश को बाहरी लोगों के लिए खोलना था, ताकि देश के प्रकृतिक संसाधनों का वृहत पर दोहन किया जा सके। इसके अंतर्गत देश में रेल मार्ग बिछाए गए तथा यातायात के अन्य साधनों की स्थापना की गई जिससे देश को एक सूत्र के रूप में जोड़ा जा सके। अंग्रेजों की इस नीति के कारण जनजातीय क्षेत्रों में बाहरी लोगों की आवाजाही बढ़ गई। ऐसे लोगों को स्थानीय प्रशासन का संरक्षण प्राप्त था। इस कारण जनजातीय क्षेत्रों का समीकरण बिगड़ गया।

संपर्क स्थिति का पहला प्रभाव यह हुआ कि जनजातीय संख्या में ह्रास होना प्रारंभ हो गया। कुछ जनजातीय क्षेत्रों में जनजातियों की संख्या घटने लगी तथा इसका कारण बाहरी लोग तथा उनके संपर्क को माना जा सकता है। इस संदर्भ में सबसे अधिक प्रभावित द्वीप निवासी थे। सन् 1858 अंडमान की जनसंख्या लगभग 5000 आकलित की गई थी। भारत के राजपत्र, 1908 में यह उल्लिखित है कि- "अंडमान की जनसंख्या में ह्रास का कारण इस क्षेत्र में छुआछूत तथा संक्रमण की बीमारी का आगमन था। पहली बार इस रिपोर्ट में यह उल्लेख किया गया कि उच्च सभ्यता के साथ संपर्क का यह परिणाम था, तथा सभी संक्रमण की बीमारियाँ यहाँ बाहर से आई थी। निमोनिया (1892), सिफलिश (1876), चेचक (1877), इनफ्लूंजा (1892) जैसे संक्रमण तथा छुआछूत की बीमारी के कारण मृत्युदर में काफी वृद्धि हुई। बाहर से आई इन बीमारियों के साथ-साथ यहाँ की जनसंख्या जंगल के कटाव के कारण पर्यावरणीय असुंतलन का भी शिकार बनी। पहले यहाँ के निवासी घने जंगलों में रहते थे। इस कारण वे सूर्य की गर्मी तथा तेज हवाओं से अपने को बचा पाने में सक्षम थे। एक बार जब जंगल का कटना प्ररंभ हो गया तो जनजातीय जनसंख्या पर्यावरणीय दबाव के सक्षमनत हो गई। इसके परिणामस्वरूप वे अपने को वातावरण में हुए परिवर्तनों के अनुरूप नहीं ढाल सके।"[5] भारत के राज पत्र में यह वर्णित है कि "अधिक कपड़े पहनना तथा अपने अंगों को कपड़े से ढके रखने के लिए सांस्कृतिक अनुकूलन अपेक्षित है जिससे यहाँ के निवासी अनभिज्ञ थे। इसके साथ-साथ बाहरी लोगों द्वारा जनजातियों के शोषण में और वृद्धि हुई तथा इसके परिणाम स्वरूप इनकी जनसंख्या में और कमी आई। सन् 1901 की जनगणना के अनुसार अंडमान की जनसंख्या 625 थी, 1911 में 455 थी, 1921 में 209 थी, 1931 में उनकी संख्या घटकर 90 हो

गई तथा 1951 की जनगणना के अनुसार उनकी जनसंख्या घटकर 23 रह गई।"[6] यहाँ यह भी स्पष्ट करना आवश्यक होगा कि अंडमान की जनसंख्या में यह ह्रास जाति प्रथा में विलय या नगरों व औद्योगिक क्षेत्रों की ओर पलायन के कारण नहीं हुआ था, जो कुछ विशिष्ट क्षेत्रों में जनजातीय जनसंख्या के ह्रास का कारण हो सकती है।

इस संबंध में मजुमदार का यह मानना है कि "सभ्यता के साथ संपर्क जनजातीय समस्याओं के उप्तन्न होने का मुख्य कारक है। जनसंख्या ह्रास, जमीन से बेदखली, विस्तापन आदि जैसी समस्याएँ इसी की देन हैं।"[7]

मजुमदार के अनुसार निम्न कारक जनजातियों की समस्याओं के लिए उत्तरदायी माने जा सकते हैं- "

1. जनजातीय क्षेत्रों तथा आसपास के इलाके में पाए जाने वाले खनिज सम्पदाओं ने बाहरी लोगों को अपनी ओर आकृष्ट किया जिसके परिणामस्वरूप वे अपने क्षेत्र से विस्थापित हुए।

2. प्रशासकों तथा मिशनरी कार्यकर्ताओं के प्रवेश ने जनजातीय समाज में परिवर्तन की गति को काफी तेज कर दिया। साथ ही, विशेषकर मध्य भारत में, जनजातियों की जमीन हड़प ली गई तथा उन्हों बंधुआ मजदूर बनने पर मजबूर किया गया।

3. अधिकांश जनजातियों में कृषि की प्रचलित पद्धति झूम खेती थी जिसे प्रशासकों ने जंगलों के नष्ट होने के एक प्रमुख कारक के रूप में देखा। इसके परिणामस्वरूप ऐसी जनजाति जो झूम खेती में संलग्न थी, उन्हें अपने परम्परागत क्षेत्र से विस्थापित कर दिया गया। अंग्रेजों ने इन जनजातियों को उनके परम्परागत निवास स्थान से हटाकर नए क्षेत्र में वास कराया जिसके परिणामस्वरूप वे नए वातावरण तथा आसपास के नये लोगों के शोषण के शिकार हुए। साथ ही इसके फलस्वरूप उन्हें सांस्कृतिक अघात लगना स्वाभाविक था। दुर्भाग्यवश स्वतंत्र भारत में भी यह नीति लागू रही।

4. सरकार द्वारा स्थानीय शराब के निर्माण पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया इससे जनजातियों के लिए समस्या उत्पन्न हो गई क्योंकि शराब जनजातीय सामाजिक संरचना का एक मूलभूत अवयव है। एक बार जब मद्य

निषेध की नीति लागू हो गई तो न सिर्फ अवैध शराब निर्माण की प्रक्रिया शुरू हो गई बल्कि साथ ही साथ जनजातियों की बाहरी लोगों पर निर्भरता भी बढ़ गई।

5. अंग्रेज सरकार ने जनजातियों के कुछ रीति-रिवाजों को असामाजिक माना तथा इसका उल्लंघन करने वालों को सजा दी। जैसे- हरण विवाह। जनजातियों की दृष्टि में यह एक सामान्य विवाह की प्रथा थी परन्तु अंग्रेजों ने इसे हरण माना तथा कानून के अन्तर्गत इसे दंडनीय करार दिया गया। इसी प्रकार स्थानीय कानून द्वारा जमीन आदि से संबंधित झगड़ों को निपटाने के लिए स्थापित संस्थाएं जैसे जनजातीय पंचायत आदि को अवैधानिक घोषित किया गया। इस प्रकार जनजातीय संस्कृति उनके लिए मजाक का एक विषय बन गया।

6. मिशनरी कार्यकर्ताओं को जनजातियों के क्षेत्र में प्रवेश की अनुमति दी गई। निश्चित रूप से उन्होंने जनजातियों के विकास के लिए प्रशंसनीय कार्य किया है। उन्होंने सांस्कृतिकरण, आधुनिकीकरण जैसी सामाजिक प्रक्रियाओं में उनकी सहायता की है। उत्तर-पूर्वी भारत में मिशनरी क्रियाकलापों के कारण काफी परिवर्तन आये तथा ईसाइयत ने इस क्षेत्र में सकारात्मक प्रभाव छोड़ा है। परंतु मध्य भारत में जहाँ धार्मिक विविधता पहले से ही विद्यमान थी तथा जहाँ पहले से ही हिन्दू वृहत परम्परा क्रियाशील थी वहाँ मिशनरी क्रिया कलापों ने नकारात्मक प्रभाव छोड़ा तथा इसे संदेह की दृष्टि से देखा गया। साथ ही मिशनरी द्वारा लागू नई शिक्षा पद्धति जनजातियों के परम्परागत जीवन पद्धति के अनुरूप नहीं थी।"[8]

बाहरी लोगों द्वारा लाए गए इन सभी परिवर्तनों को जनजातीय समाज ने या तो आत्मसात कर लिया या उन्होंने इसके विरुद्ध विद्रोह शुरू कर दिया। 'संथालो' ने सन् 1855 ई. में इस प्रकार के शोषण के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह किया। हालाँकि इस विद्रोह को दबा दिया गया परन्तु आज भी संथालों के लोक संगीत में इसे याद किया जाता है। 'उराँव' जनजाति ने ताना भगत के नेतृत्व में अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया तथा उन्होंने अपने पुराने रीति-रिवाजों को पुनः स्थापित करने का प्रयास किया। इसी प्रकार मुंडा जनजाति ने बिरसा मुंडा के नेतृत्व में पश्चिमी संस्कृति को नकार दिया तथा अपने परम्परागत संस्कृति को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया। इस प्रकार के आंदोलनों को सांस्कृतिक पुनरूज्जीवनवादी आंदोलन कहा जाता है जो जनजातीयता-क्षरण के सभी प्रयासों के विरुद्ध था।

भारत में जब से मुगलों और अन्य लोगों का आक्रमण शुरू हुआ तब से इनके जीवन में बदलाव आना शुरू हुआ। राज्य में आर्थिक मंदी के कारण अब तक कोई कर न देने वाले आदिवासियों से भी कर लेने लगे। उसके बाद, जब अंग्रेज आये, भारत की वास्तविक संपदा की निधि अरण्यों को देखा, अपनी कूट नीति द्वारा वन कानून बनाना आरम्भ किये। इस वन संपदा को जंगल से बाहर ले जाने के लिए जंगल के भीतर तक सड़कों का निर्माण हुआ। परिणामस्वरूप तब से आदिवासियों के बुरे दिने आरम्भ हुए, क्योंकि सड़क निर्माण की बदौलत ही पहले पहल शोषण तंत्र का कदम आदिवासियों के जीवन पर पड़ा। भारतीय आदिवासियों की समस्याएँ अन्य गैर आदिवासियों की समस्याओं की तुलना में भिन्न हैं। आदिवासी विकास की उन विभिन्न अवस्थाओं से अभी तक नहीं गुजर पाये हैं और न ही सामाजिक व आर्थिक स्तर की उस मंजिल तक पहुँच सके हैं, जिसे आदिवासियों के अतिरिक्त अन्य समाजवाले प्राप्त कर चुके हैं। इस प्रकार आदिवासी समुदायों की जीवनगत समस्याएँ मुख्य समाज से नितांत भिन्न हैं। कुछ समस्याएं आदिवासियों की सामाजिक व धार्मिक विश्वासों के चलते उत्पन्न हुई हैं, तो कई समस्याएं गैर आदिवासियों के सम्पर्क से भी अनेक उत्त्पन्न हुई। प्रशासनिक नीतियाँ भी कई समस्याओं का कारण रही हैं। जंगल से संबंधित नियम व कानून तथा अस्थाई कृषि नियंत्रण से इनकी अर्थव्यवस्था बुरी तरह से प्रभावित हुई है। शिक्षा प्रसार, और आत्मसात्कार कस्बों में प्रवेश से विशेष प्रकार की समस्याएँ सामने आयी हैं।

संपर्क स्थिति से उत्पन्न जनजातीय समस्याएँ स्वतंत्र भारत में भी विद्यमान हैं। हालाँकि कई कानूनों द्वारा इसका निदान का प्रयास किया जा रहा है तथा यह भी प्रयास किया जा रहा है कि वे वृहत परम्परा तथा देश की मुख्य धारा में सम्मिलित हो जाए। वास्तव में जनजातीय समस्याओं को विभिन्न आयामों से देखने और समझने की आवश्यकता है तभी हम उसके निदान का समुचित उपाय कर सकते हैं। अब हम भारतीय जनजातियों की प्रमुख समस्याओं पर विस्तार से चर्चा करेंगे, आदिवासियों में व्याप्त मूल समस्याएँ जो वास्तविक रूप में मानवशास्त्रियों ने स्वीकार की है, का अध्ययन के साथ-साथ उपन्यासों में लेखकों द्वारा उठाई गई समस्याओं का मूल्यांकन करते चलना ही हमारा प्रमुख उद्देश्य है।

4.1. **ऋणग्रस्तता** (Indebtedness)

भारतीय जनजातियों में आर्थिक विपन्नता तथा गरीबी के लिए पारम्परिक महाजनी प्रणाली एक प्रमुख

कारक है। भारत में अधिकांश जनजातियाँ हिन्दू जातिगत व्यवस्था के आसपास ही निवास करती हैं तथा इन पर विभिन्न प्रकार के विनिमय के लिए आश्रित हैं। मानवशास्त्रीय अध्ययनों से पता चलता है कि- "जनजातीय धार्मिक कर्मकाण्डों तथा अन्य समारोहों पर काफी व्यय किया जाता है जो उनकी सीमित आय से संभव नहीं है। जब भी उन्हें इस प्रकार की आवश्यकता पड़ती है वे साहुकारों पर इसकी पूर्ति के लिए निर्भर करते हैं। परन्तु एक बार साहुकार के चंगुल में आ जाने पर उनका इस व्यूह से निकलना असंभव हो जाता है। आज उत्तर-पूर्व के कुछ क्षेत्रों को छोड़कर समस्त भारतीय जनजातियाँ ऋणों के बोझ से दबी हुई है।"[9]

इस ऋणग्रस्तता का मुख्य कारण है निर्धनता, दुर्बल आर्थिक व्यवस्था, अज्ञानता तथा भुखमरी। मानवशास्त्रीय अध्ययनों से यह स्पष्ट होता है कि साहुकारों, ठेकेदारों तथा अन्य अजनजातियों के इनके क्षेत्र में प्रवेश से पूर्व जनजातियाँ इतनी निर्धन, विवश तथा दुर्बल नहीं थीं। ये लोग वस्तुतः आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर थे। वन संपदा पर इनका अधिकार था। परंतु इनके क्षेत्रों में खनिज सम्पदा के विपुल भंडार के कारण तथा वनों की कटाई के लिए गैर जनजातियों का प्रवेश इस क्षेत्र में हुआ। फिर आर्थिक विकास की योजनाओं के अन्तर्गत इन क्षेत्रों को विकसित करने के लिए इनके क्षेत्र सभी प्रकार के लोगों के लिए खोल दिये गए। प्रशासन के संगठित प्रयास की अनुपस्थिति में इन बाहरी लोगों ने इन जनजातियों की संवेदन शीलता का भरपूर लाभ उठाया और कालान्तर में ये आर्थिक रूप से विपन्न हो गई। जनजातियों में ऋणग्रस्तता के आर्थिक पक्ष के साथ-साथ सामाजिक व मनोवैज्ञनिक पक्ष भी महत्वपूर्ण है। इस समस्या के कारण आज ये लोग शांतिपूर्ण जीवन की आशा छोड़ चुके हैं। बहुत से क्षेत्रों में जनजातीय लोग ऋणग्रस्तता के कारण बंधुआ मजदूर बनने पर विवश होते हैं तथा यह मजदूरी पीढ़ी दर पीढ़ी चलती है।

भारतीय जनजातियों में ऋणग्रस्तता की समस्या का उद्‌भव बाहरी गैर जनजातीय लोगों द्वारा जनजातीय क्षेत्र में मुद्रा अर्थव्यवस्था लागू करने के समय से माना जा सकता है जिनका प्रवेश ब्रिटिश काल में जनजातीय क्षेत्रों में हुआ। मुद्रा पर आधारित अर्थव्यवस्था ने धीरे-धीरे अदला-बदली प्रणाली को प्रतिस्थापित कर दिया। सरल जीवन के आदि जनजातियों ने साहुकारों तथा महाजनों की दुर्भावनाओं को सपनों में भी नहीं सोचा होगा, जिन्होंने केवल उनकी अर्थव्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर दिया बल्कि उनके चेहरे की खुशी और संतोष को भी सदा के लिए समाप्त कर दिया। जनजातियों में ऋणग्रस्तता के निम्न कारण हैं -

1. संस्थागत वित्तपोषण के स्रोतों तथा वर्तमान वैधानिक संरक्षण के संबन्ध में जानकारी का अभाव।

2. जनजातियों में भीषण गरीबी तथा भुखमरी।

3. वर्तमान ऋण प्रदान करने संबन्धी कानूनों में दोष।

4. संस्थागत स्रोतों से ऋण तथा उपभोक्ता उधार प्राप्त करने के लिए क्लिष्ट कार्य प्रक्रिया अनुपालन न कर पाना।

5. सरकार तथा बैंक कर्मचारियों का उदासीन रवैया।

6. साहुकारों तथा महाजनों की जनजातियों को बिना किसी जमानत के ऋण प्रदान करने की तत्परता। साहुकार तथा महाजन जनजातियों के मौखिक वचन पर पूरा भरोसा करते हैं।

7. आवश्यक वस्तुओं तथा कृषि संबन्धी उपकरणों का उचित मूल्य पर इन क्षेत्रों में आपूर्ति न किया जाना।

8. रोजगार संबन्धी अवसरों की कमी।

10. उपर्युक्त वैकल्पिक ऋण सुविधा के अभाव में जनजातियों को साहुकार या महाजन से ही ऋण लेने पर मजबूर होना पड़ता है तथा ऋणग्रस्तता को जीवन के एक अनिवार्य अंग के रूप में स्वीकार करना पड़ता है।

11. विवाह, मृत्यु, मेलों तथा उत्सवों, धार्मिक कर्मकांडों जैसे अवसरों पर अपनी क्षमता से अधिक व्यय करने की प्रवृत्ति।

12. भूमि तथा वनों पर जनजातीय अधिकारों का हनन।"[10] आदिवासी समुदायों के बीच जब कभी पहली बार गैर आदिवासियों के पैर पड़े होंगे, उसी समय से इनके शोषण की गाथा का आरम्भ कहा जा सकता है। यातायात की सुविधाओं के साथ-साथ बाहरी लोगों ने जनजातीय प्रदेशों में आना आरम्भ हुआ। जंगल के ठेकेदार, व्यापारी, प्रशासनिक अधिकारी, महाजन आदि ने जनजातीय लोगों के पिछड़ेपन एवं अशिक्षा का पूर्ण रूप से लाभ उठाया। सामान्य सामाजिक व धार्मिक क्रिया-कलापों हेतु समय-समय पर लिये गये ऋण जिनकी ब्याज दरें बहुत अधिक होती हैं और यह ब्याज बढ़ते-बढ़ते ऐसी धनराशि में परिवर्तित हो जाती है जिसे वापस करना इनकी सामर्थ्य से परे होता है। साहूकार कर्ज लेने वाले को कई तरह से बाध्य करता है। रामशरण जोशी साहूकोरों के कई आयामों को स्पष्ट करते हुए कहते हैं- "कर्ज का सूद पचास से लेकर पाँच सौ फीसदी तक वसूल किया जाता है। आदिवासियों के फसल को नष्ट करने के लिए जमींदार और महाजन अपने मवेशी गधे

और घोड़ों यहाँ तक की हाथी, अनाज भरे खेतों में जबरन घुसा देते हैं"[11] ऋण से ग्रस्त परिवार पीढ़ी दर पीढ़ी ऋण चुकाने के लिए वर्षों से घोर श्रम करना पड़ता है। कर्ज पर ब्याज की दर इतनी अधिक होती है कि पिता के ऋण को पुत्र भी कई सालों तक साहूकारों का सेवक बनकर भी नहीं चुका पाता है। सरकारी संस्थाओं की औपचारिकताएँ, उद्देश्यों, रिश्वत जैसी अड़चनों के चलते तथा सरकारी संस्थाएँ, समितियाँ केवल उत्पादक उद्देश्यों के लिए ऋण देती हैं, जब कि निर्धन जनजातीय लोगों को जीवन यापन के लिए, तथा विभिन्न सामाजिक रीति-रिवाज़ों को पूरा करने के लिए भी ऋण की आवश्यकता होती है।उस ऋण ग्रस्तता की भयंकरता के पीछे साहुकारों का शोषण प्रमुख है।

आदिवासियों में मुख्य समाज की भाँति कर्मकाण्ड, सामाजिक परम्पराएँ व भोज का प्रचलन है। 'गगन घटा गहरानी' का जागो उरांव इसी परम्परा का शिकार होता है। जागो अपने ससुर के मृत्योपरान्त कर्मकाण्ड तथा समाज को भोज देने के लिए जमींदार से दो मन अनाज और साठ रूपये लेता है, जिसका परिणाम वह आजीवन मालिक का बंधुआ बनकर रह जाता है। जागो के शब्दों में- "मालिक से दू मन गोंदली और साठ रूपया में लइन रहूँ। इकर बाद में जे हो गइल कि नीं, सकलो दइलो। दू मन का तीन साल में बारह मन लौटाया। तबो से कटिए नइखे, बाकिए है। और माँग करते, ग्यारह मन तुम और देओ।...ग्यारह मन अनाज तुम नहीं दिया, सो चलो सेवकिया। सो चल गइली।"[12] उरांव समुदाय साहुकारों, जमींदारों से ऋण लेकर अपनी स्वतंत्रता को खो देते हैं। इस उपन्यास का जागो ऋण लेकर अपनी अस्मिता खो देता है, लेकिन फिर भी ईमानदारी का तकाजा है मालिक का अत्याचार सहना "जो रे जोगवा तोर सब करना आज उतर गइल एही घड़ी के बाद सब नेकी बदी... सब चुक गईल। जिस के रास्ता बंद हो गइल।"[13] आदिवासियों के स्वभाव में व्याप्त उनकी ईमानदारी तथा उनका समर्पण भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। ऋण के भुगतान करने में जिससे अपना पेट काटकर भी साहुकारों का घर भरते हैं। दूसरी तरफ साहूकारों के शोषण का अंत नहीं। 'नदी के मोड़ पर' में साहूकार "सूद में एक रूपये का हजार रूपये वसूल कर चुके होते हैं, लेकिन असल और उसके सूद के वसूली फिर भी बाकी थी।"[14] ऋण समस्या 'गगन घटा घहरानी' के अलावा 'क्लावे' और 'नदी के मोड़

पर' में भी जरूर है पर ऋण से ग्रस्त आदिवासी के सामाजिक जीवन में जो हलचल और तबाही जैसी गगन घटा घहरानी' के जागो परिवार में दिखाई देती है, वैसी अन्य में नहीं। ऋण ग्रस्त उरांव जागो जमींदारी शोषण में पिसता है, पिटता है, पर चिल्लाता नहीं, आह भर कर अपनी नियति को स्वीकार करता है। वह जमींदार को दोषी नहीं मानता, अपितु स्वयं को अपराधी महसूस करता है। रचनाकार जागो के माध्यम से ऋण की भयंकरता व त्रासदी को सफलता के साथ निभा ले जाता है।

4.2. भूमि हस्तांतरण

जनजातियों के मामले में सैद्धांतिक तौर पर भूमि हस्तांतरण का अर्थ है- "जनजातीय भूमि जो कभी भी विक्रय संपत्ति नहीं थी, का गैरकानूनी ढंग से अजनजातीय या श्रेष्ठ जनजातीय द्वारा हड़पा जाना। अधिकांश जनजातीय समाज कृषि पर निर्भर करते हैं। उनके द्वारा प्रयुक्त कृषि तकनीकी के आधार पर इसे अलग-अलग वर्गों में बाँटा जा सकता है जैसे- स्थायी खेती, झूम खेती, सीढ़ीदार खेती आदि। परन्तु ये सब कृषि के ही अलग-अलग प्रकार हैं। जनजातियों में जमीन का स्वामित्व होता है तथा यहाँ सुपुर्दगी जैसी कोई बात नहीं होती है।"[15]

अध्ययन से यह पता चलता है कि जनजातियों का जमीन पर नियंत्रण गरीबी, ऋणग्रस्तता तथा उच्च समूह के दुष्कपट के कारण धीरे-धीरे अजनजातीय समूह के हाथों चला गया। परन्तु उत्तर पूर्वी क्षेत्र में भूमि हस्तांतरण के काफी कम मामले पाये गये हैं। कई मामलों में जनजातियों ने अनुपजाऊ जमीन कृषि की आदिम तकनीकी तथा अपने परिवार के पोषण लायक अन्न न उपजा पाने के कारण सस्ते में बाहरी लोगों को बेच दी तथा वे खेतिहार मजदूर बन गये।

प्राचीन काल में किसी जनजाति की पहचान उसके क्षेत्र से की जाती थी तथा कई मामलों में उनके नियंत्रण में आने वाले भू-भाग को उस विशेष जनजाति के नाम से जाना जाता था। पहले इनमें से अधिकांश आखेट तथा संग्रहण पर निर्भर करते थे। आज भी कई जनजातियाँ अपने जीवन यापन के लिए इन्हीं पेशों को अपनाती हैं। परंतु जब जनसंख्या का दबाव बढ़ा तथा जनजातियों ने भी खेती करने का ज्ञान प्राप्त किया तो उन्होंने भी जंगलों को काटकर खेती करना प्रारम्भ कर दिया। जनजातियों ने अपने पारम्परिक संबद्धता तथा

जमीन को कृषि योग्य बनाने में की गई मेहनत के कारण अपने संरक्षण में आनेवाले जमीन को अपनी-अपनी संपत्ति समझा तथा इस कारण ऐसे जमीन का स्वामित्व उनके पास रहा।

पूर्व में एक औसत जनजातीय परिवार के पास जमीन का काफी बड़ा टुकड़ा रहता था जिसके फलस्वरूप वे आदिम तकनीकी का इस्तेमाल करने के बावजूद भी अपने परिवार का भरण-पोषण कर लेते थे। परंतु आज ऐसा नहीं है।

जमीन पर बढ़ती जनसंख्या के दबाव ने विशेष कर अजनजातियों तथा समाज के प्रगतिशील वर्ग ने जनजातियों को अपनी जमीन से विस्थापित होने पर मजबूर किया। बीसवीं शताब्दी के प्रथम भाग में भूमि हस्तांतरण ने जनजातियों के लिए गंभीर समस्याएँ उत्पन्न नहीं की क्योंकि इसके बाद भी जंगलों की बहुतायत थी। बढ़ती हुई जनजातीय जनसंख्या के लिए अतिरिक्त भूमि की आवश्यकता को जंगलों को काटकर उसे खेतों में बदलकर पूरा कर लिया जाता था।

काफी समय तक जनजातीय क्षेत्र भूमि प्रबंधन प्रणाली के दायरे से बाहर रही क्योंकि ये क्षेत्र अगम्य थे। जनजातीय समुदायों ने स्वयं की पारम्परिक भूमि प्रबंधन प्रणाली विकसित की। जनजातियों में भूमि स्वामित्व को तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है, जो उनके पारम्परिक रीति रिवाजों द्वारा नियंत्रित होते हैं -

i. सामुदायिक जमीन

ii. कुल गोत्र की जमीन

iii. व्यक्तिगत जमीन

हाँलाकि जनजातियों में जमीन पर व्यक्तिगत स्वामित्व की प्रधानता है तथापि गाँव की पंचायत या मुखिया द्वारा नियंत्रित सामुदायिक स्वामित्व के भी मामले विर नहीं है। मध्य-भारत में संथाल परगना तथा बस्तर के इलाके में इस प्रकार के कई उदाहरण मिलते है। उत्तर-पूर्वी हिमालय क्षेत्र में इस प्रकार की प्रथा सामान्य है। कई कृषक जनजातियों में कुछ विशेष प्रकार की जमीन का स्वामित्व संपूर्ण ग्रामीण समुदाय के पास होता है। ऐसा पाया गया है कि जहाँ जमीन का स्वामित्व समुदाय के पास है वहाँ भूमि हस्तांतरण के मामले नहीं के बराबर होते हैं। व्यक्तिगत स्वामित्व में जनजातीय कृषि के विकास में मुख्य समस्या भूमि हस्तांतरण की ही है।

ब्रिटिश साम्राज्य ने भारत में भूमि राजस्व एकत्रित करने के लिए मुख्यतः तीन प्रणालियाँ लागू की- जमींदारी, महलवारी तथा रैयतवारी। कुछ जनजातीय क्षेत्रों को मुक्त प्रणाली के अन्तर्गत भी कवर किया गया। तथापि अंग्रेजों ने कई जनजाति बहुल क्षेत्रों को वर्जित या आंशिक वर्जित क्षेत्र मानने की नीति अपनाई जिसने पारम्परिक भूमि प्रबंधन प्रणाली की प्रथा को सुरक्षित रखा। दूसरी ओर कई जनजातीय क्षेत्र भारतीय राजवाड़े के अन्तर्गत भी आते थे। इन राज्यों में समरूप भूमि पट्टेदारी व्यवस्था नहीं थी। कुछ स्थानों पर पारम्परिक प्रबंधन प्रणाली लागू रही तो कुछ ने अपनी स्वयं की प्रणाली विकसित कर ली तथा कुछ अन्य ने ब्रिटिश भारत में प्रचलित प्रणाली को अपना लिया।

इसके अन्तर्गत भूमि सबंधी रिकार्ड के रखरखाव की प्रणली भी स्थान दर स्थान पर अलग-अलग थी। कुछ राज्यों में जनजातीय क्षेत्रों को नियमित बंदोबस्त प्रक्रिया के अन्तर्गत कवर किया गया। इसके अन्तर्गत व्यक्तिगत आकलन के आधार पर तथा बिना गहन सर्वेक्षण किये मोटे तौर पर रिकार्ड तौयार किया गया। कुछ मामलों में हलों की संख्या या परिवार के सदस्यों के आधार पर यह निर्धारित करने का प्रयास किया गया कि कितनी जमीन प्रयुक्त की जा रही है। परंतु जनजातीय समुदाय अपनी आवश्कता के अनुसार खेती के प्रयोजन हेतु जंगलों को काटते जा रहे थे। इस कारण अधिकारियों, पटवारियों द्वारा रखरखाव किये जा रहे रिकार्डों तथा भूमि पर स्वामित्व संबंधी अद्यतन रिकार्ड के अभाव में जनजातीय समुदाय पटवारियों, राजस्व कर्मचारियों, वन विभाग के कर्मचारियों तथा जमींदारों की दया पर निर्भर थे।

जनजातीय भूमि का काफी बड़ा हिस्सा ऋणग्रस्तता, भूमि नियमों में विद्यमान दोषों और सरकार तथा अन्य संस्थाओं द्वारा सार्वजनिक उद्धेश्यों के लिए जनजातीय जमीन के अधिग्रहण के कारण हस्तांतरित हो गया। इसके अतिरिक्त अजनजातीय समुदायों द्वारा जनजातीय भूमि को जबरदस्ती अपने अधिकार में रखने तथा अतिक्रमण आदि भी इसके कारण हैं।

भूमि हस्तांतरण की समस्या राज्य दर राज्य में अलग-अलग है। इस संबंध में किये गये विभिन्न अध्ययनों से यह पता चलता है कि- "लगभग 30 से 55 % जनजातियाँ भूमि हस्तांतरण की समस्या से पीड़ित हैं। भूमि हस्तांतरण की समस्या ऐसे क्षेत्रों में अधिक है जो खनिज तथा अन्य प्राकृतिक संसाधनों में समृद्ध हैं तथा यह समस्या ऐसे क्षेत्रों में भी गंभीर है जहाँ कृषि पैदावर में वृद्धि की संभावना रहती है।"[16]

1. जैसा कि पहले स्पष्ट किया गया है, भूमि संबंधी रिकार्डों की असंतोषजनक स्थिति के परिणामस्वरूप जनजातियों को उनके द्वारा खेती की जा रही जमीनों का वैध मालिक नहीं माना गया तथा ज्यों ही उस जमीन पर कोई दूसरा व्यक्ति गलत कागजातों के आधार पर दावा करता था, जनजातियों को उनके जमीन से वैध कागजों के अभाव में बेदखल कर दिया जाता था। चूंकि नई कानून व्यवस्था ने पारम्परिक व्यवस्था को धीरे-धीरे प्रतिस्थापित कर दिया, इस लिए जनजातीय समुदाय बाहरी व्यक्तियों द्वारा उनके क्षेत्रों में हो रहे सतत् अतिक्रमण को रोकने में असफल रहे। दूसरी ओर जनजातियों को ऐसे मामले में ही उनके द्वारा खेती की जा रही जमीन का वैध मालिक माना गया जहाँ भूमि बंदोबस्त प्रक्रिया में जनजातीय भूमि स्वामित्व प्रणाली की जानकारी रखने वाले अधिकारी प्रतिनियुक्त थे या ऐसे लोग प्रतिनियुक्त थे जो जनजातीय समस्याओं तथा उनके अधिकारों के प्रति संवेदनशील थे।

2. भूमि को व्यापारिक संसाधन के रूप में देखने की प्रवृत्ति के विकास तथा उसके बढ़ते मूल्य से जनजातीय जमीन पर बाहरी व्यक्तियों का दबाव बढ़ा। विकासात्मक प्रक्रिया के क्रम में जनजातीय क्षत्रों में बाहरी व्यक्तियों के प्रवेश से तथा इन क्षेत्रों में विभिन्न सिंचाई, बिजली तथा खनिज परियोजनाओं की स्थापना से भूमि हस्तांतरण की समस्या में वृद्धि हुई है। जनजातियों में साक्षरता की कमी तथा उनमें व्याप्त गरीबी के कारण जनजातीय समुदाय इस समस्या से जूझने के लिए कानूनी सहारा लेने में असफल रहें हैं। अपनी जमीन से बेदखल होने के साथ-साथ वे जमींदारों, महाजनों एवं बिचौलियों के शोषण का शिकार भी हुए हैं, जिसके परिणाम स्वरूप जनजातियों में भारी असंतोष फैला और इसकी परिणति 19 वीं शताब्दी में विभिन्न जनजातीय आन्दोलन तथा विद्रोह में हुई।

3. बाहरी लोगों द्वारा जनजातीय भूमि के अवैध हस्तांतरण के अतिरिक्त सरकार द्वारा भी विभिन्न विकासात्मक परियोजनाओं जैसे- लघु व वृहत सिंचाई परियोजनाओं के लिए जनजातीय जमीन का अधिग्रहण किया गया।

इस संबन्ध में किए गये विभिन्न अध्ययनों से यह पता चलता है कि- "जहाँ सरकार ने सार्वजनिक उद्धेश्य के लिए जनजातीय जमीन का अधिग्रहण किया है, वहाँ उसके बदले जनजातियों को मुआवजे के रूप में काफी कम पैसे मिले हैं तथा उनके पुनर्वास के लिए सरकार द्वारा उठाये गए कदम भी संतोष जनक नहीं पाये गये हैं।"[17] इस तरह के कई मामले प्रकाश में आये हैं जिसमें सरकार द्वारा जनजातीय जमीन के अधिग्रहण के बाद

भी उन्हें मुहावजे के रूप में कुछ भी नहीं दिया गया। ऐसे मामले में भी जहाँ मुआवजे की राशी जनजातियों को दी गई है, रूपए को उत्पादक स्रोतों में निवेश करने के ज्ञान के अभाव में उन्होंने उसे अनुत्पादक मदों पर खर्च कर गवां दिया है क्योंकि अधिकांश जनजातियाँ निरक्षर हैं। इसके परिणामस्वरूप जो जनजातियाँ पहले कृषक थीं वे या तो दैनिक मजदूरी करने पर मजबूर हुए अथवा वे उस क्षेत्र से पलायन कर गये और उन्होंने अपने को बाहरी व्यक्तियों के शोषण के लिए समर्पित कर दिया।

4. ऋणग्रस्तता तथा भूमि हस्तांतरण में काफी नजदीक का संबंध है क्योंकि जनजातियों के पास उपलब्ध जमीन को बंधक रखकर आकस्मिक खर्च के लिए ऋण प्राप्त करने की सुविधा साहुकारों तथा महाजनों की उपस्थिति के कारण उपलब्ध थी। जब से जनजातियाँ सभ्य समाज के संपर्क में आई हैं, धन की कमी के कारण उनमें भूमि के हस्तांतरण के मामले बढ़ गये हैं। बाहरी लोगों के संपर्क से जनजातियों ने उनके रीति-रिवाजों, त्योहारों आदि को भी अपनाया। इसके अतिरिक्त उनके अपने रीति-रिवाजों तथा उत्सवों को मनाने के लिए भी उन्हें काफी धन की आवश्कता होती है। साथ ही विवाह, उत्सवों, मदिरा, कपड़ों तथा अन्य आवश्यकताओं के लिए भी उन्हें सदैव धन की जरूरत पड़ती है। कम उपज तथा कृषि की पुरानी तकनीकी के कारण ये किसी तरह सिर्फ अपनी जरूरत भर की ही खाद्य सामाग्री उपजा पाते हैं। कई मामलों में तो इन्हें खाद्य सामाग्री भी बाजार से खरीदनी पड़ती है। इन आवश्यताओं की पूर्ति के लिए उन्हें धन की आवश्यकता होती है जो उन्हें साहुकारों तथा महाजनों से तत्काल प्राप्त हो जाती है। साहुकार व महाजन इन्हें किसी भी समय, किसी भी उद्धेश्य के लिए, बिना किसी शर्त या जमानत के ऋण देने को तैयार रहते हैं। इसके लिए जनजातियों को केवल एक सादे कागज या किसी फ्रोफार्मे पर अंगूठा लगाना पड़ता है। निरक्षर होने के कारण ये अनपढ़ लोग उसे पढ़ भी नहीं सकते हैं। कई मामले में यह भी देखा गया है कि महाजन मौखिक रूप में दी गई राशि को बढ़ा-चढ़ा कर कागज पर लिखकर उस पर जनजाति के अंगूठे का निशान ले लेते हैं। वैसे भी इनके सूद की दर काफी अधिक होती है। एक बार महाजन या साहुकार के गिफ्त में आने के पश्चात् इसकी परिणति जनजातियों की भूमि से बेदखली के रूप में ही होती है। कई मामलों में जनजातियों को भूमि गवाँने के साथ-साथ बंधुआ मजदूर के रूप में जीवन बिताने पर भी मजबूर होना पड़ता है।

5. स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् जनजातियों की जरूरतों को ध्यान में रखते हुए सरकार ने सरकारी ऋण समितियों की स्थापना की जहाँ से ये लोग कम ब्याज पर ऋण ले सकते हैं। परंतु इन समितियों के साथ भी

उनके अनुभव अच्छे नहीं रहे। अधिकतर सहकारी समितियाँ कम समय के लिए ऋण देती हैं तथा यह ऋण केवल उत्पादक उद्धेश्यों जैसे कृषि आदि के लिए ही दिये जाते हैं। जनजातियों को अपनी अन्य आवश्यकताओं के लिए भी ऋण की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त सहकारी समिति का ऋण न चुका पाने की स्थिति में उनकी संपत्ति की कुर्की, जब्ती कर लिए जाने या जेल जाने की घटनाओं से भी लोग डरते हैं। इस कारण वे लोग अधिक सुरक्षित समझते हैं जिसकी परिणति भूमि हस्तांतरण में ही होती है।

6. भारत में सवतंत्रता प्राप्ति प्रप्ति के पश्चात् के काल में राज्यों की पुनःसंरचना तथा जनजातीय
क्षत्रों के अनुसूचीकरण से जनजातीय क्षत्रों पर बहुत दूरगामी प्रभाव पड़े, जिससे जनजातीय जीवन भी अछूता नहीं रहा। इसके अन्तर्गत बहुत से जनजातीय बहुल क्षेत्रों को अनुसूचित क्षत्रों को अनुसूचित क्षेत्रों में शामिल नहीं किया जा सका, जिसके परिणाम स्वरूप यहाँ की जनजातीय जनसंख्या काफी समय तक संरक्षणात्मक भूमि कानूनों के लाभ से वंचित रही। साथ इन क्षेत्रों में विकासात्मक गतिविधियों के लिए बाहरी लोगों की प्रवेश की अनुमति मिलने से इन जनजातीय क्षेत्रों पर बाहरी जनसंख्या का दबाव बढ़ा। इससे जनजातियों को अपेक्षित भूमि संबन्धी कागजातों की अनुपस्थिति में न सिर्फ अपनी जमीन से बेदखल होना पड़ा बल्कि सार्वजनिक तथा निजी उपयोग के लिए इन जनजातीय बहुल क्षेत्रों को खोलने से उनकी समस्याएँ और भी बढ़ती गयी।

7. जनसंख्या की वृद्धि तथा भूमि हस्तांतरण के कारण जनजातीय क्षेत्रों में जोरदार भूमि का आकार स्थान-दर-स्थान विभिन्न अनुपातों में घटा है। हालाँकि समग्र रूप से जनजातियों के स्वामित्व में जोतदार भूमि राष्ट्रीय अनुपात के बराबर या थोड़ी अधिक ही है परंतु इन जमीनों से प्राप्त पैदावार राष्ट्रीय अनुपात से काफी कम है। इसका मुख्य कारण यह है कि जनजातियों के स्वामित्व में आने वाली जमीन अनुपजाऊ है तथा सिंचाई व अन्य सुविधा के अभाव में उस पर लाभकारी खेती नहीं की जा सकती है। 1961, 1971, 1981 तथा 1991 की जनगणना के रिपोर्ट के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि- "अधिकांश राज्यों में जनजातीय समुदाय का धीरे-धीरे जमीन पर स्वामित्व घट रहा है। साथ ही जनजातियों की संख्या घट रही है परन्तु जनजातीय कृषक मजदूरों की संख्या बढ़ रही है। सन् 1981 की जनगणना कुछ राज्यों में जनजातीय कृषकों की संख्या में वृद्धि दर्शाती है। इसका कारण जोतों का विभाजन है न कि भूमि हस्तांतरण के मामले में कमी।"[18]

इस प्रकार हम पाते हैं कि ऋणग्रस्तता, भूमि कानूनों में दोष तथा सरकार व अन्य संस्थाओं द्वारा

जनजातीय क्षेत्र में भूमि के अधिग्रहण के कारण जनजातीय क्षेत्र का बहुत बड़ा हिस्सा हस्तांतरित हो गया है। हस्तांतरण के कुछ अन्य कारण हैं- अतिक्रमण तथा जनजातियों को इनकी जमीन से जबरदस्ती बेदखल करना। बिक्री, बंधक, लीज, बेनामी अंतरण, कपटपूर्ण डिगरी तथा भूमि हड़पने के लिए छलपूर्ण तरीके अपनाना आदि भूमि हस्तांतरण के लिए अपनाये जाने वाले सामान्य तरीखें हैं। ऐसे भी मामले प्रकाश में आये हैं जहां ऋण ली गयी राशि के बदले जनजातियों से जमीन ली गयी। कुछ मामलों में बाहरी लोगों ने जाली दस्तावेज तैयार किए तथा उन्होंने ऐसे जाली दस्तावेजों की मदद से यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि तथाकथित बिक्री करार भूमि कानून के संरक्षणात्मक प्रावधानों के लागू होने से पहले ही किए गए थे।

आदिवासियों में भी सामान्य कृषकों की भाँति अपनी जमीन पर कृषि करने की प्रबल इच्छा होती है। जनजातियों का अपनी भूमि से बहुत भावनात्मक लगाव होता है। जीवन यापन के लिए कृषि ही एक ऐसा साधन है जिस पर वे लोग सदियों से निर्भर रहे हैं। किंतु अस्थायी खेती पर नियंत्रण लगाने से परम्परागत कृषि कार्य समाप्त प्रायः है और सीमान्त कृषक ऋण के बदले में रखी जमीन को वापस प्राप्त नहीं कर सकते। आदिवासियों की जमीन तेजी के साथ गैर-आदिवासियों के हाथों में चली जा रही है। रामशरण जोशी अपने अध्ययन में पाते हैं- "देश के विभिन्न आदिवासी क्षेत्रों में जमीन तेजी से गैर-आदिवासियों के कब्जे में आ रही है। बस्तर में भी भू-हस्तांतरण की यही प्रक्रिया है।"[19] न्यायालय के सामने एक भोलाभाला आदिवासी साहूकार के कहे अनुसार ब्यान देता है। न्यायालय के समक्ष यह स्वीकार करता है कि साहूकार के पास उसकी भूमि गये भूमि सुरक्षा के रूप में है। ऋणी व्यक्ति के सरल स्वभाव तथा ईमानदार प्रवृत्ति का लाभ उठाते हुए साहूकार इन्हें बहला फुसलाकर न्यायालय में ले जाते हैं। इस प्रकार आदिवासी समुदाय भूमिहीनता के शिकार हो जाते हैं। इनकी अस्थायी खेती को वननीति के तहत चिंताजनक बताकर रोका गया है जब की आदिवासी नज़रिये से उतनी चिंता जनक नहीं है। नदीम हसनैन का मत है- "इसे एकदम से समाप्त नहीं किया जाना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार की खेती करने वाली जनजातियों का जीवन पीढ़ियों से इस पर निर्भर है। बहुत से स्थानों पर जहाँ सीढ़ीदार खेती सम्भव नहीं है, इस प्रकार की खेती को रोका नहीं जा सकता।"[20]

भूमिहीनता को 'गगन घटा घहरानी' में आदिवासियों के मूल कारण ऋण के संदर्भ में देखा गया है।

गिरवी रखी जमीन कभी वापस उरांव के हाथों में नहीं आ सकी है। उपन्यास में उरांव समझने लगते हैं कि- "रायबहादूर के हाथ पढ़ा खेत आज तक कोई लौट कर ले नहीं पाया आज तक कोई ले नहीं पाया। 'शैलूष' में नटों को हटबंदी के तहत चालीस एकड़ जमीन मिल जाती है पर न तो वे उपयोग करना जानते हैं और न ही उन्हें कब्जा मिल पाता है। वे भूमिपति धुरफेंकन से खूनी जंग लड़ते हैं, इस प्रकार नट भूमिहीन रहते हैं जिससे एक लम्बी लड़ाई के बाद मुक्त हो पाते हैं। जमींदारी झलसा जी का दूसरा रूप 'वरूण के बेटे' में सामने आता है। जिस पोखर से मछुआरे मछली पकड़कर अपनी रोजी रोटी चलाते हैं, जमींदार राजनीति व न्याय के माध्यम से पोखर को बेचकर उनके पुश्तैनी अधिकारों से बेदखल कर देते हैं। जबकि मछुआरे मानते हैं कि पोखर का "यह पानी सदा से हमारा रहा है, किसी भी हालत में हम इसे छोड़ नहीं सकते। पानी और माटी न कभी बिके हैं, न कभी बिकेंगे। गरोखर का पानी मामूली पानी नहीं है, वह तो हमारे शरीर का लहू है।"[21] पोखर से मछिलियाँ निकालने का कानूनी अधिकार मछुआरों का होते हुए भी भ्रष्ट व्यवस्था में जमींदार अपनी नीतियों में रिश्वतखोरी के तहत तो सफल हो जाते हैं, परन्तु मछुआरों की सजगता व सचेतता उन्हें बचा देती है। भूमि हीनता की समस्या को 'गगन घटा घहरानी' के अलावा अन्य उपन्यासों में उठाया गया है। अस्थाई खेती से आदिवासियों को कितना भावनात्मक व सांस्कृतिक लगाव होता है इसे 'जंगल के फूल' में देखा जा सकता है।

स्वतंत्रता के बाद सरकार ने भूमिहीन आदिवासियों को जमीन देने का अभियान चलाया था, जिसके अंतर्गत अनेक आदिवासियों को भूमि दी गई किन्तु वह रिकार्डों तक ही सीमित रह गई है। जिस उद्देश्य से इस अभियान को चलाया गया था वह सफल नहीं हो पाया है। आज आदिवासियों के पास पट्टा होने पर भी व्यावहारिक रूप से उस भूमि पर कोई अधिकार नहीं रखते हैं। 'गाथा भोगनपुरी' उपन्यास में इस समस्या का उल्लेख किया गया है। उपन्यास का सबसे प्रमुख पात्र बँगडू एक आदिवासी व्यक्ति है और महाजन के पास बचपन से ही बंधुआ मजदूर बना है। "कुछ वर्ष पहले पट्टा अभियान में सरकार से उसे तीन बीघा जमीन मिली थी। ये जमीन गाँव के चौकीदार के खेतों से सटाकर उसे दी गई थी। पिछले तीन सालों से वो इस खेत को बोता था, लेकिन हर साल फ़सल चौकीदार काटकर ले जाता था। तहसील में कई दरख़ास्तें दी लेकिन कभी कुछ हुआ नहीं।"[22] भूमिहीनता के कारणों को बताते हुए 'पाँव तले की दूब' में इस प्रकार बताया गया है- "आदिवासी लेगों की दो कमजोर नसें हैं- अरण्यमुखी संस्कृति और उत्सवधर्मिता ! अरण्यमुखी संस्कृति उन्हें

सभ्यता के विकास से जुड़ने नहीं देती और उत्सवधर्मिता इन्हें कंगाल बनाती रहती है। हँड़िया या दारू ये पीएँगे ही और हर उत्सव को मस्त होकर मनाएँगे। पढ़ाई-लिखाई से दूर रहेंगे। दारू की लत और जरूरतमंदों को सूद पर पैसे और अनाज देकर इन आदिवासियों की जमीन कुछ चालाक लोगों ने हथिया ली। इसे यहाँ लेहना प्रथा कहते हैं।"[23]

4.3. बेगार

आदिवासियों में आर्थिक बदहाली, भूमिहीनता, सामंती, जमींदार के हाथों में फंसकर ये लोग बेगार तो करते ही हैं, बंधक श्रमिक भी बन जाते हैं। बेगार में निःशुल्क सेवा करनी होती है, और बंधक को अपना पेट भरने के लिए परिवार के दूसरे लोगों पर निर्भर रहना पड़ता है। हमें यह नहीं सोचना चाहिए की भारत में स्वतंत्रता के पश्चात बेगारी प्रथा समाप्त हो गई है। यदि ऐसा सोचते हैं तो वह गलत है। वास्तव में बेगार प्रथा समाप्त नहीं हुई है। पिछड़े क्षेत्रो में आज भी प्रचलित है। इस प्रथा से मुक्ति के लिए आदिवासी क्षेत्र को साहूकारों व ठेकेदारों से मुक्त करना होगा। रामशरण जोशी का मानना है कि- "ग्रामीण एवं आदिवासी भारत की मूल उत्पादक शक्तियों को हमेशा के लिए ऋण ग्रस्तता से मुक्ति दिला दी जाती है, तो निश्चित ही बंधक श्रमिक प्रथा का विस्तार रूकेगा।"[24]

आदिवासियों में व्याप्त बेगारी या बंधक प्रथा को 'गगन घटा गहरानी', 'क्लावे', 'नदी के मोड़ पर', 'जंगल के फूल', 'रथ के पहिये', और 'धूणी तपे तीर' में उठाया गया है। अधिकतर पहाड़ और जंगली इलाकों में शिकार के शौकीन महाजन, जमींदार, ठाकुर आदि शिकार के समय आदिवासियों को हाँके लगने के लिए बुलाये जाते हैं। 'धूणी तपे तीर' में महारावल उदयसिंह शिकार का शौकीन था। हिंसक जानवरों की बहुतायात एवं घने जंगल के कारण सुरक्षित आखेट उसके लिए कठिन था। रियायत क्षेत्र में अंग्रेज़ अफसरों के भ्रमण के दौरान उन्हें भी आखेट करवाया जाता था। इस दृष्टि से महरावल चाहता था कि फावटा के जंगल में बाघों व तेंदुओं के सुरक्षित शिकार के लिए शिकारगाह एवं मोर्चों का निर्माण करवाया जाए इस कार्य के लिए महारावल ने अपने हितैषी ठाकुर दलपत सिंह को यह जिम्मा सौंपा। दलपत सिंह अपने कारिंदों के साथ घोड़े पर सवार होकर गांव कांगरवा पहुँचा। उसने गोमती कहकर गाँव के लोगों को इकट्ठा किया। इस कदर बेगार करना गाँव के वासियों के लिए नयी बात नहीं थी। किन्तु अब का समय आदिवासियों के लिए महत्वपूर्ण है। खेतों में

फसल कटाई के कगार थी। यह काम लोगों के माथे पर आ टिका था जिसे उन्हें संपन्न करना था। इस सारी स्थिति को देखते हुए आदिवासियों को इकट्ठा करने के ठाकुर द्वारा दिए गये हुकुम की तालीम करते हुए गोमती ने ठाकुर दलीप सिंह से विनती की कि- "माई-बाप, फसल की कटाई का काम सर पर है। पहले लोग यह काम पूरा कर लें जो पंद्रह दिन में हो जाएगा। उसके बाद बेगार करवाई जाए तो तोड़ी सहूलियत रहेगी अन्यथा राजा का हुकुम तो बजाना ही है।"[25] किन्तु उनकी विनती को नकारा जाता है जिससे आदिवासियों मन में फसल काटकर तैयार करने की उमंग थी वह पल भर में गायब हो गई। निर्णय लेते हुए ठाकुर दलपत सिंह बैठक में आदिवासियों को हुकुम देता है कि- हर परिवार से अच्छी मेहनत कर सकने वाला एक आदमी इस काम में शामिल होगा। तुम्हारे लिए गोमती के कहने से मैं रियायत देता हूँ, नहीं तो सारे मरद व औरतों से काम करवाता।"[26] आगे चल कर आदिवासी बेगारी करने के लिए मजबूर हो जाते हैं तथा उनके खेतों में उनके बुजुर्ग माँ-बाप तथा उनके छोटे बच्चों को काम करने की नौबत आ जाती है।

नदी के मोड़ का भट्टू सिंह अपने पिता के द्वारा लिये गये ऋण के एवज में जमींदार के यहाँ बंधक बना लिया जाता है। बंधक से मुक्ति मिलने की बात मालिक से करने पर जवाब मिलता है- "यदि तू मेरे यहाँ से जाना चाहता है तो जा। बता, क्या तेरे बाप ने मेरे दादा से पचास रूपये का कर्ज नहीं लिया था क्या ? वह वापस हुआ है ? तू इस कर्ज के बदले मेरे यहाँ आठ बरस की उमर से गिरवी पड़ा है। मेरे जानवर भी तुझे जानते हैं।"[27] 'नदी के मोड़' का भट्टू सिंह के तुलना में 'गगन घटा घहरानी' का जागो ऋण बंधक की गुलामी की त्रासदी को गहरे स्तर में जीता है। स्त्री बेगार के संदर्भ में रामशरण जोशी लिखते हैं- 'पड़ाव के समय सरकारी अधिकारियों के मनोरंजन के लिए आदिवासी युवतियों को नचवाया जाता है। कई बार यह भी देखा गया है कि आदिवासी युवतियों की इच्छा के विपरीत रात्री में उन्हें घर से बुलवाया जाता है। थाना गुड़ी में उनसे नाच की बेगार कस कर ली जाती है। इस बेगार की एवज में उन्हें दारू पिलाई जाती है। पिछड़े क्षेत्रों में देह शोषण तो एक आम बेगार मानी जाती है।"[28] 'जंगल के फूल' और 'क्लावे' में स्त्री बेगार का चित्रण हुआ है। 'जंगल के फूल' में गोरा अफसर के मनोरंजन के लिए नृत्य का आयोजन किया गया है। नृत्य करती युवतियाँ

उसकी वासना को जागृत करती है- "पहाड़ी नाले की तरह उचलती और हवा की तरह लहराती महुआ इस झुंड़ में अकेली दीख रही थी। गोरा रह-रहकर जीभ से अपने होठ चाटता और आँखे फाड़कर इस लहराती हुई नागिन को देखता"[29] 'क्लावे' के ठाकुर को बारह गाँव की जमींदारी में भीलों का पाल गाँव इस लिए पसंद है कि- "विधाता ने भील सुंदरियों के अवयवों को इतना कोमल और आकर्षक बनाया है। यह पहाड़ी हवाओं का प्रभाव है जिसने उनके बदन को इतना गूँथ दिया है।"[30]

समय के साथ-साथ बेगार के विरुद्ध आदिवासियों में जागरूकता बढ़ती है। 'धूणी तपे तीर' में गोविंद भगत के द्वारा बेगार के प्रति विद्रोह होता है। आदिवासी ठाकुर के विरोध में गोविंद भगत से कहते हैं- "शिकारगाह बनाने के लिए हम से बेगार करवाई जा रही है। दरबार और उनके मेहमान यहाँ जिनावरों का शिकार करेंगे। लेकिन यह काम इस मौसम में कराया जा रहा है जब हमारी फसलें पटाई पर है। हम से वह काम छुड़ा कर यह बेगार करवाई जा रही है।"[31] आदिवासी का यह कहना सुनकर ठाकुर के आदमियों नें टेढ़ी नज़र से घूरते हैं। कुरिया ठाकुर के आदमियों की टेढ़ी नज़रों को पढ़ लेता है और कहता है- "दरबार का हुकुम सरमाथे, लेकिन ये आदमी बिना मजूरी के काम कैसे कर सकते हैं ? आप ने इन्हें कोई मेहनताना दिया है क्या ?"[32] ठाकुर के आदमी कुछ नहीं कहते। गोविन्द भगत हस्तक्षेप करते हैं अौर आदिवासियों को संबोधित करते हुए कहते हैं- "राजा क्या देता है तुम्हें ? तुम सब भाई अपनी मेहनत की कमाई से पेट भरते हो। अगर कोई मजूरी करता है तो पगार दे, चाहे वह दरबार हो या कोई सेठ-साहूकार।"[33] 'रथ के पहिए' में गोंड़ पंचायत फैसला लेती है और बेगार के विरुद्ध गोंड उठ खड़े होते हैं- "जागीदार को कर्नल मेहमान के शिकार पर हाँका लगाने के लिए आदमी तैयार नहीं होते हैं। मजदूर के नाम पर भी मजदूर नहीं मिलते हैं।"[34] यह व्यूह रचना जमींदार की सारी शक्ति के बावजूद अजेय रहती है, जो गले नहीं उतर पाती है। गाँधीवादी समाधान उपन्यास के चरित्रों को निर्जीव बना देता है। इस बदलाव के लिए राजनीतिक चेतना और जागृति की लम्बी यात्रा की आवश्यकता पड़ेगी जो उपन्यास में दिखाई नहीं पड़ती है। पंचायत द्वारा दिया गया एक पंक्ति का फैसला

रचनाकार की प्रतिबद्ध लेखन से कारगर प्रभाव दिखा देता है।

4.4. वन नीति तथा जनजातियाँ (Forest Policies and Tribes)

वनों का जनजातियों के जीवन तथा अर्थव्यवस्था से अटूट रिश्ता है। जनजातियाँ अपने भोजन, जलावन की लकड़ियाँ, घर बनाने के लिए आवश्यक वस्तुओं, औषधि, जानवरों के लिए चारा तथा कृषिगत उपकरणों के लिए जंगल पर निर्भर करती हैं। उनकी संस्कृति पर जंगल का काफी प्रभाव है। जनजातीय सामाजिक संरचना में वनों को सिर्फ उपयोगी पदार्थ तथा अन्य आर्थिक पदार्थ प्रदान करने वाला कारक ही नहीं माना जाता है बल्कि सरल सामाजिक संरचना वाले इन समुदायों के लिए वनों का महत्व इससे कहीं अधिक है। यह वह स्थान है जहाँ जनजातीय देवी-देवता वास करते हैं, जो सम्पूर्ण जनजातीय समुदाय को सुरक्षा प्रदान करते हैं। जनजातीय समुदाय को जंगलवासी या जंगल पुत्र भी कहा जाता है। इसी से जनजातियों के लिए वनों के महत्व को समझा जा सकता है। जंगली क्षेत्रों के प्रथम निवासी होने के नाते वे वन उत्पादों पर अपना पहला हक समझते हैं।

जनजातियों को वन उत्पाद का उपयोग करने तथा जंगली जानवरों का शिकार करने की स्वतंत्रता आदि काल से थी तथा इस प्रकार की स्वतंत्रता 19 वीं शताब्दी तक बरकरार रही। इसके पश्चात बाहरी लोग जंगलों में आने लगे और इस प्रकार स्थिति बदलने लगी। इन क्षेत्रों में सरकार के प्राधिकार के विस्तार तथा वन पदाधिकारियों द्वारा उन्हें प्रदत्त अधिकारों के प्रयोग से संपूर्ण जनजातीय अर्थव्यवस्था प्रभावित हुई तथा जनजातियों व वनों के सम्बन्ध में आमूल परिवर्तन आये।

4.4.1. वन नीति 1894, तथा वन नीति 1952

सन् 1894 में वनों के प्रशासन हेतु प्रथम राष्ट्रीय नीति प्रारंभ की गई। इसके अन्तर्गत वनों तथा वन उत्पादों के उपयोग पर कई प्रतिबंध लगाए गए। इस नीति द्वारा वनों पर राज्य सरकार का नियंत्रण स्थापित किया गया तथा जनजातियों के वनों तथा वन उत्पादों पर अधिकार को अनदेखा किया गया। इस नीति के वास्तविक परिणाम पर स्वतंत्रता से पहले ध्यान नहीं दिया गया क्योंकि उस समय बहुतायत में जंगल थे। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् सरकार को वनों की कटाई से हुए नुकसान का अंदाजा लगा तथा इसे दूर करने के

लिए नई वन नीति सन् 1952 में बनाई गई। कई मामलों में नई नीति पुरानी नीति से भिन्न थी। यह अंतर निम्न था - "

1. वन भूमि को कृषि के लिए देते समय दिए जानेवाले अनुदान को बंद करना।

2. ग्रामवासियों के वन आधारित आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ग्राम्य वनों की स्थापना।

3. निजी वनों को राज्य सरकार के नियंत्रण में लाया गया।

4. पुरानी नीति में वनों में पशु चराने पर कोई प्रतिबंध नहीं था, नई नीति में पशु चराने पर शुल्क लिए जाने का प्रावधान किया गया।

5. नई नीति के अन्तर्गत जनजातियों को स्थानांतरित खेती की परम्परा त्यागने के लिए उन्हें प्रेमपूर्वक समझाने का प्रावधान किया गया।"[35]

नई नीति के कारण जनजातियाँ जो पहले स्वयं को वनों का मालिक समझती थीं अब इनकी दास बन गई तथा जंगलों पर वन-विभाग का आधिपत्य स्थापित हो गया। वनों या जनजातियों का पारम्परिक अधिकार अब रियायत में परिवर्तित हो गया। नई नीति के फलस्वरूप जंगलों का अतिदोहन प्रारंभ हो गया। इस नीति के कार्यान्वयन से जनजातियों की परेशानियाँ और बढ़ गई। जनजातियों को पूर्व में दिए गए अधिकारों में कटौती तथा उन्हें दी गई रियायत के परिणामस्वरूप जनजातियों और वन-विभाग के कर्मचारियों में कई बार संघर्ष भी हुए हैं तथा इसके फलस्वरूप जनजातियों में काफी असंतोष व रोष भी फैला।

सदियों से वन में रहने वाले वन पुत्रों का जंगल से सीधा व गहरा भावनात्मक संबन्ध रहा है। इनका विश्वास रहा है कि वन संपदा के प्रयोग में इन्हें पूर्ण स्वतंत्रता रही है जिसके कारण वह यह समझने लगे कि वह लोग वनों के लिए बने हैं तथा वन उनके लिए ही बने हैं। आर्थिक रूप से जंगलों पर निर्भर व आश्रित आदिवासी वन नियमों के तहत अधिकारी वर्ग के तानाशाही से आतंकित है। वन अधिनियमानुसार शक होने पर किसी भी व्यक्ति को गिरफ्तार करके एक महिने तक की सज़ा दिला सकता है। जनजातियाँ पूर्ण रूप से वन अधिकारियों की दया पर आश्रित हैं। इनमें से भ्रष्ट अधिकारी जनजातीय लोगों का अधिकाधिक उत्पीड़न व शोषण करते हैं। उन्हें छोटी-छोटी बातों पर परेशान करते हैं तथा उन्हें डराते धमकाते रहते हैं। अपने अधिकतम दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति वनों से पूरी करने वाले कानूनन अपराधी हो गये हैं। जब कि वन अधिकारियों

से मिलकर ठेकेदार अपने क्षेत्रों के अतिरिक्त लकड़ी काटते हैं तथा अनुमति से अधिक वन संपदा ट्रकों में भर कर ले जाते हैं। ये ठेकेदार वनों तथा जनजातियों दोनों का ही मनमाने ढंग से शोषण करते हैं। आदिवासियों की वनों पर निर्भरता को ध्यान में रखते हुए उनके जीवन यापन के साधनों को उनसे छीनना उनके मूल अधिकारों का अतिक्रमण होगा क्योंकि जिस तरह से जंगल विभाग का दायित्व जंगल की लकड़ी व जंगली पशुओं की सुरक्षा करना है, उसी तरह जंगलवासियों के हितों को नज़रन्दाज करना सरासर गलत है। बी.ए. मेहता का मत है- "सदियों से मानव समुदाय जंगलों तथा उसके आसपास रह रहे हैं। कुछ निश्चित मानवाधिकार अपने रहने के स्थानों से ऐतिहासिक लगाव, जुड़ाव के फलस्वरूप मनुष्य को मिलते हैं। वैधानिक दृष्टिकोण भी इन ऐतिहासिक एवं प्राकृतिक अधिकारों की अपेक्षा नहीं कर सकता। यह सच है कि वन-विभाग ने वनस्पति, वन-जीवन तथा खनिज संपदा के महत्त्व को मान्यता दी परन्तु इन संसाधनों को खोजने तथा उन्हें मान्यता देने का प्रथम अधिकार इन वनों में रहने वालों को है।"[36]

वन नीति के चलते आदिवासियों के जीवन में अनेक समस्याएँ उत्पन्न हुई। वे वनों में जा नही सकते, वनोपज को एकत्रित नहीं कर सकते। अबतक स्वतंत्र रूप से वन पर अधिकार मानने वाले आदिवासी इस कानून का प्रतिरोध कर सकते हैं, ना ही उस कानून को स्वीकार कर सकते हैं। इस अवस्था के कई प्रसंगों को लेखकों ने अपने उपन्यासों में चित्रित किया है। उपन्यास 'धूणी तपे तीर' में आदिवासियों की इसी मानसिकता को उजागर करते हुए उपन्यास का प्रमुख पात्र गोविन्द गुरू कहता है- और भी सुनो। जंगलों की उपज पर तो हमारा पुश्तैनी हक था। यह हमारे उपयोग की चीज रही है फिर भी राजा ने इनका ठेका देना क्यों शुरू किया।"[37] यह स्थिति तो स्वतंत्र पूर्व की थी, किन्तु स्वतंत्रता के बाद भी सरकार ने वनों को ठेके पे देना जारी रखा। उपन्यास 'वन के मन' में यह प्रसंग आया है। जंगल मे बढ़ने वाली घास की कटाई का ठेका महाजनों को देती। वे घास को कटवाकर पेपर मिलों में भेजते हैं, अधिक मुनाफा कमाते हैं। किन्तु मजदूर के रूप में काम करने वाले आदिवासियों को सही मजूरी नहीं मिलती। इसी प्रकार के अनेक प्रसंग 'जंगल के फूल', 'पठार पर कोहरा', 'वन लक्ष्मी', 'जंगल के आसपास', 'बाजत अनहद ढोल आदि उपन्यासों में चित्रित है जिनका सविस्तार विवरण शोध के आदिवासियों के आर्थिक पक्ष के अन्तर्गत प्रस्तुत किया गया है।

4.5. मदिरापान

आदिवासी जीवन पर लिखे गये सभी उपन्यासों में शराब से उनका संबन्ध सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक रूप से जुड़ते हैं। सामाजिक मान्यताओं व रीति-रिवाजों व उनकी आस्थाओं की अभिव्यक्त 'गगन घटा घहरानी' उपन्यास में मिलती है। पैरूगुनी के शब्दों में- "क्या करूँ घर में दारू भी नहीं है। कैसे तेरा सत्कार करूँ गाँव में मिले भी तो किसके घर ठहर-ठहर देखता हूँ। एक-एक घर छान लूँगा।"[38] नट समाज में शराब से परहेज करने वाला शक की निगाह से देखा जाता है। सुखराम के बारे में सोना कहती है- "पर मुझे उसमें जवानी की हड़कम्प ही नहीं दिखाई देती है। वह शराब पीता है तो पीते ही हिचक जाता है। किसी लड़की के साथ एक दिन भी नहीं पाया गया।"[39] उरांव समाज में शराब न पीना सामाजिक अपराध है। अगर उरांव दारू न पीयें तो सब उसे जात निकाल देंगे। "नहीं-नहीं तुम संकोच कर रहे हो, दारू पीने के मामले में ना नुकर करना भी उरांव का स्वभाव नहीं।"[40]

ठेकेदार द्वारा बेची जाने वाली शराब आदिवासी समुदाय में सामजिक अस्त-व्यस्तता को जन्म देती है। सभी औपन्यासिक रचनाओं में ठेकेदार के कारनामों, उसके गलत कार्यो को उजागर किया है। शराब से मौत का ताण्डव 'गगन घटा घहरानी' में देखा जा सकता है- "तब एक आदमी तो मर चुका था, हाथ पाँव ठण्डे होकर लकड़ी की तरह खड़े हो गये थे। दारू की उल्टियों से वहाँ कि जमीन गीली होकर दुर्गंध से भर गई थी। नाक और मुंह से फेन निकल निकलकर पूरे चहरे और देह में लिपटा पड़ा था। बेहश पड़े उन लोगों की सांसे मुश्किल से चल रही थी।"[41] जहरीली शराब का वातावरण भयावह हो जाता है। जिसका वर्णन यथार्थपरक व दृश्य शैली में हुआ है। आदिवासियों को नशा करवा कर आसानी से ठगा जा सकता है। 'क्लावें' का वीरजा प्यारजी कलाक के बहकावे में शराब पीकर जमींदार से लिए ऋण के सारे रूपयों को लुटा देता है।"[42]

मदिरा सेवन की भयंकरता, दुष्प्रभावों और गलत परिणामों के बावजूद ये समुदाय मदिरा पान नहीं छोड़ते हैं। 'गगन घटा घहरानी' में सोनाराम उरांवों के बीच इस बात को समझाता है तो वे समझ नहीं पाते "ठीक इसी आसाढ़ में उसने अपनी जमीन गिरवी रखी थी। इसी आसाढ़ में उसने जोरू के गहने तिकोड़ी साव

के घर में रखकर बची हुई जमीन के लिए बीज खरीदे थे। अपना खेत देखकर वह रोज मन मसोसता, फिर घर में दारू ढाल कर पड़े रहता या गाँव भर में घूम-घूम कर जमीन और गहना चले जाने के दुःख में रोता रहता।"[43] शराब के दुष्प्रभावों को मद्देनजर रखते हुए आदिवासी समाज में इस पर नियंत्रण के उपाय पर विचार करना चाहिए। लेकिन मदिरा इनके पारम्परिक जीवन से जुड़ी हुई है, इसलिए बाहरी दबावों के आधार पर एकदम इसे नहीं रोका जा सकता है। शराब संबधी के आधार पर नियंत्रण आदिवासी समाज को बिना समझे इसके आंतरिक क्रिया-कलापों में दखल देना होगा। नदीम हसनैन का मत है कि- "मदिरापान के विरोध में कार्यरत सामाजिक संगठनों की सहायता के लिए विभिन्न शैक्षिक कार्यक्रमों को प्रारम्भ करना चाहिए। जब तक इस प्रकार के आन्दोलनों का नेतृत्व जनजातियों द्वारा स्वयं न किया जाए, उनके घरेलू मदिरा पान में हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए।"[44] नशे के विरुद्ध उरांव सोनाराम आदिवासियों को 'गगन घटा घहरानी' में समझाने का प्रयास करता है, जिसका परिणाम सकारात्मक होता है।

4.6. विस्थापन

विस्थापन आदिवासियों की नियति रही है, यह वन पुत्रों की प्रकृति पर निर्भर के कारण होती है। जमींदार के अत्याचार से बचने के लिए 'गगन घटा घहरानी' में उरांव गाँव छोड़कर जंगल में जाकर रहते हैं। सभ्य जातियों के संम्पर्क में आने से आदिवासियों की औरतों को यौन रोगों का शिकार होना पड़ता है। 'कब तक पुकारूँ' में नट स्त्री रुस्तम खां की रखैल बनकर सुजाक के दर्द व पीड़ा को एक साथ भोगती है। बहुत से ऐसे रोग है जिसका परिचय बाहरी व सभ्य लोगों के सम्पर्क में आने से मिलता है। 'सूरज किरण की छाँव' उपन्यास में धर्म परिवर्तन से आदिवासियों पर पड़े प्रभाव पर केन्द्रित है। क्रिश्चियन धर्म में आदिवासी या क्रिश्चियन लोगों का उद्धेश्य हमेशा आदिवासियों का हित साधन नहीं रहा है। क्रिश्चियन विलियम की वासना की शिकार आदिवासी युवती बंजारी को क्रिश्चियन धर्म सामाजिक विघटन व वैयक्तिक विघटन के रूप में सामने आता है। आधुनिक समाज के औद्योगीकरण और नगरीयकरण के दुष्प्रभावों को वेश्यावृत्ति के रूप में बंजारी भोगती है।

आदिवासी जीवन पर लिखे उपन्यासों की मूल समस्याएँ परम्परागत रही हैं। वर्तमान समाज में उत्पन्न आधुनिक जीवन की विसंगतियाँ, औद्योगीकरण से उत्त्पन्न विस्थापन, आवास और रोजगार की समस्या सभ्य

समाज के संपर्क से सांस्कृतिक विघटन तथा संविधान के तहत प्राप्त विशेष सुविधाओं व विकास कार्यों का परिणाम आदि का चित्रण उपन्यासों में नहीं हो सका है। स्वतंत्रता के तुरन्त बाद लिखे गये उपन्यासों में सामंती समाज से उत्पन्न समस्याएं छाई रही है, जबकि आजादी के चार दशक बाद लिखे 'गगन घटा घहरानी' उपन्यास में भी उरांव जमींदारी अत्याचारों से मुक्त नहीं हो सके हैं। सरकारी प्रयासों के बावजूद आदिवासी परम्परागत समस्याओं से आबद्ध हैं। उनकी सामाजिक स्थिति में कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं आ सका है, इसलिए साहित्यिक रचना उपन्यास की विषय वस्तु आजादी से पूर्व के सामंती संस्कारों पर ही आधारित रही हैं।

4.7. बंधुआ मजदूरी (Bonded Labour) -

भारत में बंधुआ मजदूरी का पुराना इतिहास है तथा इसकी जड़ हमारे सामाजिक व्यवस्था में निहित है। यह प्रथा ऋणग्रस्तता का परिणाम है जो काफी समय से समाज के आर्थिक रूप से शोषित तथा कमजोर वर्गों में, विशेषकर जनजातियों में व्याप्त रही है। इस प्रथा का जन्म असमान सामाजिक व्यवस्था से हुआ है जो सामंती व्यवस्था की विशेषता रही है। भारत के कम से कम 11 राज्यों में बंधुआ मजदूरी किसी न किसी रूप में पाई जाती है। ये राज्य हैं आन्ध्र प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, राजस्थान, गुजरात, कर्नाटक, केरल, महाराष्ट्र, उड़ीसा या ओड़ीशा, तमिलनाडु तथा उत्तर प्रदेश। इन अलग-अलग राज्यों में इसे अलग-अलग नामों से जाना जाता है जिसका विवरण निम्नानुसार है -

राज्य	**स्थानीय नाम**	**प्रभावित जनजातियाँ**
बिहार	कामिया	कोरबा, भुईयां
आन्ध्र प्रदेश	गोथी, बेहटी	कोण्डा रेड्डी, कोय दोरा
गुजरात	हाली	दुबला-हलपति
केरल	वसलूर कवा पानम तथा निब्पु पन्नम	पनियान, आदियान
कर्नाटक	जीथा	आदि कर्नाटक
मध्य प्रदेश	हेरवाही, माहीदारी, हाली, कमिया	आदि द्रविड़
महाराष्ट्र	बेट, बेगार	कटकारी, ढोरकोली, बोली भील
उड़ीसा	गोथी	खोंड, परोणा
राजस्थान	सगड़ी	भील, मीना

तमिलनाडु	बेगार	पनियान, कट्टु नायकर, शोलागा, आरिन, थरियार
उत्तर प्रदेश	माता	कोल्टा, कोल, जौनसारी"[45]

जनजातियों में बन्धुआ मजदूरी ऋणग्रस्तता का परिणाम है। हालाँकि यह प्रथा विभिन्न जनजातियों में भिन्न-भिन्न नामों तथा रूपों में प्रचलित है तथापि सभी में एक समान विशेषता यह है कि इसके अन्तर्गत ऋण लेने वाले व्यक्ति के साथ दास या गुलाम की तरह व्यवहार किया जाता है। इस संबन्ध में किए गए विभिन्न अध्ययनों से निम्न कारक इस के लिए उत्तरदायी माने जा सकते हैं -

1. जनजातीय क्षेत्रों की अनुपजाऊ मिट्टी
2. खेती की आदिम विधि
3. सिंचाई सुविधाओं की कमी
4. निरक्षरता तथा चतुराई का अभाव
5. गतिशीलता तथा जागरूकता की कमी
6. अन्य आर्थिक विकल्पों का अभाव
7. आधुनिक बाजार प्रणाली व मूल्य प्रणाली के संबन्ध में अज्ञानता
8. पंचायती निर्णयों पर विश्वास जिसके कारण आर्थिक दण्डों आदि पूर्ति के लिए महाजनों पर निर्भरता।"[46]

बंधुआ मजदूरी व्यवस्था के अंतर्गत ऋण लेने वाला व्यक्ति अपना या अपने किसी संबंधी का श्रम ऋण देने वाले व्यक्ति अर्थात् महाजन या साहुकार को उसके द्वारा दिये गये ऋण के ब्याज के रूप में देता है। ऋण का ब्याज चुकाने के लिए ऋण लेने वाले व्यक्ति या उसके द्वारा नियुक्त व्यक्ति को ऋण देने वाले व्यक्ति का सभी कार्य निःशुल्क करना पड़ता है। ऋण के पूर्ण भुगतान पर ही इस प्रकार के बंधन से मुक्ति मिल सकती है। यदि कोई बंधुआ मजदूर अपने जीवन काल में ऋण चुकाने में असमर्थ रहता है तो यह ऋण उसके पुत्र को चुकाना पड़ता है या तो उसे बंधुआ मजदूरी करना पड़ती है तथा यह सिलसिला पीढ़ी दर पीढ़ी चलता रहता है। भारत में आदिवासी समूह बंधुआ मजदूर के रूप में विविध उपन्यासों में उभर कर सामने आते हैं। उनमें से योगेन्द्रनाथ सिन्हा का उपन्यास है 'गाथा भोगनपुरी'। उपन्यास की कथा वस्तु बंधुआ मजदूर बँगड़ू पर केन्द्रित है। उपन्यास के आरम्भ में लेखक ने बंधुआ मजदूर बंगड़ू के संदर्भ में उल्लेख करते हैं कि- "बँगड़ू बचपन से ही दादूसिंह के घर में काम कर रहा था। उसे ये जानने की कभी इच्छा नहीं हुई कि वो दादूसिंह के यहाँ मजदूरी

क्यों करता है। उसने अपने बाप के दादूसिंह के यहाँ हमेशा मजदूरी करते देखा था, और उसके बाप ने भी शायद अपने बाप को इसी हालत में देखा था, बँगड़ू का बाप जब पीले रोग के कारण मरने की हालत में था तो उसने बंगड़ू को बताया कि बँगड़ू के दादा ने दादूसिंह के बाप से बीस रूपये उधार लिए थे और उसे चुकाने से पहले ही वो मर गया था। इसी कर्ज की सूद की एवज में बंगड़ू का बाप दादू सिंह के यहाँ मजदूरी करता था। और अब बंगड़ू को मजदूरी करनी थी।"[47]

मुख्यतः आदिवासी अत्यंत गरीब होते हैं, वे अपने धार्मिक या सामाजिक कर्तव्यों को निभाने के लिए जमींदार अथवा साहूकार के शरण में जाते हैं जहाँ एक बार वे ऋण लेते हैं तो पीढ़ी दर पीढ़ी उसे चुकाने में लगे रहते हैं, जिसका प्रसंग गाथा भोगनपुरी में मिलता है- "शादी-ब्याह के लिए आदिवासियों को अक्सर कर्ज की आवश्कता होती है। मालिक लोगों ने आदिवासियों को कर्जे देने शुरू किये। वे लोग कभी कर्जा चुका नहीं पाये। कर्जे के बदले में मजदूरी करने लगे। धीरे-धीरे सारे आदिवासी मालिकों के जंगली बन गये।"[48] इसी प्रकार 'गगन घटा गहरानी' का जागो अपने ससुर के अंतिम संस्कार तथा सारे बिरादरी को भोज करने के लिए साहुकार से ऋण लेकर बंधुआ बन जाता है। जिसमें वह अपनी मरजी के अनुसार कोई काम नहीं कर सकता न कहीं जा सकता है तथा न कहीं घूम सकता है। गुनी पूछने पर जागो कहता है- "नहीं-नहीं ऐसा न कहना गुनी। क्या मैं अपनी मर्जी से जंगल छोड़ भागा। अपने ससुर का कर्जा ही तो चुका रहा हूँ सेवकिया बन कर, क्या तू नहीं जानता ? अब तक भी भोज ज्यों का त्यों ही लगा हुआ है। तेरा जैसा गाँव-गाँव जंगल-जंगल घूमने की आजादी कहाँ...।"[49] अर्थात् बंधुआ मजदूर अपने इच्छा से कहीं जा नहीं सकता कब क्या काम करना है सारा जमींदार ही निर्णय करता है। 'गाथा भोगनपुरी' में अपने समय के सामाजिक व्यवस्था में निहित बंधुआ मजदूर की समस्या को बताया है। साथ ही साथ उनके मुक्ति के लिए सरकार द्वारा बनाया गया योजना का भी उल्लेख मिलता है। किन्तु समस्या यह उत्पन्न होती है कि जो बंधुआ मजदूर हैं उन्हें यह भी ज्ञात नहीं है कि वे किस प्रकार बंधुआ हैं। रामाधार ग्राम विकास अधिकारी आदिवासियों को बंधुआ मजदूर की परिभाषा समझाने की कोशिश करते हैं किन्तु वे आदिवासी समझ नहीं पाते हैं और उनमें से एक अधेड़ उम्र के सकुटू पूछ बैठता है कि- "अरे हम लोग का रस्सी बंधे रहते हैं जो बन्धुआ हुए ?"[50] रामअधार हिम्मत नहीं हारे। दूसरे दिन फिर

गाँव में गये और बँगड़ू को समझाने लगे कि- "बंधुआ का मतलिब रस्सी से बंधे जानवर नहीं है। लेकिन तुम हो वही। अरे कहीं अउर काम नहीं कर सकत। दादूसिंह कहता है तो खेत काटता हो। दादूसिंह कहता है तो जिनावर चराते हो। ऊ कहत है तो तेन्दू पत्ति तोड़त हो, काहे करत हो ई सब। काहे नहीं जात अउर कहीं।"[51] राकेश वत्स ने 'जंगल के आस पास' उपन्यास में भी बंधुआ समस्या का उल्लेख किया है। जमींदार के हाथों आदिवासी किस प्रकार शोषित और पीड़ित हैं तथा उनके श्रम का दोहन कैसे किया जा रहा है आदि का चित्रण किया गया है। लेखक कहता है- "पूरे इलाके में, मुश्किल से ही कोई ऐसा घर होगा जिसके किसी न किसी सदस्य ने अपने शरीर और मन पर बन्धुआ मजदूर होने का कलंक न ढोया हो। एक आदमी या औरत बूढ़े हो गये तो उसकी जगह दूसरे जवान लड़के या लड़की ने ले ली। फिर दूसरे की जगह तीसरे ने और तीसरे की जगह चौथे ने, इस तरह कई परिवारों में तो बन्धुआपन का यह सिलसिला पीढ़ी दर पीढ़ी चलता रहा। इसके बावजूद मजदूरों के बाप-दादाओं ने राय-साहब के बाप-दादाओं से जो रूपये उधार लिए थे उनका सूद तक भी अभी तक चुकता नहीं हुआ था। औरतों की दशा तो और भी ख़राब थी, उन्हें मजदूरी करने के साथ-साथ बाल-बच्चे और गृहस्थी भी संभालनी पड़ती थी। पिछले दिनों ऊपरे आँचल से एक सड़क निकाली गई थी। तब इन्हीं बंधुआ मर्द-औरतों को एक-दूसरे ठेकेदार को सौंपकर रायसाहब ने हजारों रूपये अपनी तिजोरी में डाले थे। बंधुआ मजदूरों को मिलता रहा था तन के ज़रूरी हिस्सों को ढकने के लिए खादी ग्रामोद्योग द्वारा तैयार किया हुआ मटमैला खद्दर और पेट भरने के लिए सस्ते चावलों और मोटे अनाज के आटे से बना जानवरी खाना।"[52] इसी प्रकार बाजत अनहद ढोल उपन्यास में भी बंधुआ मजदूर बनने, बनाने के अनेक प्रसंग देख सकते हैं।

4.8. शोषण - जमींदार, साहूकार, महाजनों का प्रभाव

सामंती व्यवस्था के अवशेष आदिवासियों के सीधे सरल आर्थिक व सामाजिक जीवन में उथल-पुथल लाने वाले प्रमुख कारक सिद्ध हुए हैं। आदिवासियों को अपने दांव-पेचों में उलझाकर अपना उल्लू सीधा करते रहे। आदिवासियों की सीमित आवश्यकताएँ, रीति-रिवाज और लोक-उत्सवों को संपन्न करने हेतु धन की आवश्यकताएँ जमींदार तक खींच ले जाती हैं। जिस तरह अंग्रेज भारत में बाहरी व्यक्ति ही बने रहे उसी तरह

आदिवासियों के मध्य जमींदार बाहरी व्यक्ति की भांति रहकर शोषण करने का यंत्र भर हैं।

आदिवासी लोगों के मन में जमींदार का भय बैठा हुआ है। 'गगन घटा घहरानी' का जागो त्रस्त, भयभीत, शक्तिहीन और प्रतिक्रिया हीन हो चुका है। वह समझ ही नहीं पाता कि "बकरी के जिस बच्चे को वह खिला-पिला कर तैयार करता, मालिक के आदमी आते और उसे उठाकर चल देते उसे बड़ा क्रोध आता। फिर मुर्गी के बच्चे भी जाने लगे। खेतों में जो अनाज होता उसका भी दो तिहाई मालिक के आदमी बाँट कर ले जाते।"[53] जमींदार के शोषण को सहना उनकी नियति हो गई है, जिसे वे बिना प्रतिरोध किये ही स्वीकार करते हैं। 'क्लावे' में जमींदार का दबदबा है। वह कई तरह के चंदे मांगता है- "बहिन के विवाह का चंदा, बन्दूक व कुत्ते खरीदने का चंदा और ठाकुर की माँ मर गई तो मृत्युभोज में मोतीचूर के लड्डू बनवाने के लिए पालगाँव वालों ने धन दिया।"[54] गरीब व भूखे नंगे आदिवासी जब कुछ बचा पाते हैं, वह सब जमींदारों के हाथों चढ़ जाता है। जमींदार की नीति है- "उसे जिंदा रहने दो और सर सब्ज होने का मौखा दो। पनप जाने पर फिर से चूसना शुरू कर दो।"[55] जमींदार अपने मूलधन को प्राप्त करके भी "एक रूपये का हजार रूपये वसूल कर चुके थे, लेकिन असल और उनके सूद की वसूली फिर भी बाकी थी।"[56] 'वरूण के बेटे' में जमींदार के आर्थिक स्वार्थों की टकराहट को प्रगतिशीलता के साथ उठाया है। मछुआरों की जीविका का एक मात्र साधन पोखर को भूतपूर्व जमींदार दोंदली करके बेचना चाहते हैं, लेकिन जमींदारी उन्मूलन के बाद पट्टा गोढ़ियारी के मल्लाह ले लेते हैं और जमींदारों के विरुद्ध एक जुट होकर डट जाते हैं- "कागज साफ बतला रहे थे कि पुश्त-दर-पुश्त गढ़पोखर से मछलियाँ निकालने का हक मलाही-गोढ़ियारी के मछुओं का चला आया है, मालिक बदलता आया है लेकिन आसामी कभी नहीं बदले हैं।"[57]

स्वतंत्रता के बाद जमींदारी उन्मूलन के साथ परिवर्तन होने लगता है। संस्कार इतने शीघ्र नहीं बदलते। कर लेने की आदत से मजबूर 'वरूण के बेटे' में जमींदारों ने "जलकर वसूलने की तकडुम भिड़ाई थी, लेकिन उसमें उन्हें कामयाबी नहीं मिलती तो झील की निकट वर्ति कछारे बिस्तबंधी ठेकों पर सस्ते-सस्ते उठा दी थी।"[58] कानून को हाथ में लेने वाले जमींदारों ने दण्ड देने के तरीखों में बदलाव ला दिया। "पहले ठाकुर किसी

सार्वजनिक रूप से सजा देता है। पहले वह गाली गलौज करता था और अब भाषण पड़ता है।"[59]

4.9. स्त्री-शोषण

मातृसत्तात्मक परंपरा के चलते भारत में आदिवासी महिलाओं की स्थिति देश के अन्य समुदाय के स्त्रियों के मुकाबले बेहतर है। अपने समुदाय में आदिवासी स्त्रियों का हमेशा से एक प्रमुख स्थान रहा है। लेकिन अब आदिवासी स्त्रियों के सामने अनेक समस्याएँ खड़ी होती जा रही हैं। उन्हें अन्य महिलाओं से अलग कर देखा जा रहा है। सभ्यता, विकास और हैसियत में नीची और अपने समाज में अधिक मुक्त होने के कारण ये महिलाएँ गैर-आदिवासियों के नज़र में उश्रृंखल मानी जाती हैं। गैर-आदिवासी उनका उपभोग भूमि हथियाने और उनके समुदाय का दमन करने के साथ उन पर अत्याचार भी करते आ रहे हैं।

आदिवासी समाज में प्रमुख समस्या है स्त्री का शोषण। स्त्री का शोषण अनेक प्रकार से किया जाता है। इसी शोषण को लेकर हिन्दी में अनेक आदिवासी उपन्यास लिखे गये हैं। स्त्री शोषण का चित्रण 'जंगल के आसपास' उपन्यास में चित्रित है। दमकड़ी गाँव के लोग आदमखोर से पीड़ित थे। सरकार ने उसे मारने के लिए एक अंग्रेजी शिकारी राबर्ट को नियुक्त किया है। वह दमकड़ी गाँव पहुँचता है। वहाँ के आदिवासी युवतियों को देख उसकी काम वासना जागती है। राबर्ट द्वारा शिकार की गई हिरण को तेज आंच में भूना जाने लगा। राबर्ट और उसके साथी छतरी के नीचे लगे टेबल पर फ्रांसीसी स्कॉच खोलकर उसे खाने और हज़म करने के सामान का बंदोबस्त करने लगे। इस सारे दृश्य को गाँव के सभी बच्चे आश्चर्य से देखने लगे। इस झुंड में कई आदिवासी युवतियाँ भी शामिल थीं। राबर्ट ने लड़कियों की झुंड में से ज्यादा जवान और खूबसूरत दिखाई देने वाली लड़की को इशारा करके बुलाया। सब लड़कियों ने अपनी-अपनी छाती पर हाथ रखकर समझना चाहा वह क्यों बुला रहा है। जब बुलायी गई लड़की ने हाथ रखा तो राबर्ट ने मुस्कुराकर स्वीकारात्मक गर्दन हिला दी और हाथ के इशारे से कहा हाँ तुम ही, चली आओ। लड़की सिकुड़ती-सकुचाती और अपनी फटी-पुरानी धोती मे बड़ी मुश्किल से अपने वक्ष को छुपाती राबर्ट के पास पहुँचती है तथा गर्दन झुकाकर उसके बगल में खड़ी हो जाती है। लड़की के यौवन को देखकर राबर्ट की आँखें भूखे भेड़िये की तरह चमकने लगी। वह गोश्त का एक टुकड़ा लड़की की ओर बड़ा देता है। लड़की हड़बड़ाकर टुकड़े को लेना चाहती है किन्तु राबर्ट एक भद्दी

नज़ाकत के साथ माँस के टुकड़े को हटा देता है। लड़की उस हरकत से हलकान होकर जब लौटने को तैयार होती है तो राबर्ट टुकड़ा लड़की को दे देता है और लड़की के कमर पर हाथ रखकर कहता है- "अगर रात को आएगा टब हम टुम का बहुत बरी-बरी चीज़ प्रेजेण्ट देगा।"[60] लड़की गोश्त लेकर सीधे अपने घर जाती है। राबर्ट की नज़रे उसका पीछा करती है।

लड़की के जाने के थोड़ी देर बाद ही उससे भी कुछ बड़ी लड़कियाँ सकुचाती-शरमाती बच्चों के उस झुंड में आ मिलती हैं और प्रतीक्षा करने लगती हैं कि शिकारी गोमा की तरह उन्हें भी बुलाए और गोश्त का टुकड़ा घर ले जाने के लिए दे ताकि उनके घर भी आज शाम हिरन का गोश्त बने। इस प्रकार झुंड़ मे खड़ी लड़कियों को देख राबर्ट के खुशी का ठिकाना नहीं रहता। उसने हिरण की देह से बड़े-बड़े टुकड़े कटवाकर अपने सामने की प्लेटों में रखवाकर जाँच करने लगता है कि सबसे ज्यादा सुन्दर लड़की कौन सी है ताकि इशारा करके वह उसे बुलाये। आखिर एक लड़की को चुन लेता है और इशारे से उसे बुलाता है।

एकाएक एक दिन राबर्ट एक आदिवासी के घर घुस जाता है। मकान के अन्दर से चीखें सुनाई देने लगती है। उपन्यासकार लिखते हैं- "चीखों के साथ ही कुछ इस तरह की उठा-पटक की आवाजें भी, जैसे कोई अरनी भैंस अपनी जान बचाने के लिए किसी बाघ के साथ युद्ध लड़ रही है।"[61] बाहर खड़े लोगों का झुंड़ इस दृश्य को किसी तमाशे की तरह देख रहा था। किसी को कुछ कहने की हिम्मत नहीं हो रही थी। किन्तु यह सब जमना से सहा नहीं गया। वह तमाशे के घेरे को तोड़कर आगे आयी और दहाड़कर बोली- "कमीनों, तुम्हारी बहू-बेटियों की लाज तुम्हारी आँखों के सामने एक विदेशी फिरंगी लूट रहा है और तुम इस तरह से पत्थर के बुत बने खड़े हो। डूब मरो कुत्तो, चुल्लू भर पानी में डूब मरो।"[62]

ऊपर बताया गया प्रसंग स्त्री शोषण का मात्र एक पक्ष है, इसी उपन्यास में स्त्री शोषण का दूसरा पक्ष भी अभिव्यक्त हुआ है जो वहाँ के जमींदार राय सहाब तथा ओझा द्वारा बनाये गए धार्मिक नियम परम्परा के रूप में सदियों से चला आ रहा है। रायसाहब और ओझा उस इलाके के न्यायाधीश हैं। इस इलाके में किसी भी स्त्री पर अत्याचार होने पर उसे अग्नि परीक्षा देनी पड़ती है। चंदेरी के शब्दों में "जिस लड़की या औरत की इज्जत लुट जाती है, अगर वह शिकायत ओझा या रायसाहब के पहुँचाए तो पहले उस लड़की या औरत को

अग्नि-परीक्षा देनी होती है, अपनी शिकायत की सचाई को साबित करने के लिए। अग्नि-परीक्षा में खरी उतर आने पर इज्जत लूटने वाले को वह हर्जाना देना होता है, जो औरत उसके माता-पिता या उसका पति मांग करे। अंत में हर्जाना की राशि का फैसला ओझा करता है। यही इस इलाके के ओझा का बनाया हुआ धार्मिक दस्तूर है और यह दस्तूर आदि जातियों के सभी कबीलों पर लागू होता है।"[63]

मैदान के बीचों-बीच चिता की तरह सजाकर रखी लकड़ियों का ढेर पड़ा था। उसके ऊपर से जाता हुआ एक मोटा-सा रस्सा, तमाशा दिखाने वाले नटों के रस्से की तरह, दोनों ओर अर्गलों वाली थम्मयों पर से होता हुआ ज़मीन में गड़े खूंटों से बंधा था। एक तरफ सात-आठ कुर्सियां कतार में करीने से सजी थीं। कुर्सियों की कतार के सामने थोड़ा हटकर लकड़ी की एक थम्मी ज़मी में गडकर रखी हुई थी। उस तम्मी के साथ देह से काफी हृष्ट-पुष्ट लगने वाला एक आदिवासी युवक बंधा था। थम्मी से थोड़ा हटकर पूरा पहाड़ी श्रृंगार किए एक आदिवासी लड़की बैटी हुई थी। लड़की का चेहा मुरझाया हुआ था, जैसे उस पर कोई बहुत बड़ा संकट आ पड़ा हो और वह संकट से छुटकारा पाने की चिंता में डूबी हो। इस सारे दृश्य को देखकर राबर्ट वहाँ उपस्थित एक अफसर से अंग्रेजी में ही पूछता है यह सब क्या है? अफसर अंग्रेजी में ही जवाब देता है- "यह एक लड़की की अग्नि-परीक्षा हो रही है। यह जो सामने सजी-धजी लड़की बैठी है, इसने इस लकड़ी के साथ बंधे आदमी पर बलात्कार की शिकायत दर्ज कराई है। वह औरत सच्ची है या झूठी, इसका फैसला इस अग्नि-परीक्षा से किया जाएगा।"[64]

सब लोग अपनी-अपनी कुर्सियों पर सज गये। ढोल बजना बंद हो गया। ठोल वाले की जगह पर सिर पर लम्बे-लम्बे सींग सजाए लाल पोशाकों वाले दो नर्तक बाहर निकल आए और हाथों में पकड़ी छोटी-छोटी खड़ताले बजा-बजाकर अग्नि परीक्षा देने वाली औरत और लकड़ी से बंधे आदमी के इर्द-गिर्द नाचने लगे।

नृत्य पूरा होते ही ओझा ने इस उत्सव के कारण और महत्त्व को पहाड़ी बोली में लोगों को समझाया। इस समझाने में यह भी शामिल था कि यह सब देवता की इच्छा को पूरी करने के लिए हो रहा है और देवता की इच्छा पूरी करना इंसानों का फ़र्ज है। भाषण देकर ओझा अपने एक अंग रक्षक खलवा को रस्से को संभालने और दूसरे चैतू को लकड़ियों में आग देने के लिए कहा।

आदेश पाते ही खलवा खूंटे पर बंधे रस्से पर अपना पाँव रखकर खड़ा हो गया और चैतू ने लकड़ियों के ढेर को आग लगा दी। आग को छूते ही लकड़ियाँ भकभक करके जलने लगी। जब देखा गया कि पूरी चिता ने आग पकड़ ली है तो ओझा ने झाड़न के इशारे रस्से पर चढ़ने के लिए कहा।

लड़की काँपता हुआ शरीर लेकर एक बार धरती पर झुक गई, जैसे उसने सारे भाई-बंधुओं को प्रणाम किया हो और कहा हो कि दुबारा मुलाकात देवता के हाथ में है। इसके बाद वह धीरे-धीरे सधे हुए नट की तरह रस्से पर जा चढ़ी और अपने हाथ पक्षी के पंखों की तरह फैलाकर रस्से को पार करने लगी।

लड़की पूरे रस्से को पार करने ही जा रही थी कि रस्सा एक दम डोल उठा और लड़की एक लम्बी झूल के साथ चक्कर खाकर आग की लपेटों के बीच समा गई। दर्द भरी चीखों से जमीन और आसमान एक हो गए। पास के पेड़ों के पक्षी काँय-काँय चिल्लाते हुए आसमान पर मंडराने लगे। खलवा का पैर रस्से पर से हट गया। थम्मी के साथ बंधे आदमी ने एक हल्की-सी मुस्कान के साथ खलवा के पैर को धन्यवाद दिया। ओझा को दिए गये थोड़े घूस के पैसे सफल हो गये थे। उन पैसों की कीमत खलवा ने एक मासूम और निर्दोष लड़की की जान लेकर चुका दी थी।

सारे दृश्य को देखने बाद राबर्ट ने ओझा से सवाल किया- "अगर लड़की रस्सा को पार कर लेता तो किया होना मांगता ? ओझा राबर्ट की भाषा को ही अपनाने की कोशिश करता हुआ बोला- कुछ नहीं होना मांगता। लड़की का भाई, गरीब माँ-बाप जुर्माने रूप में बलात्कार करने वाला आदमी से कुछ रुपया मांगता है। वह रूपया दे देता और अपने काम पर चला जाता।"[65] फिर राबर्ट ओझा से सवाल करता है- "पर औरत का जिन्दा बाडी को फायर में जलाना बौत बुरा हाय, आइ मीन इट इज़ वैरी मच इल्लीगल। इसके उत्तर में ओझा कहता है- अग्नि परीक्षा एक धार्मिक काम है। रामायण काल से हमारे देश में वह चला आ रहा है। मां सीता को भी अग्नि-परीक्षा देनी पड़ी थी। अगर परीक्षा देती हुई कोई औरत जल जाती है तो यह देवता की मर्जी से होता है, इसमें हम या आप क्या कर सकते हैं।"[66] वास्तव में आदिवासियों के बीच उत्तपन्न विवादों को वे अपने पंचायत द्वारा निपटा लेते हैं किन्तु ऐसे कई आदिवासी क्षेत्र हैं जहाँ बाहरी लोगों का प्रवेश बरसों पहले हो चुका है। आर्थिक, सामाजिक स्तर पर उनका शोषण तो किया ही धर्म के नाम पर भी वे उनका शोषण करते रहे हैं।

उनकी सामाजिक व्यवस्था में हस्तक्षेप कर रहे हैं और अपना वर्चस्व स्थापित किये हुए हैं। क्या एक औरत या लड़की को इतना कह देना मात्र ही अग्नि-परीक्षा से कम नहीं है कि उसकी इज्जत लुट गई है। अग्नि-परीक्षा के डर से आदिवासी औरत मर्द द्वारा अपने पर किए गए अत्याचार को लेकर जबान तक नहीं खोल सकती।

इसी प्रकार उपन्यास 'पठार पर कोहरा' में भी आदिवासी महिला पर अत्याचार का प्रसंग दिखाई देता है। जिसका परिणाम जाति उस स्त्री का हुक्का-पानी बंद कर देती है। रंगेनी अपने पति के मृत्यु के बाद अकेली रहती है। अपना जीवन चलाने के लिए जंगल में वनोपजों को चुन कर तथा घर के पास उगाए गये तरकारियों को लेकर शहर के गलियों में बेचने के लिए जाती है। रेल गाड़ी में सिपाही उसके साथ अत्याचार करते हैं जिससे वह गर्भवती हो जाती है। गाँव में यह पता चलने पर उसे पंचायत में बुलाया जाता है। और उससे पूछा जाता है कि यह गर्भ किसका है ? रंगेनी अब तक झुका अपना सिर ऊपर उठा कर कहती है- "बीते दिनों कई मरदों ने हमारी देह खँखोरी है। रेलवई के सिपाही, सँझली गाड़ी में। साइत जतने थे, सबने...। फिर एक दिन औघड़वा भी हमारे साथ..."[67]

इस प्रकार के अत्याचारों का प्रसंग 'रेत' उपन्यास में मिलता है। 'रेत' कंजरों के जीवन पर लिखा गया उपन्यास है। अंग्रेजों ने भारत के कुछ जनजातियों को पेशे के आधार पर अपराधी जनजाति घोषित किया और 'क्रिमिनल ट्राइबल एक्ट' कानून लागू किया था। जिसके चलते वे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उनका शोषण करते रहते थे। स्वतंत्रता के बाद भारत सरकार ने उन्हें विमुक्त किया, फिर भी वर्तमान में समाज उन्हें उसी रूप से देख रहा है। जहाँ कहीं भी कोई अपराध होने पर पुलिस पुरुषों को पकड़कर ले जाती उन्हें छुड़ा लाने के लिए स्त्रियाँ पुलिस अधिकारियों के सात रात बीताती हैं। इसी समस्या की अभिव्यक्ति 'कबतक पुकारूँ' उपन्यास में भी हुई है। सुखराम को पुलिस के शिकंजों से छुड़ा लाने के लिए कजरी दरोगा रुस्तंखाँ की रखैल बनकर रहती है जिसके कारण उसे यौन रोग का शिकार होना पड़ता है।

4.10. धार्मिक समस्या

देश में कुछ धार्मिक आन्दोलन जनजातियों के विकास के साथ जुड़े हुए हैं। इनमें ईसाई आन्दोलन प्रमुख है। "19 वीं सदी के दूसरे दशक में ईसाई धर्म प्रचारकों ने जनजातीय क्षेत्रों में धर्म परिवर्तन के उद्धेश्य से

पदार्पण किया। इसके लिए इन लोगों ने सामाजिक सेवा, शिक्षा, स्वास्थ्य की सुविधा को उद्देश्य-पूर्ति का साधन बनाया। सन् 1831 में मेघालय की खासी जनजाति पहले-पहल विदेशी धर्म से प्रभावित हुई। तदोपरांत 1850 में छोटा नागपुर के उराँव तथा 1880 में मध्य प्रदेश के भीलों में धर्म परिवर्तन के साथ कल्याणकारी कार्य मिशनरियों ने चलाया। 1950 तक ईसाईकरण की प्रक्रिया तीव्रतर रही।"[68] विगत तीन दशकों में इस धर्म आन्दोलन के विरुद्ध कुछ जनजातियाँ सजग हो चली हैं तथापि ईसाईयों ने जो कार्यक्रम चलाया है या चलाए रहे हैं उसका प्रभाव सुदूर जनजातीय क्षेत्रों में पड़ा है। इसे नकारा नहीं जा सकता। आदिवासियों में ईसाई का आशय शिक्षा तथा आर्थिक सुविधा प्राप्त करना ही है। स्वयम् ईसाई जनजातियाँ इसे स्वीकार करने लगी हैं। इस आन्दोलन से ईसाई और गैर-ईसाई जनजाति के बीच एक खाई बन गई है। अतः इस आन्दोलन को आदिवासी समस्याओं का पूर्ण हल नहीं माना जा सकता है। धार्मिक आन्दोलन में हिन्दु या इस्लाम धर्म प्रचारकों की भूमिका नगण्य है। हिन्दू धर्म एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है। इसे प्रचार के माध्यम से लोगों को प्रेरित नहीं किया जा सकता है। चूँकि अनेक कृषक जनजातियाँ पड़ोसी हिन्दू जातियों के संपर्क में सैकड़ों वर्षों से हैं, अतः उनमें आचार-विचारों का परस्पर आदान-प्रदान होता रहा है। फलस्वरूप कुछ जनजातियाँ हिन्दू धर्म को मानने लगी हैं। भारतीय जनगणना के आंकड़े यही बताते हैं।

हिन्दी आदिवासी उपन्यासों में (सूरज किरण की छाँव, पठार पर कोहरा, काला पादरी, गाथा भोगनपुरी) लेखकों ने आदिवासी जीवन पर ईसाईयत के सकारात्मक एवं नकारात्मक प्रभाव से संबंधित अनेक प्रसंगों का उल्लेख किया है। साधारणतः भूख सदैव नई होती है, मनुष्य को प्रतिदिन इस नये भूख का सामना करना पड़ता है। जहाँ एक वक्त भी खाने के लिए अन्न प्राप्त न हो, भूखे मर रहे हो तो मनुष्य क्या करें ? स्वाभाविक ही वह अपना धर्म परिवर्तन करने में उसे किसी भी प्रकार का संकोच नहीं होगा। यही विडम्बना है भारतीय जनजातियों की। और इसी परिस्थितियों का लाभ उठाते हुए मिशनरियों ने जी जान लगाकर आदिवासियों का धर्म परिवर्तन कराया है। इस संदर्भ में 'सूरज किरण की छाँव' उपन्यास में वर्णित प्रसंग इस प्रकार है- सबकुछ लुटाकर जरपू बनी-मजूरी की तलाश में चैताम चला आया। यहाँ किसी ने उसे आसरा न दिया। एक झाड़ के नीचे झूला डालकर पड़ा रहा। कहीं मजूरी न मिली तो भूखा कबतक मरता, भांड़ी में (भीख मांगकर खाना- यह एक विशेष प्रकार की भीख होती है, जिसमें भिखारी से थोड़ा काम भी कराया जाता है।) लगा। एक दिन पादरी से

उसकी भेंट हो गई। पादरी ने उसे समझाया कि भंड़ी की जिन्दगी से मरना भला है। उसने झरपू की पीठ ठोंकी। बोला, "अभी तो जवान पठ्टा है रे, भांड़ी में कबतक जिन्दगी गुजारेगा। तुझे काम नहीं मिलता तो चल हमारे यहाँ।"[69] जरपू क्या करता, वह पादरी के यहाँ काम करने लगा। उसने रहने के खुली खोल दी, पहनने को कपड़े और दो जून का खाना। एक दिन पादरी बोला- "तुम्हारा धर्म कैसा है ? तुम्हारे लोग कैसे हैं ? तुझ जैसा हट्टा-कट्टा आदमी भूखों मर जाए और तेरी जाति वालों के कान में जूं तक न रेंगे। यदि हमारे धर्म में तू आ जाए तो जिन्दगी भर आराम से खाएगा। जहाँ तेरा पसीना बहेगा, हम अपना खून बहा देंगे।"[70] जरपू ने वहाँ कई लोगों को देखा था, कितनी चैन की ज़िन्दगी वे गुजार रहे थे। उस चमक-दमक में वह आ गया और एक दिन जरपू से जोसेफ बन गया। जोसेफ बने तीन-चार बरस हुए थे। अब वह एकदम बदल गया। गोंडों जैसा न उसका रहन-सहन है और न खाना-पीना उतनी अच्छी गोंडी भी वह नहीं बोलता। उसकी बोली में अकड़पन आ गया है और बिलायती भी वह थोड़ी सीख गया है।

खाने-पीने और सुख-सुविधा के मोह से आदिवासी धर्म परिवर्तन करते रहते हैं किन्तु कुछ संदर्भों में पादरी लोग आदिवासियों की विवशता का भी फायदा उठाते हैं। उन्हें एमोशनल ब्लैकमेल करते हैं। जिसका प्रसंग उदाहरण इस प्रकार है। एक बार एक बच्चा बीमार पड़ा, सब दवाइयाँ दी गयीं, सुई लगाई पर वह ठीक न हुआ। बच्चे की माँ पादरी के पैरों पर गिर पड़ी। इससे पहले उसके चार लड़के मर चुके थे। पादरी ने कहा- "यदि लड़के को ईशू को भेंट कर दो तो उपाय करूँ।"[71] माँ की ममता थी। उसने खूब चिरौरी की। बोली- "लड़के को भेंट कर दूँगी और खुद ईसाई बन जाऊँगी। मेरा अब कौन बेटा है।"[72] पादर ने ईशू के सामने प्रार्थना की। लड़के के सिर पर हाथ फेरा। एक ज़रा-सी पुड़िया मुँह में डाली। उसने आँखें खोल दी। माँ की खुशी का अन्त नहीं। उसने अपने के ईशू के चरणों में भेंट कर दिया। किन्तु इसका खण्डन करते हुए वहाँ के चर्च में काम करने वाले डाक्टर कहते हैं- "यह अच्छी बात नहीं। आड़े बखत किसी पर जबरदस्ती करना खराब है।"[73] इस बात को सुनते ही जोसफ एक अजीब लहज़े में बोला- "क्या खराब है, डागधर सहाब ? आप भी तो ईसाई हैं न ?"[74] "हाँ मैं कह रहा हूँ। औरों का भी तो धरम है। यदि वे तुम्हें बदल लेंगे। ईशू ने कब

कहा है कि तुम परधर्म वालों की सेवा न करो। मैं ईसाई हूँ, ईशू को मानता हूँ, उसके सामने सिर झुकाता हूँ, पर दूसरों से घृणा नहीं करता। डाक्टरी बड़ा खराब पेशा है, रूबी। लोग हमारे सामने भिखारी बनकर आते हैं, वे हमें देवता समझते हैं। जहाँ हम पहुँच जाते हैं, उस घर के आदमी सोचने लगते हैं कि मरीज अच्छा हो गया। इस काम में धरम नहीं मानवता चाहिए।"[75]

जनजातीय समाज को नयी दुनिया और वनेत्तर संसार से परिचित कराने की पहल मिशनरियों ने ही तो की थी। आदिवासियों को मानवाधिकारों और नयी चेतना से जोड़ने की पहल भी मिशनरियों के हाथ रही है। पठार पर कोहरा उपन्यास में लेखक कहते हैं कि- "बिरसा मुण्डा का पिता सुगना मुण्डा पहला मुण्डा था जिसने क्रिश्चियन धर्म को स्वीकार किया था और मसीहा दास के नाम से ईसाई धर्मप्रचारक भी बना था। और आगे प्रश्न उठाते हैं कि- क्या धर्मान्तरण अपने पुराने नाम को खोये बिना, अपनी पुरानी जातीय अस्मिता, संस्कृति, लोक और संस्कारों को मारे बिना सम्भव नहीं ? बाकी तो तर्कसंगत भी है, पर नाम भी...? धर्मान्तरण की यह अजीब शर्त है।"[76] धर्मान्तरण की ऐसी ही अतियों ने कुछ साइड इफेक्ट भी उत्पन्न किये हैं। आदिवासियों की उनकी मूल जीवनशैली, संस्कृति और परम्पराओं से दूर करने की गलत प्रक्रिया भी साथ-साथ चलने लगी। इसका दुष्प्रभाव आदिवासियों में असुरक्षाबोध से ही जन्मा था। इसी दुष्प्रभाव के विरुद्ध तो खड़ा हुआ था बिरसा का आन्दोलन।

मुण्डा जीवन में ईसाईयत और मिशनरियों का अनावाश्यक हस्तक्षेप ही वह बुनियादी मुद्दा रहा जो तत्कालीन ब्रिटिश सरकार की अदूरदर्शिता और ईसाई पक्षधरता के कारण विरोध के फोड़े से विद्रोह का नासुर बन गया था। फिर यह असन्तोष, असुरक्षाबोध, जातीय अस्मिता का उद्घोष और मुण्डाओं का अमर्ष उलगुलान के रूप में लगभग पूरे झारखण्ड में ही दावाग्नि की भाँति व्याप्त गया था।

'पठार पर कोहरा' उपन्यास में धर्म और धर्मान्तरण की आवश्यकता के संदर्भ में लेखक ने उपन्यास के प्रमुख पात्र संजीव और फादर ब्रूनो के मध्य एक लम्बे वार्तालाप को उध्दृत किया है। धर्मान्तरण की आवश्यकता को बताते हुए फादर ब्रूनो संजीव से कहते हैं- "दरअसल संजीव, धर्मान्तरण एक जरूरत बन जाता है कभी-कभी, क्योंकि मनुष्य को जीने का अधिकार मिल सके। सभ्य और संस्कृति के तरीके से। वनवासियों को सदैव इस अधिकार से बेदखल किया जा रहा है। जिस संसार से तुम आये हो संजीव , उससे

यह दुनिया कुछ अलग-सी है। इन दलितों से भी दलित आदिवासियों को हिन्दू कहते भर हैं। सादान या गैर-आदिवासी जातियाँ इन्हें अपने जैसा मनुष्य नहीं समझतीं। बराबरी हक नहीं देते लोग। हिन्दू पूजा स्थलों में आदिवासियों का प्रवेश वर्जित है क्यों ? क्योंकि आदिवासियों के अपने देवी देवता हैं ? पर देवता तो करोड़ों में हैं। हिन्दू धर्म के सामाजिक ढाँचे में आदिवासी अवांछित पुर्जे की तरह हैं। फिर इनके अधिकारों के लिए कोई खड़ा होता है तो हम पर दोषारोपण किया जाता है कि हम भोले-भाले लोगों की हिन्दुत्त्व से धर्मच्युत करते हैं। उन्हें बरगलाकर उनका धर्म परिवर्तन..."[77] फादर ब्रूनो की इस इस टिप्पणी पर संजीव सवाल करते हैं कि- "तो क्या आदिवासियों की मुक्ति का एकमात्र हल धर्मान्तरण ही है ?"[78] जवाब में फादर ब्रूनो कहते हैं- "नहीं शायद दूसरे हल भी हों, पर हमारे पास जो रास्ता है वह यही है। संविधान में मूलभूत अधिकारों का उल्लेख-भर कर देने से इनकी स्थिति नहीं बदलने वाली संयुक्त राष्ट्र संघ का घोषणापत्र कि दिसम्बर, 1994 से दिसम्बर, 2004 तक का दशक आदिवासियों का होगा। 9 अगस्त अन्तर्राष्ट्रीय आदिवासी दिवस घोषित-भर करने से क्या होगा ? कुछ जागरूकता तो आएगी- संजीव ने कहा।"[79] ना...। होगा तब कुछ हम आदिवासियों को बन्धु समझकर गले से लगाएँगे। अपना बनाएँगे। अपने में समा लेगें। यदि हम अपने जीवन में एक भी व्यक्ति की मुश्किलें आसान न कर सकें तो यह जीवन है किसलिए...।"[80] जिसके उत्तर में संजीव कहते हैं यह एक सकारात्मक सोच है फादर पुनः फादर ब्रूनो से प्रश्न करते हैं- "पर क्या धर्मान्तरण के लिए चर्च प्रेरित नहीं करता ? प्रचार-प्रसार ?"[81] इस प्रश्न के उत्तर में फादर ब्रूनो कहते हैं- "इन्कार नहीं करूंगा। मानता हूँ प्रचार किया जाता है। मुफ़्त पुस्तिकाएँ भी वितरित होती हैं पर शराब-सिगरेट के प्रचार तो हमसे कहीं ऊँचे पैमाने पर होते हैं, हर कोई तो नहीं बन गया शराबी। फिर प्रचार में बुरा क्या है ? आप बाध्य नहीं हैं किसी का अनुगमन करने को...। बुद्ध ने 'धम्म' का प्रचार नहीं किया क्या ? महावीर की जिनवाणी ? अशोक-द-ग्रेट ने तो अपने बेटे...मानव को...'महेन्द्र ! संजीव ने अटकते फादर को बताया। हाँ और बेटी...? संघमित्रा ? वही...। उन्हें सीलोन नहीं भेजा ? धर्म का प्रचार नया तोड़े हैं ? नयी है धार्मिक सहिष्णुता।"[82] फादर के इस तर्क से असहमत संजीव प्रश्न करते हैं कि- "आपके धार्मिक प्रचारों में किसी प्रकार का दबाव शामिल नहीं होता ?"[83]

फादर ब्रूनो कहते हैं कि- "कतई नहीं ! हम तो बस जनजातियों को उनके अधिकारों के प्रति जागरूक करते हैं। उनकी दमित-सुप्त चेतना को जाग्रत करना चाहते हैं। उन्हें बताते हैं कि प्रभु की बनाई इस दुनिया में सभी मनुष्य समान हैं।...हाँ, यह भी सच है कि यदि कोई आदिवासी श्रद्धापूर्वक ईसाईयत को अपनाने की इच्छा प्रकट करता है तो उसे बाप तिस्मा जरूर देते हैं हम... निःसंकोच !"[84] फादर के इन बातों को सुनने के बाद संजीव कुछ कहे बिना रह नहीं सके अतः वे अपनी मनो वेदना को इस प्रकार व्यक्त करते हैं- "बिना यह सोचे कि फादर कि सभ्य और आधुनिक बनाने में आप उन्हें जिस संसार से जोड़ने जा रहे हैं, वहाँ उनकी परम्परागत व्यवस्था या वन्य-मूल्यों को वह मान्यता कभी नहीं मिलनेवाली जो सदियों से उनके जीवन-मूल्यों में शामिल है ?"[85] संजीव के प्रश्न पर फादर ब्रूनो मौन रहते हैं। मनन करने लगते हैं। एहसास भी उन्हें होने लगा था कि इस कोण से भी सोचना चाहिए। सोचना ही होगा। संजीव कहते गये- "प्रत्येक जनजाति के अपने धार्मिक कर्मकाण्ड होते हैं फादर ! सामाजिक आचार, व्यवहार, विधि-विधान, जन्म और मृत्यु के संस्कार...! पर्व-त्योहार ! उनकी अपनी पारम्परिक वेश-भूषा और खान-पान...। भारत में सामाजिक न्याय और आर्थिक न्याय के भी रास्ते धर्म की गलियों से गुजरकर अपने लक्ष्य पर नहीं पहुँच सकते। धर्मान्तरण से कोई आर्थिक या सामाजिक समानता नहीं मिलने वाली।"[86] उपन्यास में धर्म परिवर्तन के पश्चात आदिवासियों के जीवन और उनके सोच-विचार में आने वाले परिवर्तनों को परिलक्षित करते हुए लेखक कहते हैं कि- "बनासकाँठा के लगभग सारे मुण्डा क्रिस्तान बन गये हैं। गले में क्रास पहिनने लगे हैं। चर्च भी जाते हैं और सरना में भी आते हैं। पर सरना की पूजा में वे अपना हाथ नहीं लगाते। क्रिस्तान बनते ही बाबू जो हो गये हैं बनासकाँठा के मुण्डा। अभी पुराने रीति-रिवाज एक दम धोकर पी नहीं गए सो मुण्डा भाइयों के साथ रोटि-बेटि का नाता चल रहा है पर वे रीति-रिवाज धीरे-धीरे छोड़ना शुरू कर चुके हैं। यहाँ तक की सिंगबोंगा को भी भूल रहे हैं जो मुण्डा लोगों का सबसे बड़ा देवता है।"[87]

उराँव आदिवासियों के धर्मान्तरण को केन्द्र में रखकर लिखा गया उपन्यास है 'काला पादरी' जिसमें लेखक ने आदिवासियों की धर्मान्तरण के पहले की स्थिति तथा धर्मान्तरण के बाद उनके जीवन में आये

परिवर्तनों को दिखाया है। क्या धर्मान्तरण के बाद आदिवासियों को सामाजिक और आर्थिक स्थर पर वह समानता मिली जिसकी वह कल्पना करते रहे थें? आदि प्रश्नों का समाधान इस उपन्यास में मिलता है। उपन्यास के प्रमुख पात्र हैं जेम्स काका और बैंक कर्मचारी आदित्य। जेम्स काका एक आदिवासी युवक हैं। जेम्स के दादा के समय ही उनका धर्मान्तरण हुआ था। देश में अंग्रेजों का शासन चल रहा था और विदेशी मिशनरियों का आदिवासी क्षेत्रों में पादर्पण हो चुका था। जेम्स ने आदित्य का परिचय फादर मैथ्यूज़ से कराने पर आदित्य को यह जानने की उत्सुकता होती है कि वे भारत कब आए। और वे यहाँ आने के पहले यहाँ की स्थिति कैसी थी। फ़ादर कहते हैं- "अभी जहाँ हम बैठे हैं यहाँ तो रात-रात भर आग जलाकर बैठना पड़ता था। कुनकुरी तो ठीक था, लेकिन यहाँ गिन्नाबहार में उन्नीस सौ बत्तीस में कुल जमा आठ घर थे, ओनली एट, वे भी एक दूसरे से दूर-दूर थे। जेम्स के ग्रांडफ़ादर भी यहीं पर थे, यंग स्टाउट ट्राइब, इसका दादा नंगा रहता था, राजा के यहाँ बाँडेड था। जीभ जैसे था ही नहीं मुंह में, कुछ बोलता नहीं था, हमने उसका बप तिस्मा किया, जेम्स का बाप उस समय छोटा था, उसका नाम था ऐलक्जेंडर। इसका बाप काम करते-करते हमारे पास आता था तो हम उसको दूध खिलाता था और जीसस क्राइस्ट का फोटो दिखाता था, वह पूछता कि यह दूध कहाँ से आया तो हम बताते कि ये दूध प्रभु यीशु भेजा है तुम्हारे वास्ते, तो वह मान जाता।"[88] फादर की इन बातों को सुनकर आदित्य सवाल करता है- "हाउ कुड यू मैनेज टू कन्वर्ट दैम ? आदित्य के इस सवाल के उत्तर में फादर कहते हैं- न... न...यही तो गलत फैमी है कि हम उनको ईसाई बनाया, यह तो प्रभु की इच्छा से हुआ, राजा इन सबसे बेगार कराता था, राजा का जो देवी लोग था, वह भी राजा बेटा का साथ देता था, खाखा बेटा का नहीं नहीं, खाखा का मतलब जानता है, जेम्स बताया होगा कि खाखा, पक्षी बोलते हैं, काला पक्षी, काला कौआ, हम को प्रभु काले पक्षी वास्ते भेजा, राजा के वास्ते नहीं, प्रभु ने इनको दूध दिया, काना दिया, कपड़ा दिया, तो प्रभु का शुक्राना तो इनको देना था न, वह ये लोग दिया, हम इनका बापतिस्मा किया, ये प्रभु का इच्छा था।"[89] फादरी लोग हमेशा आदिवासियों के धार्मिक विश्वासों और पूजा-पद्धति को तुच्छ मानते रहे आदित्य का प्रश्न- मैं जानना चाहता हूँ कि ये सब आप ने कैसे किया ? फादर कहते हैं "इनके पास ईश्वर का कोई इमेज नहीं था डियर, जिसकी ओर ये आस भरी निगाह के साथ देख सकें, जब हम यहाँ आया तो राजा

भी अपना देवी को प्लांट कर रहा था। यू नो हाऊ टू प्लांट ए थाट, इट इज़ बैरी इम्पार्टेंट, हम ने भी प्रभु यीशू की इमेज प्लांट कर दी, इट वाज़ ए वार ऑफ़ इमेजेज, जिसमें जीत हमारी हुई"[90] फादर के इस प्रसंग को सुनते ही जेम्स ने आवेश में आकर कहा फादर मैं एक बात पूछूँ ? फादर की स्वीकृति पाकर जेम्स ने कहना शुरू किया "क्या यह सच नहीं कि हमारी इमेजेज़ में पहाड़ थे, नदियाँ थीं, पेड़ थे, शेर थे, चीते थे, और राजा ने हमें बन्धुआ बना दिया, फिज़िकली और इक्नामिकली एक्सप्लाइट किया, लेकिन आप ने क्या किया यू रादर टेम्ड अस, आपने हमें पालतू बना दिया, हमारे लिये हिन्दू फ़ंडामेंडलिस्टों और आप में अब कोई कास फ़र्क़ नही है। हमारी सारी इमेजेज़ छीन लीं आप लोगों ने..."[91] जेम्स के इस कथन को सुनकर फादर ने कहा- "बट यू हैव टू पे द प्राईज़ फ़ॉर एवरी थिंग यू गैट"[92] तुरन्त जेम्स ने कहा- "सो यू आर मोर ए बिज़नेस मैन दैन प्रीस्ट"[93] वहाँ से निकलने के बाद जेम्स के अन्दर हो रही घुटन को व्यक्त करते हुए आदित्य से कहता है- "फ़ादर मैथ्यूज़ से मैं जब भी मिलता हूँ , वे हमे हमारे बौनेपन की याद दिलाते हैं। हमें जीवन भर धूल का कीड़ा ही समझें, ही हैज़ टू रिकेग्नाईज़ अवर न्यू स्टैट्स, हम लोग जब पढ़ लिख गये हैं, प्रार्थना का काम करते हैं, पूरा चर्च सम्हालते हैं, तो वे बार बार हमारी बेगार के दिनों की जुगाली क्यों करते हैं। सुनो आदित्य यह सच है कि प्रभु यीशू के हमारे जीवन में आने से पहले हमारे अन्दर कोई आवाज नहीं थी। कीड़ों की तरह रेंगता हुआ यह जीवन जिसकी ड़ोर राजा दुर्जन साल के वंशजों और वहशी लुटेरों के हाथों में थी। अपमान ज़िल्लत और ग़ैर-संवेदनशीलता से भरा एक गटर था जिसमें हम रहते थे बस किसी तरह। पादरियों ने हमें उस गटर से बाहर निकाला, ठीक है, लेकिन दैट वाज़ अवर पास्ट, यू हैव टू टेक नोट ऑफ़ अवर टुडे। माँ कहती हैं कि चूँकि चर्च ने तुम्हारे पिता और दादा को रोटी दी थी, काम दिया था और राजा की बेगारी से मुक्ति दिलाई थी, इसलिए तुम्हें अपना पूरा जीवन चर्च की सेवा में बिताना है। क्या यह एक तरह का बंधुआ विचार नहीं है। आखिर एक-दो पीढ़ी पहले तो हमें अपने अस्तित्त्व का पता नहीं था ठीक से, और अब जब पता चल गया है तो कहते हैं कि भूल जाओ, तुम्हारा कुछ नहीं है, जो कुछ है प्रभु परमेश्वर का है और परमेश्वर का रास्ता मिशनरीज़ से होकर गुजरता है, माइ फुट, मैं कहता हूँ परमेश्वर का रास्ता हमारी छोटी सी नहीं ईब से होकर गुजरता है, हमारे पेड़ों और पहाड़ों से होकर जाता है।"[94] अंतः जेम्स आदित्य को एक प्रार्थना सुनाता है जो इस

प्रकार है- "ऐ ईश्वर ! परमपिता परमेश्वर ! मैं सच्चे दिल से प्रार्थना करता हूँ कि इस साल हमारे गाँव में हाथी फिर से भेजना और हाथियों को आशीर्वचन देना ईश्वर की वे हमारे झोंपड़े तहस-नहस करने हमारे घर पर अवश्य आयें"[95] वे यह प्रार्थना इसलिए करते हैं क्योंकि जिन लोगों के झोपड़े हाथी थोड़ देते हैं उन्हें सरकार की ओर से मुआवज़ा मिलता है और झोंपड़ा दोबारा बनाने के लिए लकड़ी की बल्लियाँ और खपरैल वगैरह भी। इस तरह हाथियों के कारण उनके झोंपड़े नये बन जाते हैं और उन्हें कुछ पैसा भी मिल जाता है, जिस से कम-से-कम छह महीने का अनाज वे खरीद सकते हैं और उनको अकाल से एक्सटेंशन मिल जाता है।

इसी प्रकार गाथा भोगनपुरी उपन्यास में फ़ादर सिराको का उल्लेख हुआ है। वह व्यक्ति जो मानवीय संवेदनाओं से भरपूर है। आदिवासियों के विकास के लिए अनेक कार्य करते हैं। जिसका चित्रण इस प्रकार है- "बँगड़ू की स्थिति को देख कर किसी का खून नहीं खौलता था लेकिन फादर सिकारो को दुःख अवश्य होता था। फादर शिकारो मिशन के स्कूल को पिछले पन्द्रह सालों से चला रहे थे। वे केरल के रहने वाले थे। उन्हें पन्द्रह साल पहले, गाँव रखलुआ सोशल सर्विस करने भेजा गया था। सरकार ने मिशन को गाँव सभा की दस एकड़ जमीन दी थी। जिस समय फादर सिकारो गाँव में आये, वहाँ केवल एक कमरे का गिरिजा घर था, जिसमें सुबह-शाम गाँव के दस-पन्द्रह आदिवासी इकट्ठे होते थे। उस समय गाँव में कुल मिलाकर आदिवासियों के दस घर थे। मालिक लोग खेतों में काम करने के लिए मजदूर दूसरे गाँव से लाते थे। तेन्दू पत्ती तोड़ने के लिए भी मजदूर दूसरे गाँव से आते थे। फादर सिकारो ने मिशन की जमीन में खेती करनी शुरू की उन्होंने आदिवासियों को मजदूरी मालिक लोगों से ज्यादा देनी शुरू की। उन्होंने मजदूरों के लिए मिशन की तरफ से एक दुकान भी खुलवा दी, जिसमें खाने-पीने का सामान गाँव की दूसरी दुकानों से सस्ता मिलता था, मिशन का एक स्कूल भी चलने लगा। इसमें आदिवासियों के बच्चों को मुफ़्त शिक्षा दी जाती थी। मिशन की तरफ से एक डॉक्टर भी आया। दवा की सुविधा हो गई। गिरजे में आदिवासियों की संख्या बढ़ने लगी और पाँच साल में पन्द्रह घरों से पचास घर हो गये।

फादर सिकारो की मेहनत का पूरा-पूरा फायदा मालिक लोगों ने उठाया। उनको खेती और पत्ती तोड़ने के लिए मजदूर अब गाँव में ही मिलने लगे। बस एक ही दिक्कत थी। मिशन के खेतों में काम करने वालों को

मजदूरी पूरी मिलती थी और चार आने ज्यादा मिलती थी। इसका भी तरीका निकाल लिया गया। शादी-ब्याह के लिए आदिवासियों को अक्सर कर्ज की जरूरत पड़ती थी। फादर सिकारो कर्जा देने के सख्त विरोधी थे। कर्जा नाश की जड़ है, यह उन्हें सिखाया गया था। मालिक लोगों ने आदिवासियों को कर्जे देने शुरू किये। वे लोग कभी कर्जा चुका नहीं पाये। कर्जे के बदले में मजदूरी करने लगे। दादूसिंह को सस्ते गल्ले की दुकान खोलने का लाइसेंस तहसील से मिल गया। उसने तहसील में जाकर कहा था कि मिशन वाले सारे आदिवासियों को क्रिस्टान बना रहे थे। तहसीलदार साहब ने एक दिन के अन्दर लाइसेंस बना दिया था। मिशन की दुकान बन्द हो गई। धीरे-धीरे सारे आदिवासी मालिकों के जंगली बन गये।"[96] संक्षेप में जनजातीय जीवन पर ईसाई धर्म का प्रभाव निम्न रूप से परिलक्षित होता है-

1. आर्थिक स्थिति में सुधार। नये-नये रोजगारों का द्वार खुलना।
2. शैक्षणिक प्रगति- प्रमुख ईसाई पादरियों के नाम पर विद्यालयों की स्थापना।
3. भोजन, स्वास्थ्य में सुधार और ईसाई अस्पतालों की स्थापना।
4. संपूर्ण जीवन-शैली में आधुनिकीकरण की छाप।

5. प्रान्तीय और राष्ट्रीय राजनीतिक जीवन में पादरियों का मत-दाताओं के लिए विश्वसनीय सलाहकार साबित होना।
6. ग़ैर-ईसाई जनजाति की अपेक्षा ईसाई जनजातियों ने कल्याणकारी योजनाओं का भरपूर लाभ उठाया है।

उपर्युक्त सभी सकारात्मक प्रभाव हैं। कुछेक नकारात्मक प्रभाव निम्न हैं-

1. परम्परागत सरना पूजा स्थल का लोप, चर्च की महत्ता।
2. सामाजिक नियंत्रण की ईकाइयाँ यथा घुमकुरिया पंचायत, परहा पंचायत अस्तित्त्वहीन हो गई है।
3. परम्परागत विवाह शैली, पर्व-त्योहारों का ह्रास।
4. अलगाववादी वातावरण पनपना। ईसाई और ग़ैर-ईसाईयों के बीच पृथकता बढ़ती जा रही है।
5. ग़ैर-ईसाई जनजाति एवं ईसाई जनजाति के बीच चकराव और निरन्तर दूरी बढ़ रही है।

4.11. शिक्षा (Education)

अन्य सामाजिक व आर्थिक पक्षों की भाँति शिक्षा के क्षेत्र में भी जनजातीय लोग अलग-अलग स्थरों पर हैं। जनजातीय समूहों पर औपचारिक शिक्षा का प्रभाव बहुत कम पड़ा है। भूतपूर्व प्रयासों के फलों को अधिक विस्मय से नहीं देखना चाहिए क्योंकि 1950 से पहले जनजातीय लोगों को शिक्षित करने के लिए भारत सरकार की कोई भी प्रत्यक्ष योजना नहीं थी। संविधान के प्रभावी होने के पश्चात् अनुसूचित जनजाति के लोगों के शिक्षा स्तर में वृद्धि करना केन्द्र तथा राज्य सरकारों का उत्तर दायित्व हो गया है। जनजातीय जनसंख्या में औपचारिक शिक्षा के विस्तार का अनुमान जनगणना के आँकड़ों से लगाया जा सकता है। 1931 की जनगणना के अनुसार "केवल 0.7 प्रतिशत जनजातीय लोग ही शिक्षित थे। 1981 में यह संख्या बढ़कर 16 प्रतिशत हो गई जब कि पूरे देश में 37 प्रतिशत शिक्षित लोग थे।"[97] जनजातीय महिलाओं में शिक्षा की दर बहुत कम है। उत्तर-पूर्वी क्षेत्रों की खासी तथा गारो आदि जनजातियों को छोड़कर जिन्होंने ईसाई मिशनरियों से खूब लाभ उठाया, पूरे जनजातीय समाज में शिक्षा का स्तर अच्छा नहीं है। शिक्षा समान स्तर पर रहने तथा समान अवसरों को प्राप्त करने का प्रभावी मापदण्ड है। ऐसी स्थिति में जनजातीय लोग देश के अन्य लोगों से बहुत पीछे रह जाते हैं। हमें इस स्थिति का विश्लेषण करना चाहिए।

'पठार पर कोहरा' उपन्यास में आदिवासियों की शिक्षा संबंधी समस्याओं का उजागर किया गया है। आदिवासी शिक्षा के विकास के लिए सरकार द्वारा बनाये गये योजनाओं में किस प्रकार घोटाले किये जा रहे हैं, उन घोटालों में किन किन की भागीदारी है आदि का यथार्थ वर्णन हमें इस उपन्यास में मिलता है। उपन्यास में सरकार आदिवासी क्षेत्रों में आदिवासियों की शिक्षा के विकास में आपरेशन ब्लैकबोर्ड के तहत राज्यों को केन्द्र सरकार की ओर से करोड़ों रूपये की राशि मुहैया कराई जाती है। आदिवासी क्षेत्रों के विद्यालयों में फर्नीचर की खरीद के लिए प्रति विद्यालय पचास हजार और सामान्य क्षेत्र के विद्यालयों हेतु चालीस हजार रूपयों की सहायता राशि मिलती है। वैसे तो कई महत्वपूर्ण सरकारी फैसलें वर्षों तक फाइलों में ही दबे पड़े सड़ते हैं, परन्तु विद्यालयों में फर्नीचरों की यह खरीद-योजना बड़ी तेजी से परवाना चढ़ जाती है। सरकार में बैठे लोग, वरिष्ठ अधिकारी, जिला शिक्षा पदाधिकारी एवं अधीक्षक जैसे मध्यम स्तर के अधिकारी और मध्यम स्तर के बाबू लोग मिल-जुलकर सरकारी खजाने का अन्धाधुन्ध दोहन कर रहे हैं। सरकारी खरीद के आदेश ऐसे

ठेकेदारों को ही दिये जाते हैं जो सत्ता में बैठे लोगों तक को पाँच प्रतिशत कमीशन दे रहे थे। खरीद के आदेश तो धड़ाधड़ निर्गत होते हैं पर जनजाति कल्याण विभाग से उन्हें ऐसे खरीद की कोई सूचना तक नहीं मिलती। कु-प्रबन्धन, घोटाले, गबन और गलत तथ्यों की दलदल में उतरते चले गये थे, उपन्यास के प्रमुख पात्र संजीव। बात अब उनके विद्यालय की ही नहीं रही थी। वे तो देख रहे थे तली से छोटी तक हरी-भरी भ्रष्टाचार की बेल। उसे खत्म करने का कोई रास्ता था तो बस- भण्डाफोड़। हजारों लाखों नहीं वरन् करोड़ों रूपयों का पर्दाफाश।

4.12. दृष्टिकोण

आदिवासी समाज मुख्यधारा से अलग तथा अंधेरे में रहते हुए भी अपने सीधे सरल स्वभाव, ईमानदारी और उनकी सामूहिक भाई-चारे जैसी विशेताओं को देखकर वेरियर एल्विन सभ्यता के दुष्प्रभावों से बचाने के

लिए राष्ट्रीय उद्दान सिद्धान्त का सुझाव देते हैं। उनका मानना है- "ऐसी प्रशासनिक व्यवस्था हो जिसमें जनजातीय लोग स्वतंत्र तथा प्रसन्न रहे, किसी भी धर्म के मिशनरियों को उनके बीच जाकर मनमाना प्रचार करने की आवश्यकता न हो।"[98] लेकिन यह सिद्धान्त यथास्थितिवादी है तथा सभ्यता की प्रवर्तनशीलता के विरुद्ध होने के कारण स्वीकार नहीं किया जा सका है। इसका मतलब यह भी नहीं है कि अति-पिछड़े आदिवासियों का अति-सभ्य समाज के साथ विलय की निति के विरुद्ध इनके परम्परागत विश्वास या मान्यताओं के अच्छे पहलू हमेशा-हमेशा के लिए समाप्त हो जाएँ। सभ्य समाज का आदिवासी क्षेत्रों में अबाद अतिक्रमण गलत परिणाम देता है। इसका कारण यह है कि जनजातियाँ विकास की उन विभिन्न अवस्थाओं से अभी तक नहीं गुजर पायी है, तथा सामान्य आर्थिक सामाजिक स्तर को प्राप्त नहीं कर पाई है जो कि आदिवासियों के अतिरिक्त अन्य लोग प्राप्त कर चुके हैं।"[99] इनकी मूल सामाजिक संरचना व संस्कृति में बिना दखल दिये देश की विकास की हर प्रक्रिया में इनको शामिल किया जाए। नदीम हसनैन कहते हैं- "राष्ट्रीय विकास की प्रक्रिया में इन्हें समान रूप से सम्मिलित किया जाये तथा विकास से हो रहे लाभों पर इनका समान अधिकार होना चाहिए।"[100] आदिवासी जीवन पर लिखे सभी उपन्यासों का मूल स्वर वेरियर के विपरीत नदीम हसनैन समर्थित मध्यवर्गी रहा है।

समाजवादी यथार्थवाद से प्रेरित 'वरूण के बेटे' और 'कब तक पुकारूँ' है। दोनों भिन्न धरातल के हैं। 'वरूण के बेटे' में प्रतिबद्ध - फार्मूला बद्ध - दृष्टि है, जो मछुआरों के साथ है। नागार्जुन का प्रतिरूप मोहन मांझी के उपन्यास में प्रवेश करते ही प्रतिबद्ध लेखकीय दृष्टि अपना प्रभाव दिखाने लगती है। मछुआरों के जीवन की तुलना में शोषक शोषितों की कहानी प्रधान हो गई है। कथाकार ग्राम यथार्थ की अभिव्यक्ति के साथ पूरा-पूरा न्याय नहीं कर पाया है तथा जीवन की समस्याओं के जिन बिन्दुओं का स्पर्श हुआ है वे भी एकांगी होकर रह गये हैं।"[101] "यह सच है कि महान साहित्य का सदैव उद्धेश्य परक होना आवश्यक है, क्योंकि उसका लक्ष्य उच्चादर्शों की दिशा में मनुष्य के भावों और विचारों को संस्कार प्रदान करना है, लेकिन ऐसा करते समय वह विचारों को आरोपित नहीं करता। जीवित मानवों को जीवंत कृत्यों द्वारा अपेक्षित प्रभाव पैदा करता है।"[102]

उपन्यास में मोहन मांझी, मधुरी और मंगल पर लेखक की दृष्टि का दबाव है, जिससे इनके चरित्र की कई सम्भावनाएं सीमित होकर रह गई हैं। मंगल का चरित्र पूरी तरह से दबा हुआ है। "आंचलिक पात्रों में जो एक तरह की सहज गतिमयता और थिरकन पायी जाती है, इस पात्र में उसका एकदम अभाव है।"[103] मतवाद से बंधी हुई दृष्टि के बावजूद मछुआरों के सामुहिक जीवन से कई दृश्य बनते हैं। गरोखर में महाजाल डालने का प्रसंग सामाजिक जीवन की गहरी पहचान कहा जाता है। लोक गीतों व मधुरी की विदाई के प्रसंग में सांस्कृतिक जीवन मार्मिक एवं यथार्थ रूप में प्रस्तुत हुआ है।

'कब तक पुकारूं' के मूल्यांकन में आलोचकों को भ्रम बना हुआ है। लेकिन मोहन मांझी पर प्रतिबद्धता जितना रंग है उतना सुखराम पर नहीं। वर्ग संघर्ष व शोषण की प्रस्तुति कलात्मकता के साथ हुई है। इस संबंध में स्पष्ट करते हुए बांदिवड़ेकर लिखते हैं- "लेखक मार्क्सवादी रहा है और शायद आग्रही मार्क्सवादी भी, परन्तु सौभाग्य की बात है कि रांगेय राघव के इस उपन्यास की रचना प्रक्रिया में उनके पूर्वाग्रह बहुत कुछ घुल कर हैं।"[104] नट जनजाति के कई अंतरंग जीवन के चित्र- नटों के द्वारा खेल-तमाशे दिखाना, जड़ीबूटी बेचना, चोरी करना, महिलाओं द्वारा देह व्यापार, नट मर्द पर औरतों का हावी होना तथा सुखराम के द्वारा दो नट पत्नियों का आंतरिक संबन्ध गहन अनुभूति और यथार्थ की कठोर भूमि पर निर्मित हुआ है।

"उपन्यास में सुखराम, प्यारी और कजरी जैसे वर्गगत पात्रों के माध्यम से कथाकार अपनी जीवन दृष्टि पेश करता है। यहाँ शोषित वर्ग के प्रतिनिधि सुखराम और प्यारी है तो शोषक के प्रतिनिधि रुस्तम खाँ तथा उसके साथी हैं। 'वरूण के बेटे' में जितनी मार्क्सवादी प्रतिबद्धता हावी है उसकी तुलना में 'कब तक पुकारूँ' अधिक साफ़-सुथरा है। लेकिन दृष्टि की प्रतिबद्धता नटों के शोषण को एकसूत्र सेक्स की समस्या पर ही केन्द्रित है कर दिया है जैसे नटों के शोषण का दूसरा कोई आधार ही नहीं है। उपन्यास में व्यक्ति-जीवन सामुहिक जीवन की तुलना में हावी रही है। उपन्यास में सामुहिक जीवन का अभाव रहा है। मेले का चित्र, नटों के डेरों व उनके परिवेश का चलते-चलते वर्णन हुआ है। नटों के सांस्कृतिक जीवन में ठहरकर प्रवेश करने का जैसे लेखक के पास समय ही नहीं है। आनंद और मांगलिक अवसरों पर नृत्य-गान करके जश्न मनाना इस जाति का आम रिवाज है। भीषण दैन्य और अपमान की जिन्दगी में भी ये लोग नृत्य और गीत गाकर अपना

मन बहला लिया करते हैं।"[105] लोक जीवन के चित्रण करने का अवसर रांगेय राघव की लेखनी से विस्तार नहीं पा सके हैं, तो 'शैलूष' में ऐसे प्रसंगों की कल्पना ही नहीं की जा सकती है। नट जाति के धार्मिक विश्वास, रूढ़ियों तथा उनकी सामाजिक स्थिति के साथ उनके विभिन्न प्रकार के देवी देवता, जादू, भूत-प्रेत की कब तक पुकारूं में सूचना मिल जाती है, पर 'शैलूष' में इनकी आवश्यकता ही नहीं समझी गई।

गांधीवादी दर्शन को आधार बनाकर 'रथ के पहिए' लिखा गया है। यह गोंड जीवन में शिक्षा का प्रकाश फैलाने व सहकारिता के आधार पर कृषि करने का संदेश देकर समाजवाद का आधार बनता है। सामुहिक खेती करने के लिए- "दस बैल की जमीन ते लाल राम की थी, नब्बे हल की जमीन वाले चालिस किसानों को उसने उसके साथ सम्मिलित कर लिया और उसने कहा हम बराबर कार्य करेंगे, बराबर मेगनत कर फल लेंगे।"[106] "डेरी फार्म, कृषि फार्म खुलने के साथ शराब बेचने वाला अब बदल गया है और जमींदार धनपाल एकदम बुरा आदमी है, पर मैंने उससे कहा कि देखो लाल राम जैसे तुम ने शराब का ठेका छोड़ दिया और सेवानिवृत्त ले लिया वैसे धनपाल को भी हम बदल सकते हैं। किसी के बारे में यह फैसला दे देना कि वह बुरा है और अब हमेशा बुरा ही रहेगा, यह तो गलत है।"[107] लोक यात्री के बीहड़ अनुभव लिखते हुए प्रकास मनु स्वीकार करते हैं- "आखिर कभी न कभी तो अमीरों के दिल बदल जाएंगे और सब ठीक-ठाक हो जायेगा। यहाँ गाँधीवादी मण्डल की सीमाएं कुद सथ्यार्थी की सीमाएं बन जाती है।"[108] फलतः आदिवासियों को तब तक जमींदारों और ठेकेदारों के शोषण का शिकार होना है, जब तक उनका हृदय द्रवित होकर खुज-ब-खुद उनकी जमीन वापस न कर दें और ऋण माफ न कर दें।

गोंड जीवन की यथार्थ अभिव्यक्ति 'जंगल के फूल' में मिलती है। कथाकार की निरपेक्ष दृष्टि के संबंध में डॉ. बंशीधर लिखते हैं- "उपन्यास में इस जाति विशेष का सामाजिक जीवन अपने समस्त सांस्कृतिक वैभव एवं राजनीतिक चेतना के साथ साकार हो उठता है। विचारधारा की दृष्टि से उपन्यास का सारा चित्र कथाकार की निरपेक्ष दृष्टि का परिणाम है। वह किसी भी विचारधारा के प्रति आसक्त नहीं लगता है। यही कारण है कि उपन्यास में गोंड-जीवन अपनी समग्रता के साथ उभरकर सामने आता है। उसके जीवन के अच्छे और बुरे

दोनों ही पक्षों को कथाकार ने सामने रखने में सफलता प्राप्त की है।"[109] गोंड जीवन का सामाजिक विश्लेषण, उनके विश्वास, रूढ़ियाँ खुलकर सामने आती हैं।

'गगन घटा घहरानी' में उरांव आदिवासी के शोषण व जमींदारी अत्याचार, पारिवारिक विघटन व विस्थापन का वस्तु परक दृष्टि से संतुलित वर्णन मिलता है। कथाकार का मूल स्वर है- "अतिथि मानकर सम्मान करते थे उनका, उन्हें कुछ खिलाते थे, कुछ सीखते थे उनसे।"[110] पर बाहरी लोगों का असली चेहरा सामने आ गया। वे लिखते हैं- "उन्हीं मेहमानों ने यह कौन सा रूप ले लिया है कि उनकी छायाओं से भी भय लगने लगा है। उस भय के सामने वन के हिंसक पशुओं का भय तो कुछ भी नहीं है, भूत-प्रेत का भय तो कुछ भी नहीं।"[111] वाद रहित आरम्भ उपन्यास के अन्त में राजनीतिक पक्षधरता कलात्मकता में ढल नहीं पाती। आदिवासी समस्या का समाधान कथाकार हिंसा का समर्थन करके करता है- "जिन लोगों को दौड़ा-दौड़ा कर खदेड़ा गया, जिनका सब कुछ चला गया, जिनके खेत, घर दुंआर, इज्जत-आबरू, देह-भुजा लूट लिए गये, जो गाँव की धरती छोड़कर खाली हाथ इस बियावान जंगल में बिना किसी सहरे के डरे हुए खरगोश की तरह छुपने आये, पर यहाँ तक भी पीछा किया गया।"[112]

आदिवासी जीवन का चित्रण आने मात्र से, या केवल ग्रामीण स्थिति देख भर लेने से, या गाँव के वातावरण में लेखक के रहने से, सच्चे यथार्थवादी साहित्य का जन्म नहीं हो सकता। लेखक की आत्मा ग्रामीणता में स्वयं नहीं पनपती और वहाँ की क्रिया-प्रतिक्रिया से प्रयत्नशील होकर साहित्य में नहीं उतरती तब तक यथार्थवाद साहित्य की कल्पना संभव नहीं है। भील जीवन पर दो उपन्यास लिखे गये हैं, 'नदी के मोड़ पर', 'क्लावे' दोनों उपन्यास रचनाशीलता के अभाव में यथार्थ के नाम पर एक रिपोर्टर के द्वारा बनाई रिपोर्टिंग की याद ताज़ा करवा देते हैं। 'नदी के मोड़ पर' में रचनाकार सरकार की व्यवस्था का पक्षधर है। अतः सरकारी पक्ष की विचारधारा दिखाई देती है।"[113] क्लावे में यथार्थ घटनायें हैं, लेकिन चरित्र चित्रण में गहराई का अभाव है, जिससे आदिवासी जीवन के अंतरंग संबंधों का प्रस्फुटन नहीं हो सका है। उपन्यासकार की आत्म-स्वीकृति प्राक्कथन में है- "उन्होंने (भीलों ने) अपनी मनोभावना कभी व्यक्त नहीं की, इसलिए विवश होकर

मुझे विशेष घटनाओं का चुनाव करना पड़ा है और यही वजह है कि मैंने उनके ऊपरी संबंधों का जिक्र ही अधिक किया है।"[114] चुट्टी में गाँव देख भर लेने से जीवनगत अनुभूतियां नहीं आ सकती है, इस लिए 'नदी के मोड़ पर' और 'क्लावे' में छद्म लेखन हुआ है। चंद सूचनाओं के माध्यम से की गई रचना में आदिवासी जीवन का आभास भर होता है। ऐसे विवरणों में प्रायः बाह्य सतही यथार्थ के साथ एक प्रकार की उद्देश्य परकता का मिश्रण रहता है। पर जिन्दगी के गहरे दबावों या यातनाओं से कोई साक्षात्कार नहीं होता।"[115]

नटों से सहानुभूति व आग्रह से प्रेरित होकर लिखा 'शैलूष' एक पटकथा भर है। लेखक की प्रतिबद्धता ने नटों के संघर्ष को अतार्किक व नितांत काल्पनिक बना दिया है। आदर्श व उद्देश्य परकता के चलते नटों का सामान्य जीवन तिरोहित हो गया है।

इस प्रकार आदिवासी जीवन को लेकर लिखे गए उपन्यास उद्धेश्य परकता, सहानुभूति, आदर्शवाद, समाजवाद, गाँधीवादी विचारधारा और मार्क्सवादी विचार धाराओं से संचालित हैं। आदिवासी पृष्ठभूमि से रहित रचनाकार की लेखकीय सहानुभूति रचनागत मूल्यों को बचा नहीं सकी है, तो वहीं कहीं सघन अनुभूति और यथार्थ परक आदिवासी चित्र के दर्शन भी देखने को मिल जाते हैं।

संपर्क स्थिति से उत्पन्न जनजातीय समस्याएँ ऐतिहासिक नहीं हैं अर्थात् संपूर्ण ऐतिहासिक काल में इस प्रकार की स्थिति नहीं थी। मुस्लिम शासन के दौरान शासक जनजातीय समाज को परिवर्तित करने के पक्षपाती थे परन्तु उनकी नीति अहस्त क्षेप की थी, तथा जनजातीय समाज के लिए उनके मन में आदर था। राजस्व अधिकारी कर वसूलने के लिए जनजातीय गाँवों का दौरा करते थे और इस प्रकार जनजातीय समाज का संपर्क बाह्य जगत से था परन्तु बीहड़ जंगलों तथा पहाड़ों स्थित जनजातीय जनसंख्या बाह्य जगत के संपर्क से अछूत थी। परन्तु अंग्रेजों के आगमन के साथ-साथ देश का अकादमिक तथा गैर अकादमिक शोषण प्रारम्भ हो गया। देश के वृहत अगम्य क्षेत्रों की खोज साहसिक यात्रा करने वालों तथा सामाजिक कार्यकर्ताओं द्वारा की गई। इसके पश्चात् अंग्रेजों का लक्ष्य देश को बाहरी लोगों के लिए खोलना था, ताकि देश के प्रकृतिक संसाधनों का वृहत पर दोहन किया जा सके। इसके अंतर्गत देश में रेल मार्ग बिछाए गए तथा यातायात के अन्य साधनों की स्थापना की गई जिससे देश को एक सूत्र के रूप में जोड़ा जा सके। अंग्रेजों की इस नीति के कारण जनजातीय

क्षेत्रों में बाहरी लोगों की आवाजाही बढ़ गई। ऐसे लोगों को स्थानीय प्रशासन का संरक्षण प्राप्त था। इस कारण जनजातीय क्षेत्रों का समीकरण बिगड़ गया। जनजातियों के मामले में सैद्धांतिक तौर पर भूमि हस्तांतरण का अर्थ है 'जनजातीय भूमि जो कभी भी विक्रय संपत्ति नहीं थी, का गैरकानूनी ढंग से अजनजातीय या श्रेष्ठ जनजातीय द्वारा हड़पा जाना। भूमि हस्तांतरण की समस्या राज्य दर राज्य में अलग-अलग है। आदिवासियों में आर्थिक बदहाली, भूमिहीनता, सामंती, जमींदार के हाथों में फंसकर ये लोग बेगार तो करते ही हैं, बंधक श्रमिक भी बन जाते हैं। बेगार में निःशुल्क सेवा करनी होती है, और बंधक को अपना पेट भरने के लिए परिवार के दूसरे लोगों पर निर्भर रहना पड़ता है।

आदिवासियों में व्याप्त बेगारी या बंधक प्रथा को 'गगन घटा गहरानी', 'क्लावे', 'नदी के मोड़ पर', 'जंगल के फूल', 'रथ के पहिये', और 'धूणी तपे तीर' में उठाया गया है। अधिकतर पहाड़ और जंगली इलाकों में शिकार के शौकीन महाजन, जमींदार, ठाकुर आदि शिकार के समय आदिवासियों को हाँके लगने के लिए बुलाये जाते हैं। नदी के मोड़ का भट्टू सिंह अपने पिता के द्वारा लिये गये ऋण के एवज में जमींदार के यहाँ बंधक बना लिया जाता है।

आदिवासी जीवन पर लिखे गये सभी उपन्यासों में शराब से उनका संबन्ध सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक रूप से जुड़ते हैं। सामाजिक मान्यताओं व रीति-रिवाजों व उनकी आस्थाओं की अभिव्यक्त 'गगन घटा घहरानी' उपन्यास में मिलती है। ठेकेदार द्वारा बेची जाने वाली शराब आदिवासी समुदाय में सामजिक अस्त-व्यस्तता को जन्म देती है। सभी औपन्यासिक रचनाओं में ठेकेदार के कारनामों, उसके गलत कार्यों को उजागर किया है। शराब से मौत का ताण्डव 'गगन घटा घहरानी' में देखा जा सकता है शराब के दुष्प्रभावों को मद्देनजर रखते हुए आदिवासी समाज में इस पर नियंत्रण के उपाय पर विचार करना चाहिए। लेकिन मदिरा इनके पारम्परिक जीवन से जुड़ी हुई है, इसलिए बाहरी दबावों के आधार पर एकदम इसे नहीं रोका जा सकता है। शराब संबधी के आधार पर नियंत्रण आदिवासी समाज को बिना समझे इसके आंतरिक क्रिया-कलापों में दखल देना होगा।

इसी प्रकार आदिवासी स्त्रियों के सामने अनेक समस्याएँ खड़ी होती जा रही हैं। उन्हें अन्य महिलाओं से

अलग कर देखा जा रहा है। सभ्यता, विकास और हैसियत में नीची और अपने समाज में अधिक मुक्त होने के कारण ये महिलाएँ गैर-आदिवासियों के नज़र में उश्रृंखल मानी जाती हैं। गैर-आदिवासी उनका उपभोग भूमि हथियाने और उनके समुदाय का दमन करने के साथ उन पर अत्याचार भी करते आ रहे हैं।

आदिवासी समाज में प्रमुख समस्या है स्त्री का शोषण। स्त्री का शोषण अनेक प्रकार से किया जाता है। इसी शोषण को लेकर हिन्दी में अनेक आदिवासी उपन्यास लिखे गये हैं। स्त्री शोषण का चित्रण 'जंगल के आसपास' 'जंगल के फूल', 'पठार पर कोहरा', 'धपेल' तथा गाथ भोगनपुरी आदि उपन्यास में प्रमुख रूप से चित्रित है।

आदिवासी समुदायों को उपन्यास की विषयवस्तु बनाकर रचनाकारों ने निश्चित ही प्रगतिवादी, उदारवादी और सहानुभूति का परिचय दिया है। उपन्यासों में आदर्शवाद, गाँधीवाद और आदर्शवाद से ररचनामें सहानुभूति, काल्पनिकता और लेखकीय आग्रह से आदिवासी जीवन का काल्पनिक रूप अस्पष्ट रह गया है। किसी विचारधारा से प्रेरित रचनाकार की तुलना में वाद निरपेक्ष उपन्यासों में आदिवासी जीवन का यथार्थ चित्रण हुआ है। 'शैलूष' और, 'पाँव तले की दूब', 'वन के मन में' में वाद निरपेक्ष की दृष्टि से लिखा गया है तो विचारधारा से प्रेरित रचना है 'वरुण के बेटे' 'पठार पर कोहरा' 'जंगल के फूल' और 'गगन घटा घहरानी'। वस्तुतः सभी उपन्यासों में यथार्थपरक चित्रण और प्रगतिशील विचारधारा का परिचय मिलता है।

संदर्भ-सूची

1. भारतीय मानव शास्त्र - प्रफुल्ल रंजन झा, पृ. 246
2. भारतीय मानव शास्त्र - प्रफुल्ल रंजन झा, पृ. 247
3. भारतीय मानव शास्त्र - प्रफुल्ल रंजन झा, पृ. 247
4. भारतीय मानव शास्त्र - प्रफुल्ल रंजन झा, पृ. 247
5. रतीय मानव शास्त्र - प्रफुल्ल रंजन झा, पृ. 248

6. भारतीय मानव शास्त्र - प्रफुल्ल रंजन झा, पृ. 248

7. भारतीय मानव शास्त्र - प्रफुल्ल रंजन झा, पृ. 248

8. भारतीय मानव शास्त्र - प्रफुल्ल रंजन झा, पृ. 249

9. भारतीय मानव शास्त्र - प्रफुल्ल रंजन झा, पृ. 260

10. भारतीय मानवशास्त्र - प्रफुल्ल रंजन झा, पृ. 260

11. आदमी बैल और सपने - रामशरण जोशी, पृ. 39

12. गगन घटा घहरानी - मनमोहन पाठक, पृ. 11

13. गगन घटा घहरानी - मनमोहन पाठक, पृ. 66

14. नदी के मोड़ पर - दामोदर सदन, पृ. 115

15. भारतीय मानव शास्त्र - प्रफुल्ल रंजन झा, पृ. 250

16. भारतीय मानव शास्त्र - प्रफुल्ल रंजन झा, पृ. 253

17. भारतीय मानव शास्त्र - प्रफुल्ल रंजन झा, पृ. 253

18. भारतीय मानव शास्त्र - प्रफुल्ल रंजन झा, पृ. 255

19. आदमी बैल और सपने - रामशरण जोशी, पृ. 86

20. जनजातीय भारत - नदीम हसनैन, पृ. 116

21. वरूण के बेटे - नागार्जुन, पृ. 27

22. गाथा भोगनपुरी - किशोर कुमार सिन्हा, पृ. 65

23. पाँव तले की दूब - संजीव, पृ. 11

24. आदमी बैल और सपने - रामशरण जोशी, पृ. 22,

25. धूणी तपे तीर - हरिराम मीण, पृ. 63

26. धूणी तपे तीर - हरिराम मीण, पृ. 64

27. नदी के मोड़ पर - दामोदर सदन, पृ. 150

28. आदमी बैल और सपने - रामशरण जोशी, पृ. 20,

29. जंगल के फूल - राजेन्द्र अवस्थि, पृ. 25

30. क्लावे - जय सिंह, पृ. 71

31. धूणी तपे तीर - हरिराम मीण, पृ 67

32. धूणी तपे तीर - हरिराम मीण, पृ. 67

33. धूणी तपे तीर - हरिराम मीण, पृ. 67

34. रथ के पहिए - देवेन्द्र सत्यार्थी, पृ. 228,

35. भारतीय मानव शास्त्र - प्रफुल्ल रंजन झा, पृ. 284

36. जनजातीय भारत - नदीम हसनैन, पृ. 123

37. धूणी तपे तीर - हरिराम मीणा, पृ. 45

38. गगन घटा घहरानी - मनमोहन पाठक, पृ. 110.

39. कब तक पुकारूँ - रांगेय राघव, पृ. 23,

40. गगन घटा घहरानी - मनमोहन पाठक, पृ. 111,

41. गगन घटा घहरानी - मनमोहन पाठक, पृ. 154.

42. क्लावे - जय सिंह, पृ. 94,

43. गगन घटा घहरानी - मनमोहन पाठक, पृ. 112

44. जनजातीय भारत - नदीम हसनैन, पृ. 123 ,

45. भारतीय मानवशास्त्र - प्रफुल्ल रंजन झा, पृ. 264, 265

46. भारतीय मानवशास्त्र - प्रफुल्ल रंजन झा, पृ. 266, 267

47. गाथा भोगनपुरी - किशोर कुमार सिन्हा, पृ. 7

48. गाथा भोगनपुरी - किशोर कुमार सिन्हा, पृ. 45

49. गगन घटा घहरानी - मनमोहन पाठक, पृ. 18

50. गाथा भोगनपुरी - किशोर कुमार सिन्हा, पृ. 62

51. गाथा भोगनपुरी - किशोर कुमार सिन्हा, पृ. 64

52. जंगल के आस पास - राकेश वत्स, पृ. 270

53. गगन घटा घहरानी - मनमोहन पाठक, पृ. 34

54. क्लावे - जयसिंह, पृ. 69

55. क्लावे - जयसिंह, पृ. 72

56. नदी के मोड़ पर - दामोदर सदन, पृ. 115

57. वरूण के बेटे - नागार्जुन, पृ. 60

58. वरूण के बेटे - नागार्जुन, पृ. 20

59. क्लावे - जयसिंह, पृ. 79

60. जंगल के आसपास - राकेश वत्स, पृ. 129

61. जंगल के आसपास - राकेश वत्स, पृ. 144

62. जंगल के आसपास - राकेश वत्स, पृ. 144

63. जंगल के आसपास - राकेश वत्स, पृ. 138

64. जंगल के आसपास - राकेश वत्स, पृ. 195

65. जंगल के आसपास - राकेश वत्स, पृ. 197

66. जंगल के आसपास - राकेश वत्स, पृ. 198

67. पठार पर कोहरा - राकेश कुमार सिंह, पृ. 69

68. जनजातीय भारत -डॉ. ए.आर.एन. श्रीवास्तव, पृ. 93, 94, 95

69. सूरज किरण की छाँव - राजेन्द्र अवस्थी, पृ. 32

70. सूरज किरण की छाँव - राजेन्द्र अवस्थी, पृ. 32

71. सूरज किरण की छाँव - राजेन्द्र अवस्थी, पृ. 64

72. सूरज किरण की छाँव - राजेन्द्र अवस्थी, पृ. 64

73. सूरज किरण की छाँव - राजेन्द्र अवस्थी, पृ. 64

74. सूरज किरण की छाँव - राजेन्द्र अवस्थी, पृ. 64

75. सूरज किरण की छाँव - राजेन्द्र अवस्थी, पृ. 64, 65

76. पठार पर कोहरा - राकेश कुमार सिंह, पृ. 161

77. पठार पर कोहरा - राकेश कुमार सिंह, पृ. 172

78. पठार पर कोहरा - राकेश कुमार सिंह, पृ. 172

79. पठार पर कोहरा - राकेश कुमार सिंह, पृ. 172

80. पठार पर कोहरा - राकेश कुमार सिंह, पृ. 172

81. पठार पर कोहरा - राकेश कुमार सिंह, पृ. 172

82. पठार पर कोहरा	- राकेश कुमार सिंह,	पृ.172. 173
83. पठार पर कोहरा	- राकेश कुमार सिंह,	पृ. 173
84. पठार पर कोहरा	- राकेश कुमार सिंह,	पृ. 173
85. पठार पर कोहरा	- राकेश कुमार सिंह,	पृ. 173
86. पठार पर कोहरा	- राकेश कुमार सिंह,	पृ. 173, 175
87. पठार पर कोहरा	- राकेश कुमार सिंह,	पृ. 73
88. काला पदरी	- तेजिन्दर,	पृ. 43, 44
89. काला पदरी	- तेजिन्दर,	पृ. 44
90. काला फादरी	- तेजिन्दर,	पृ. 45
91. काला फादरी	- तेजिन्दर,	पृ. 45
92. काला फादरी	- तेजिन्दर,	पृ. 45
93. काला फादरी	- तेजिन्दर,	पृ. 45
94. काला फादरी	- तेजिन्दर,	पृ. 45, 46, 48
95. काला फादरी	- तेजिन्दर,	पृ. 50
96. गाथा भोगनपुरी	- किशोर कुमार सिन्हा,	पृ. 44-45
97. भारतीय मानव शास्त्र	- प्रफुल्ल रंजन झा,	पृ. 268
98. जनजातीय भारत	- नदीम हसनैन	पृ. 103,
99. भारतीय जनजातियाँ	- डॉ. हरिश्चन्द्र उप्रेती	पृ. 168,
100. जनजातीय भारत	- नदीम हसनैन,	पृ. 103,

101. हिन्दी के आंचलिक उपन्यास - डॉ. बंशीधर, पृ. 117,

102. साहित्य समाज शास्त्रीय संदर्भ - सं.वी.डी. गुप्ता, पृ. 104

103. हिन्दी के आंचलिक उपन्यास - डॉ. बंशीधर, पृ. 123

104. उपन्यास स्थिति और गति - बांदिवड़ेकर, पृ. 123,

105. हिन्दी के आँचलिक उपन्यास - डॉ. बंशीधर, पृ. 144,

106. रथ के पहिए - देवेन्द्र सत्यार्थी, पृ. 251,

107. रथ के पहिए - देवेन्द्र सत्यार्थी, पृ. 185,

108. रथ के पहिए भूमिका से पृ. 14

109. हिन्दी के आंचलिक उपन्यास - डॉ बंशीधर, पृ. 164

110. गगन घटा घहरानी - मनमोहन पाठक, पृ. 179

111. गगन घटा घहरानी - मनमोहन पाठक, पृ. 179

112. गगन घटा घहरानी - मनमोहन पाठक, पृ. 232

113. नदी के मोड पर - दामोदर सदन, पृ. 100

114. क्लावे - जयसिंह, प्राक्कथन, पृ. 9

115. अधूरे साक्षात्कार - नेमिचन्द्र जैन, पृ. 3, 4

उपसंहार

उपसंहार

भारत एक ऐसा विशाल राष्ट्र है, जिस में जनजाति अधिक संख्या में निवास करती है। संम्पूर्ण भारत की जनसंख्या का लग-भग सात प्रतिशत भाग जनजातीय समाज का है। भारत जैसे विशाल देश में भाषा, धर्म, जाति तथा वेशभूषा की भिन्नताओं की तरह जनजातियों में भी भिन्नताएँ पायी जाती हैं। ये समस्त जनजातियाँ भारत की मूल निवासी हैं। इन्हें हम 'जनजाति', 'आदिमजाति', 'वनवासी', 'आदिवासी', 'गिरिजन', अथवा 'अनसूचित जनजाति' के नाम से जानते हैं। इन जनजातियों के अलग-अलग नाम उनके अनेक उप जातियाँ, उनकी संस्कृति खान-पान, रहन-सहन, भाषा पूरी तरह से एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी इनकी समस्याएँ, इनका जीवन, जीवन साधन, और सामान्य तरीकें लगभग एक से हैं।

अब तक मानवशास्त्री, समाज शास्त्रियों ने जनजाति को अपने-अपने मतानुसार परिभाषित करने की कोशिश की। किन्तु जनजातीय समाज की कोई भी पूर्ण रूप से मान्य परिभाषा अब तक प्रचलित नहीं हो पाई है। क्योंकि एक जनजातीय समाज की आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, भाषागत विशेषताँ दूसरी जनजातीय समाज से अलग-अलग हैं। फिर भी जनजातियों के संदर्भ विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाएँ यह स्पष्ट करती हैं 'कि वन्य प्रदेशों में रहने वाले ऐसे व्यक्ति समूह जो सामान्यतः समान भाषा, समान संस्कृति, तथा समान भू-क्षेत्र से संबंधित हों वे जनजातीय समूह के अंग कहलाते हैं।

भारत का इतिहास अत्यंत प्राचीन है। भारत के इतिहास ग्रंथ एवं महाकाव्यों में जनजातियों का उल्लेख मिलता है। रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्यों का ऐतिहासिक महत्व कुछ भी हो, उनमें जनजातियों का

जैसे, शूद्र, अभीर, द्रविड़, पुलिन्द, शबर अथवा सौर का सन्दर्भ आता है। इनमें से एक सर्वाधिक सुपरिचित है और संभवतः एक मात्र जनजाति है जो आज भी विद्यमान हैं तथा जिसका सन्दर्भ ऐतरेयब्राम्हण में बदिसम है, वह है 'शबरी', जिस ने राम को जूठे फल भेंट किए थे। शबरी ऐसे योगदानों का एक ऐसा प्रतीक बन चुकी है कि जनजातियाँ भारत के जीवन का निर्माण कर सकती हैं। उस समय ज्ञात जनजातियों में अधिकांश ने महाभारत तथा रामायण के असंख्य घटनाओं में सम्मिलित होने का दावा किया है। एकलव्य नामक एक भील जिसने गुरुदक्षिणा के रूप में द्रोणाचार्य को अपना अंगूठा अर्पित कर दिया था, दंत कथाओं में एक आदर्श शिष्य के रूप में वर्णित किया गया है। मुण्डा, नागाओं ने कौरवों की ओर से पाण्डवों के विरुद्ध लड़ने का दावा किया है। भीम का पुत्र घटोत्कच जिसने युद्ध में असाधारण वीरता का प्रदर्शन किया था, का जन्म भीम की जनजातीय पत्नी हिडिम्बा से हुआ था। अर्जुन ने एक नागा राजकुमारी चित्रांगदा से विवाह किया था। निषाद, जिन्होंने इस काल में अपनी प्रारंभिक स्थिति खो दी। यह आखेट करके अपना जीवन यापन करते थे। मेदा, आन्ध, मद्गा, चेंचू लोग वन्य पशुओं का शिकार करते थे। कसाहलस, उर्गा, पुक्कास जो पशुओं तथा पक्षियों को पकड़ते थे, वनों में काम करते थे। चाण्डालों का जो एक और जनजाति थी हिन्दू समाज में संविलयन हो गया, तथा उन्हें पशुओं तथा मनुष्यों के शवों को हटाने, अपराधियों के अंगों को काटने और उन्हें कोड़े लगाने का कार्य सौंपा गया।

भारत में हमेशा विदेशियों का आक्रमण रहा। मध्यकालीन भारत की राजनैतिक गतिविधियों में तीर्व परिवर्तन हो रहे थे। मुसलमान राजाओं का दिन ब दिन बड़ेते आक्रमण से सारा उत्तर भारत तथा मध्य भारत में राजनीतिक अशान्ति का वातावरण फैला हुआ था। मुसलमानों ने गोंडवाना और छोटानागपुर जैसे जनजातीय राज्यों को अपने अधीन कर लिया। तब तक प्रकृति के गोद में सुखमय जीवन व्यतीत कर रहे जनजातियाँ उनकी भौगोलिक सीमाओं पर शासकों के हस्ताक्षेप को सहन नहीं कर सके।

आधुनिक युग का आरम्भ अंग्रेजों के आगमन से शुरू होता है। अंग्रेज भारत की वन संपदा पर अपना अधिकार जमालिया तथा वन कानून बनाकर आदिवासियों को जंगल से विस्तापित होने पर मजबूर किया। इसी काल में आदिवासियों के धर्म परिवर्तन का शिलसिला आरंभ हुआ। आदिवासी दो वर्गों में बंट गये। ईसाई आदिवासी और गैर ईसाई आदिवासी। ईसाइयत को स्वीकृत आदिवासी शिक्षित हुए। कृषि कार्य में आधुनिक

तकनीकियों का अपनाना आरम्भ हुआ। निरंतर स्वतंत्र परिवेश में जीने वाले इन आदिवासियों द्वारा विद्रोह करने के कारण भी इसी काल के राजनैतिक एवं आर्थिक परिस्थियाँ ही रही।

आधुनिक युग में जनजाति एक ऐसा रोचक विषय बना। इतिहासकारों, समाजशास्त्रियों तथा नृवंशशास्त्रियों ने आदिवासियों पर शोध कार्य किये। उनमें से कुछ नृवंश शास्त्रियों ने भारत की जनजातियों को अलग-अलग नामों से सम्बोधित किया। "रिज़ले, लेक, ग्रियर्सन, सोबर्ट, टेलेण्ट्स, सेजनिक, मार्टिन तथा ए.वी. थक्कर ने उन्हें आदिवासी (एबारिजिंस) नाम से पुकारा है। हट्टन ने इन्हें आदिम जातियाँ (प्रिमिटिव ट्राइब्स) नाम से सम्बोधित किया है। सरबेन्स ने इन्हें पर्वतीय जनजातियों की संज्ञा दी है। टेलेण्ट्स, सेजनिक तथा मार्टिन उन्हें सर्वजीववादी (एनिमिट्स) कहते हैं। बेन्स ने उन्हें वन्यजाति (जंगल पीपुल,फारेस्ट ट्राइब्स, फोक) नामों से संबोधित किया है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री डॉ. घुरये ने उन्हें तथा कथित आदिवासी (सो काल्ड एबारिजिन्स) अथवा पिछड़े हुए हिन्दु नाम दिया है तथा उन्होंने ही इनके लिए अनुसूचित जनजाति (शेड्युल्ड ट्राइब्स) नाम प्रस्तावित किया है जो कि भारतीय संविधान के अनुच्छेद 342 के अन्तर्गत स्वीकारा गया है।

भारत के जनजातीय समाज में विविधता का कारण भौगोलिक परिवेश, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक क्षेत्र में विविधता का होना है। कुछ जनजातियाँ अपने शर्मीले, संकोच तथा बाहरी लोगों पर अविश्वासी स्वभाव के फल स्वरूप बाह्य समाज से अलग रही है। बाहरी समाज को उन्हों ने हमेशा शंका की दृष्टि से देखा है। कुछ जनजातीय समुदायों में बाहरी लोगों के प्रति आक्रोश एवं नफरत की भावना थी। बाह्य सम्पर्क हमेशा हिंसा एवं संघर्ष का कारण बना। बाहरी लोगों का दृष्टिकोण भी इन लोगों के प्रति नकारात्मक बना रहा।

जनजातियों का बाहरी लोगों ने इतना अधिक शोषण किया है कि वे कभी भी संगठित नहीं हो पाए हैं। इसके अतिरिक्त जनजातीय समाजों में व्याप्त प्रथाएं एवं रीति-रिवाज भी उन के पतन के कारण बने रहे हैं। बहुपति व्यवस्था यौन रोगों का कारण रही है। बंधुआ मजदूरी के चलन में मजदूरों के विवाह एवं उनके परिवारों पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से नियंत्रण था। वनों पर आधारित अर्थ व्यवस्था अधिक समय तक जीवन यापन का साधन नहीं बन सकी। जो लोग बदलते परिप्रेक्ष्य में व्यवसाय परिवर्तन की ओर उन्मुख नहीं हो सके उन्हें अपना अस्तित्व बनाए रखने में कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इस प्रकार कुछ ऐसी जनजातियाँ हैं जिनकी संख्या में निरन्तर कमी आई है। इसी प्रकार अण्डमान निकोबार की जनजातियाँ

प्राकृतिक विपदाओं एवं बाहरी आक्रमणों का अधिक समयतक सामना नहीं कर सकीं। परिणाम स्वरूप उनकी संख्या घटती गई। इसके अतिरिक्त भी अनेक जनजातियाँ हो सकती हैं जिन्हें इस श्रेणी में रखा जा सकता है। यद्यपि सांस्कृतिक सम्पर्क की प्रक्रिया के फल स्वरूप अनेक जनजातियों के लोग अपनी जनजातीय पहचान को खो रहे हैं, लेकिन कुछ परिस्थितियाँ उनके जीवन के अस्तित्व को ही बनाए रखने में असफल सिद्ध हुई हैं।

सबसे पहले अंग्रेजों ने संघटित अपराधियों को अपराधी जनजाति नाम दिया। अपराधी उन व्यक्तियों को कहते हैं, जो समाज में निभकर नहीं चल सकते और जो कुछ जन्मिक एवं वातावरण के कुचक्रों से बाधित होकर अपराध करने लगते हैं। इसके विपरीत हम यह देखते हैं कि अपराध जनजातियों के व्यक्ति पारस्परिक रूप से निभकर चलते हैं, उनकी अपनी निज की मान मर्यादा होती है। उनकी अपनी जातीय पंचायत होती है जिसके निर्णय अंतिम और प्रत्येक के लिए शिरोधार्य होते हैं। भारत में जनजातियाँ अपराधी प्रवृत्ति को अपनाने के पीचे अनेक कारण हैं उनमें से प्रमुख हैं भारततीय समाज में स्थित जाति व्यवस्था। निर्धनता, गरीबी, बेरोजगारी के चलते जनजातियाँ अपनी आवश्याकताओं को पूर्ति के लिए के लिए अपराधि प्रवृत्तियाँ अपनाई। ब्रिटिश सरकार ने 1924 में इनके अपराधों के रोकथाम के लिए एक अधिनियम बनाया था। इनके लिए यह नियम बनाया है कि जनजाति के प्रत्येक सदस्य को 15 वर्ष की अवस्था पहुंचने पर रजिस्ट्री करना अनिवार्य है। बाद में इनके सुधार के भी प्रयन्त किए तथा 31 अगस्त, 1952 में से संविधान के अनुसार उनको अब अपराधी जनजाति नहीं कहा जाता। यह स्थिति केवल संविधान तक ही सीमित है। आज भी समाज की मानसिकता जनजातियों प्रति बदली नहीं है।

हिन्दी में आदिवासी जीवन पर लिखे गये उपन्यासों का प्रकाशन राष्ट्र की आज़ादी से पहले ही आरम्भ होता है। आजादी के बाद आदिवासी जीवन पर अनेक महत्वपूर्ण उपन्यासों की रचना हुई, किन्तु उन्हें आंचलिक उपन्यास कहा गया और उसी दृष्टि से आलोचना अथवा समीक्षाएँ लिखी गईं। अब तक हिन्दी में लिखे गये आदिवासी उपन्यास करीब 80 तक हैं।

हिन्दी में लिखे गये पहला आदिवासी उपन्यास वनविहंगिनी को माना जा सकता है। क्योंकि 1909 से पहले आदिवासी जीवन पर लिखे गये उपन्यास का उल्ले हमें कहीं नहीं मिलता। इनमें स्वातंत्र्यपूर्व प्रकाशित उपन्यास बहुत ही कम हैं, स्वतंत्रता के बाद इन उपन्यासों का प्रकाशन बड़ी तेजी से हुआ और वर्तमान में

आदिवासियों को केन्द्र में रख कर अनेक उपन्यास प्रकाश में आ रहे हैं। इनमें से कुछ उपन्यास आज बाजार में उपलब्ध नहीं हैं। फिर भी जितने उपन्यास उपलब्ध हैं उन सारे उपन्यासों को पढ़ने के बाद कई दृष्टियों से इनका विभाजन कर सकते हैं। जैसे- पूर्ण रूप से आदिवासी जीवन को साकार करने वाले उपन्यास (अल्मा कबूतरी, रेत, जंगल के फूल आदि)। गौण रूप से आदिवासी जीवन को साकार करने वाले उपन्यास (जंगल जहाँ शुरू होता है, वन के मन में, मीणा घटी आदि। आदिवासी लेखकों द्वारा लिखे गये उपन्यास (धूणी तपे तीर, जंगल के गीत)। गैर आदिवासियों द्वारा लिखे गये उपन्यास, निश्चित आदिवासियों पर लिखे गये उपन्यास। एक ही आदिवासी समूह पर लिखे गये अनेक उपन्यास(उराँव- पठार पर कोहरा, काला पादरी, गगन घटा घहरानी) विद्रोही परख आदिवासी उपन्यास (धपेल, धूणी तपे तीर, जंगल के फूल) ईसाईयत से प्रभावित आदिवासी जीवन पर लिखे गये उपन्यास (काला पादरी, सूरज किरण की छाँव) बंधुआ मजदूरी पर लिखे गये उपन्यास (गाथा भोगनपुरी, गगन घटा घहरानी) आदिवासी सांस्कृति पर लिखे गये उपन्यास (वन के मन में) आदिवासी सामाज का चित्रण करने वाले उपन्यास। स्वातंत्र्य पूर्व आदिवासी जीवन, पर लिखे गये उपन्यास कचनार, मृगनयनी, कब तक पुकारूँ) आदी।

आदिवासी आज विज्ञान के युग में भी अधिकांशतः प्रकृति पर ही आश्रित हैं। हजारों वर्षों से जंगल, पहाड़, घाटियाँ एवं नदियां ही रही है। जंगलों तथा पहाड़ों से खाद्य संग्रह करना, नदियों तथा तलाबों से मछली पकड़ना तथा कहीं-कहीं घाटियों तथा अन्यत्र पहाड़ी ढालों पर कृषि करना ही उनकी आजीविका के प्रमुख साधन रहे हैं। स्वभावतः ये लोग संतोषी अधिक होते हैं, इस लिए इनमें भविष्य के लिए संग्रह करने की प्रवृत्ति नहीं होती है। यदि वे कुछ एकत्रित भी करते हैं तो उसे लम्बे अर्से तक सुरक्षित रखना नहीं जानते। पारस्परिक दायित्वों तथा सामुहिकता की भावना से बंधे होते हैं। इस लिये वे एक दूसरे से मुनाफा लेने की बात नहीं सोचते हैं। इस समाज में उत्पादन बेचने के लिए नहीं किया जाता है। इनके यहाँ आदिमकाल से वस्तु विनिमय होता आया है। मुद्रा के बिना लेन-देन छोटे स्तर पर ही सम्भव हो पता है। भविष्य के प्रति अश्वस्त होना तथा संघर्षमय जीवन व्यतीत करना ही इनका एक लक्ष्य बन जाता है। उनके हजारों निवास स्थानों व अन्य भौतिक सामग्री से यह स्पष्ट अनुमान लगाया जा सकता है कि उनकी वस्तुएँ एवं आवश्यकताएं उनकी स्वयं संग्रहित साधनों तक ही सीमित है।

आदिवासी समाज में अस्थाई कृषि का प्रचलन था। इस अस्थाई कृषि का उल्लेख जंगल के फूल

उपन्यास में उल्लिखित है, यही प्रसंग उपन्या में उत्सव का रूप ले लेता है। उसके बाद लिखे गये उपन्यास जैसे 'गगन घटा घहरानी' में उराँव कृषि कार्य से परिचित हैं। उपन्यास के आरम्भ में ही आदिवासी स्त्रियाँ द्वारा खेतों में काम कर वापस लौटने का दृश्य आँखों के सामने उभरता है। कृषक आदिवासी पुरुष खेत जोतते हैं जिसका प्रमाण उपन्यास में जागो के पात्र से उजागर होता है। उपन्यास में भूमि जोतने का यथार्थ वर्णन हुआ है। इसी प्रकार उपन्यास 'वरूण के बेटे' में भी कृषि कार्य का वर्णन हुआ है। यूँ तो कृषिकार्य से परिचित आदिवासी समाज अपने खेतों में फसल उगा लेते हैं किन्तु वह फसल अपने घर तक नहीं पहुँचता। कभी महाजन खेतों में से ही फसल उठा ले जाता है तो कभी किसान ही सारी फसल साहूकारे के यहाँ पहुँचा देता है, क्योंकि वह ऋण ग्रस्त रहता है। साहूकार के द्वारा लिए ऋण को चुकाने के लिए वह अपनी फसल को देने के लिए बाध्य किया जाता है। आदिवासी जीवन में साहूकार या महाजनों के आतंक के साथ साथ-साथ जंगली जानवरों का भी आतंक रहता है। आज भी आदिवासियों के खेतों में फसल जंगली जानवरों द्वारा नष्ट की जाती है। इस प्रसंग का उल्लेख वृन्दावनलाल वर्मा के 'मृगनयनी' उपन्यास में मिलता है। 'क्लावे' में कृषिकार्य हेतु बीज, खाद्य ठाकुर के यहां से लाते हैं। 'धूणी तपे तीर' में आदिवासी कृषक फसल काट कर तैयार करने की प्रक्रिया को लेकर चिंचित रहते हैं। 'गगन घटा घहरानी' में पूरे गाँव के खेत ऋण की एवज में जमींदार के यहाँ रहन होते चले गये। तब भूखों मरते उरांव पेट भरने के लिए चोरी करते हैं। 'जंगल के फूल' में आदिवासी जंगल व जमीन को अपना मानते हैं। जब सरकार की तरफ से दो व्यक्तियों को इनाम के रूप में पट्टा आते हैं तो कई सवाल उठ खड़े होते हैं। यहाँ सरकार की नीति उनकी सामूहिक भावना के विपरीत पड़ती है। सरकारी आदेश में वर्ग विभेद की नीति का आभास हो जाता है। राज्य के खिलाफ विरोध की चिंगारी फूट पड़ती है। इसी प्रार 'धूनि तपे तीर' में शासन के खिलाफ विद्रोह की भावना फूट पड़ती है। इसी प्रकार गोंड आदिवासियों की कृषि समस्या को सत्यार्थी जी 'रथ के पहिए' में सहकारी स्तर पर कृषि करके समाजवाद का रास्ता अपनाते हैं। ठीक इसी प्रकार 'नदी के मोड़ पर' उपन्यास में भी सामूहिक कृषि का प्रसंग उभरकर सामने आता है।

प्राचीन काल से ही वन भारतीय पुराणों, लोक कथाओं, वीर कथाओं, और साहित्य का अभिन्न हिस्सा

रहे हैं। विश्व में भारत एक मात्र ऐसा देश है जहाँ कई वृक्षों तथा पशुओं तक की पूजा की जाती है। जिसका जीता जागता उदाहरण उपन्यास 'वन-लक्ष्मी' में दिखाई देता है। सरकार जो वननीति लागू की है वह मात्र आदिवासियों के खिलाफ ही है और बाहर की दुनिया में यह अपवाद फैलाया गया है कि आदिवासी ही जंगल को बरबाद कर रहे हैं क्यों कि वे जंगलों में ही रहते हैं, उनका जीवन जंगल पर ही निर्भर होता है। किन्तु हम इस ओर ध्यान नहीं देते कि वास्तव में जंगल में क्या होता है। जहाँ आदिवासियों को एक लकड़ी का टुकड़ा भी जंगल से लाने नहीं देते वहाँ ठेकेदारों को किस प्रकार प्रवेश मिल जाता है ? इन्हीं सवालों को उठाते हुए 'पाँव तले की दूब' उपन्यास में चित्रित है। 'जंगल के आसपास' उपन्यास में पेड़ों का स्मग्लिंग किस प्रकार होता है यह देखा जा सकता है। ठेकेदार पेड़ों को कटवाकर नदी के मार्ग से शहर तक पहुँचा देते हैं जिससे जंगल नष्ट तो होते ही हैं साथ ही साथ जल प्रदूषण भी होता है। आदिवासी जंगल से सूखी लकड़ी प्राप्त करने के कारण भी अपराधी हो जाते हैं। जब कि वनाधिकारियों व ठेकेदारों की मिलीभगत से बड़ी-बड़ी चोरियाँ होती है। 'गगन घटा घहरानी' में इन विसंगतियों को पकड़ा गया है। उपन्यास में अधिकारियों द्वारा की गई अनियमिताओं की जाँच पड़ताल हुई है। लकड़ी की कमी को आदिवासियों पर चोरी के दोष लगाकर छुपाया जाता है तथा ठेकेदारी प्रथा से साफ होते वनों को रोकने के लिए इस प्रथा को समाप्त कर दिया जाता है।इस प्रकार बड़े पैमाने में जंगल का दोहन होने के कारण आज वन उत्पादों पर निर्भर जनजाति समुदाय का अस्तित्व संकट में पड़ गया है। आज आदिवासी बाहुल्य क्षेत्रों में वन धीरे-धीरे समाप्त हो रहे हैं। इसके बावजूद सत्य तो यह है कि वन आज भी न्यूनाधिक आदिवासियों का पोषण कर रहा है। उपन्यासों में आदिवासी अपनी आजीविका के साधनों के विकास के लिए लकड़ी, शहद, गोंद तथा घास एवं अन्य वन उत्पादों को प्रमुख श्रोत मानते रहे हैं। जंगल में पाई जाने वाली वनोत्पादित उपज में प्रमुख दोक, पीपल, सागवान, धावड़ा, गुदी, इमली, आम, महुआ, टीमरू, बाँस, शीशम आदि प्रमुख वृक्ष हैं जो आदिवासियों को संगठित-असंगठित व्यवसायिक आधार प्रस्तुत कर रहे हैं। साथ ही उनके द्वारा आवश्यक वन उत्पादों जैसे तेंदू पत्ता, गोंद, रबड़, महुआ के फूल आदि को हाट बाजारों एवं आस-पास क्षेत्रों में विक्रय करते हैं।

कुछ आदिवासी ऐसे भी होते हैं, जिनके पास खेती करने के लिए पर्याप्त भूमि नहीं रहती, वनोपज को एकत्रित करने में रोक के कारण कायाश्रम पर निर्भर होकर जीवन यापन करते हैं। इनकी स्थिति का फायदा उठाते हुए महाजन, साहूकार इनका शोषण करते हैं। जनजातीय समुदाय कालान्तर से वनों को निजी संपत्ति के रूप में मानते हैं साथ ही जनजातीय समुदाय की सामाजिक-आर्थिक पूर्णतः वनों पर निर्भर रही है।

वन नीति एवं जंगल से संबंधित नियमों की अव्यवहारिकता के विरुद्ध उपन्यासकारों का मानवीय पक्ष उजागर हुआ है। 'क्लावे' में भील युवक अपने परम्परागत अधिकारों की स्वाभाविक प्रक्रिया को स्पष्ट करता है। यह भावना प्रधान कथन उनके विश्वास और मान्यताओं को स्पष्ट करता है। इसी बात को और अधिक स्पष्टता 'रथ के पहिए' में मिलता है।

आदिवासी अर्थव्यवस्था पूरी तरह वन उत्पादों पर निर्भर रहती है, वे वनों से अनेक प्रकार के उत्पादनों का संग्रह करते हैं। आज़ादी के बाद वननीति लागू की गई जिस से वे वनों में जाकर उत्पादों का संग्रह करने में कठिनाई महसूस करने लगे। अनेक नियमों के चलते इन्हें वनों से दूर कर दिया गया जिस से इनके जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा। वर्तमान में आदिवासियों की आर्थिक स्थिति को सुधारने के प्रयास क्रम में, साहूकारों द्वारा किये जाने वाले बैइमानी, छल-कपट को तथा ठेकेदारों द्वारा किये जाने वाले शोषण को रोकने के लिए सरकार ने कई योजनाएं बनाई हैं। जिससे आदिवासियों द्वारा संग्रह किये हुये वन उत्पादों को सही मूल्य चुकाते हुए सरकारी दुकानों द्वारा उत्पादनों को खरीदने की योजना तथा जंगल में रहने के कारण जंगल के विकास हेतु सरकार द्वारा किये जा रहे अनेक कार्यों का ठेका आदिवासियों को ही देने की आदि। आज वे आदिवासी ठेकदारों के पास मजदूरों का काम करते हैं तथा उनके हाथों शोषण के शिकार हो रहे। अधिक समय काम करना, सही मुआवजा न मिलना आदि समस्याओं से पीड़ित हैं।

जनजातीय जीवन एवं वन एक-दूसरे के पर्याय हैं अतः वनों से न सिर्फ जनजाति समाज को मातृत्व तुल्य स्नेह प्राप्त होता रहा है, बल्कि इन्हें आश्रय, भोजन, रोजगार तथा सुदृढ़ संस्कृति की प्राप्ति हो रही है। वन आदिवासियों की धरोहर रहे हैं। वनों के संरक्षण से ही आदिवासियों की सामाजिक तथा आर्थिक जीवन को सक्षम बनाया जा सकता है। वास्तव में वन, आदिवासियों के सच्चे पोषक हैं, वन इन्हें प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से विभिन्न प्रकार के लाभ पहुँचाते हैं। वनों से ईंधन, चारा, लकड़ी, खाद, फल-फूल, खाद्य योग्य कन्द मूल, जड़ी

बूटियों तथा अन्य वाणिज्य उपयोगी लघु वन उत्पादित वस्तुओं के साथ-साथ सुरक्षित वातावरण भी प्राप्त होता रहा है। जनजातियों की आत्मा तथा शरीर दोनों वनीय पर्यावरण से ओत-प्रोत हैं।

जनजातीय जीवन में हाट-बाजारों का विशिष्ट महत्व होता है। हाट जनजातियों के सामाजिक आर्थिक जीवन के केन्द्र बिन्दु होते हैं, जिनमें लोगों को औपचारिक ढंग से बाँधने की क्षमता होती है। हाट-बाजार गप-शप-तमाशा, समाचार एवं त्यौहार के भी स्थल होते हैं। जनजातीय क्षेत्रों में हाट-बाजारों में ही डाक-वितरण, विज्ञापन एवं प्रचार तथा राजनैतिक क्रिया-कलाप सम्पन्न किये जाते हैं। हाट के दिन प्रायः सभी जनजातीय महिला-पुरुष अपने उत्पादित सामग्रियों की बीक्री तथा आवश्यक चीजों की खरीदारी हेतु हाट चले जाते हैं। आज भी इन हाट बाजारों में मापने के परम्परागत पैमाने, जैसे- पैला, भागा आदि का प्रयोग किया जाता है। इन हाटों में बाजार भाव से अनभिज्ञ जनजातियाँ बड़ी सहजतासे व्यापारियों तथा बिचौलियों द्वारा शोषित किये जाते हैं। इनसे कम भाव से सामग्रियाँ खरीदी जाती है तथा उन्हें अधिक कीमत पर बेचा जाता है। इन हाटों में आज भी अंशतः वस्तु विनिमय (एक्सचेंज ऑफ गुड्स) प्रचलन देखने को मिलता है। लेकिन वर्तमान में इन हाटों की स्थिति में कुछ परिवर्तन देखने को मिलता है। परिणाम स्वरूप परम्परागत जनजातीय अर्थव्यवस्था पर शहरी अर्थ व्यवस्था का प्रभाव पड़ा है। जनजातीय हाट-बाजारों में मिल उत्पादित सामग्रियाँ नगर व्यापारियों द्वारा आजकल बेचते देखा जा सकता हैं। इससे जनजातीय गाँवों के परम्परागत कुटीर उद्योग में ह्रास की स्थिति पनपने लगी है।

'वन के मन में' उपन्यास में हाट का वर्णन हुआ है। ये बाजार-हाट आदिवासियों का मिलन स्थल होता है। हफ्ते में एक बार लगने वाली बाजार में आसपास के सभी गाँव वाले एकत्रित होते हैं, एक दूसरे से कुशल समाचार अपने बंधुवर्ग को पहुँचाते हैं। कई दिनों बाद मिलने पर उनके बीच की भावनात्मक मिलन का चित्रण 'सूरज किरण की छांव' उपन्यास में मिलता है। जिस प्राकार हाट को मिलन स्थल का बताया गया है उसी प्रकार इन हाटों में मिलने वाले सभी चीजों का, हाट में आने वाले लोगों का वर्णन उपन्यास 'पाँव तले की दूब' में किया गया है।

आमतौर पर आदिवासी हाट के दिन बड़े उत्साहित रहते हैं और हर दिन की तरह नहीं बल्कि उससे

पहले ही जागकर सारा काम समेट लेते हैं क्यों कि एकत्रित वन उत्पादों को बेचने तथा अपने आवश्यक चीजों को खरीदने के लिए उन्हें हाट जाना होता है। इसी प्रसंग का निरूपण 'पठार पर कोहरा' में हुआ है। आदिवासी बच्चे बचपन से ही हाट के सम्पर्क में आते हैं तथा वहाँ के व्यापार कार्यकलापों को देखते हैं। बाहरी लोगों का व्यवहार तथा उनके द्वारा बोली जाने वाली भाषा को समझने तथा बोलने का प्रयास करते हैं। हाट ही उन्हें बाहरी दुनिया से जोड़ती है। किन्तु वे अपने वन उत्पादों को बेचने में हमेशा साहूकारों द्वारा ठगे जाते हैं। जिसका कारण है अशिक्षा है।

जैसा कि ऊपर कह चुके हैं आदिवासियों की अर्थ व्यवस्था में वस्तुविनिमयम पद्धति का प्रचलन आज भी विद्यमान है। वे हमेशा अपने समाज के लोगों से प्रेम और सामुहिकता की भावना रखते हैं। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आपस में वस्तुविनिमय करते हैं। यह प्रथा अपने ही समाज के भीतर प्रचलित थी। वे हमेशा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति की ओर ही ध्यान देते रहे, किन्तु बाहरी दुनिया में इन उत्पादनों का क्या मूल्य हो सकता है उसकी जानकारी नहीं होती। बाहरी लोगों के संपर्क में आने के बाद आदिवासियों की कमजोरी को देखकर वे उन्हें ठगने लगे और आर्थिक रूप से उन्हें अक्षम बनाते रहे। यह स्थिति केवल भारत की ही नहीं बल्कि संसार के अन्य आदिवासी समुदायों में भी विद्यमान है।

आदिवासी समूह जंगली जानवरों का उपयोग कर अपनी आजीविका चलाते हैं और वही उनका पेशा है, जो सदियों से पीढ़ी दर पीढ़ी अपनाते आ रहे हैं। किन्तु जिस प्रकार जंगल को बचाने के लिए वननीति लागू की गयी है उसी प्रकार जंगली जानवरों को बचाने के लिए भी अनेक नियम लागू किए हुए हैं। वास्तव में जंगली जानवरों को खतरा आदिवासियों से नहीं गैर आदिवासियों से है जो अपनी विलासिता तथा बहादुरी को साबित करने के लिए बंदूकें उठाकर जंगल में चले जाते हैं और शेर, चीते, साबर, बारा सिंगा आदी बड़े-बड़े जानवरों का शिकार करते हैं। जिसका जीता जागता उदाहरण जंगल के आसपास उपन्यास में हुआ है। आदिवासी और वन एक दूसरे के पूरक हैं। अतीत में जहाँ वनों ने आदिवासियों का पोषण किया वहीं आदिवासियों ने वनों तथा वन पशुओं का भी संरक्षण किया है।

जनजातियों में सामाजिक कार्यक्रम सामाज के प्रमुख व्यक्ति के माध्यम से संपन्न किये जाते हैं। इन प्रमुखों के अलग-अलग जनजातियों में अलग-अलग नाम होते हैं। 'जंगल के फूल' उपन्यास में ग्राम अधिकारी के महत्व को बताया गया है। गोंडों में गाँव के नेता जिसे 'गायता' कहा जाता है।

विभिन्न समाजों में विवाह की रीतियाँ अलग-अलग होती हैं। सामाजिक संबंधों तथा सांस्कृतिक आधारों पर विवाह का स्वरूप बदलता रहता है। आदिवासी समाज में निर्धारित विवाह के लिए लड़कियों का दापा (दुल्हन की कीमत) चुकानी पड़ती है। कभी-कभी दापा की रासी इतनी अधिक होती है कि वर पक्ष की सामर्थ के बाहर की बात हो जाती है। ऐसी स्थिति में यह प्रथा आदिवासी समाज में एक कलंक के रूप में दिखाई पड़ती है। 'वन के मन में' उपन्यास में इस 'गोनों' प्रथा की समस्या को उठाया गया है।

सामाजिक संगठन की दृष्टि से आदिवासी समाज को अनेक समुदायों और अनेक आंतरिक क्रिया कलापों में विभाजित किया जा सकता है। समुदाय के रूप में पूरा समाज परस्पर सहयोग की भावना से संबद्ध होता है। सहयोग की यह भावना हर क्षेत्र में व्याप्त होती है। सामाजिक क्रिया कलापों के मूल में भी इसी भावना की प्रधानता है। आदिवासी समाज की यह विशेषता है कि यदि किसी व्यक्ति विशेष पर कोई आपत्ति आती है तो पूरा गाँव उस पर विचार करता है तथा उसका समाधान खोजता है। जिसका उल्लेख 'क्लावे' उपन्यासों में हुआ है। 'गगन घटा घहरानी' उपन्यास में भी सामुदायिकता की झलक मिलती है। जागो पर आई मुसीबत को दूर करने के लिए सब एकत्रित होकर कुछ करने के लिए विचार-विमर्श करते हैं। इसी प्रकार कई अन्य उपन्यासों में जैसे 'बाजत अनहद ढोल', 'धूणी तपे तीर', 'जंगल के फूल' आदि उपन्यासों में संदर्भ अनुसार सामुदायिकता की भावना दिखाई देती है। यह सामुदायिकता की भावना ने ही आदिवासियों में विद्रोह लाने में बड़ी भूमिका निभाई है। मुख्य रूप से आदिवासियों द्वारा किये गये विद्रोह को केन्द्र में रखकर लिखे गये उपन्यासों में सामुदायिकता की भावना दिखाई पड़ती है।

हिन्दी में आदिवासी जीवन को केन्द्र में रखकर लिखे गये कुछ उपन्यासों में पंचायत को प्रमुख स्थान दिया गया है। जगह-जगह पर इसका वर्णन है। पंचायत उनके सामाजिक संगठन के रूप में उभर कर सामने आता है। पंचायत में किसी भी प्रकार की समस्या का समाधान के लिए अर्थात् घरेलू झगड़े, विवाह-विवाद, तलाक, चोरी, ठगना, आरोप लगाना आदि विषयों पर पंचायत सक्रिय रूप से विचार विमर्ष कर अपना फैसला सुनाती है। 'रेत' उपन्यास में कंजर जनजाति के जीवन को केन्द्र में रखकर लिखा गया है, उपन्यास के विविध संदर्भों में पंचायत का उल्लेख हुआ है। 'रेत' उपन्यास में पंचायत का महत्व को बताया गया है उसी प्रकार

पंचायत के महत्व को 'सूरज किरण की छाँव धूणी तपे तीर उपन्यों में भी चित्रित है। आदिवासी समाज में पंच उस समाज बड़े लोग ही होते हैं। 'पठार पर कोहरा' और जंगल के आसपास उपन्यास में उपन्यास में स्थिति कुच ऐसी है कि गैर आदिवासी भी पंच के रूप में उपस्थित हैं। लेखक ने पूरी सावधानी के साथ इस प्रसंग का उल्लेख किया है। सदान या दीकू भी पंचायत में उपस्थित होने के कारणों को विवरणात्मा रूप से प्रस्तुत किया है जो हम उपन्यास में देख सकते हैं। इस प्रकार बाहरी लोगों का हस्तक्षेप आदिवासी पंचायत व्यवस्था पर दुष्प्रभाव डालती है। उपन्यास में चित्रित पंचायत के प्रसंग से हम अनुमान लगा सकते हैं कि दीकू किस प्रकार आदिवासियों के जीवन से खेलते हैं, खासकर औरतों के संदर्भ में।

आदिवासी समाज में आपस में उत्पन्न विवादों को सुलझाना ही पंचायत का कर्तव्य नहीं होता, बल्कि उसका कर्तव्य यह भी होता है कि अपने ही समाज के किसी भी व्यक्ति पर कोई भी आपत्ति आने पर उसका सामना करने के लिए, तथा उसे उन मुसीबतों से निकालने के लिए पंचायत बुलाकर किस प्रकार उसका समाधान करना है आदि पर चर्चा की जाती है। जिसका जीता-जागता उदाहरण उपन्यास 'गगन घटा घहरानी' में मिलता है।

'बाजत अनहद ढोल' उपन्यास में आदिवासी पंचायत का नया रूप दिखाई देता है। अन्य उपन्यासों में विपदा या संकट के समय अथवा विवादों को सुलझाने के लिए पंचायत बुलाई जाती थी किन्तु इस उपन्यास में आदिवासी स्वयं अपने में नजर आ रही बुराइयों या कमियों को दूर करने का निर्णय लेने के लिए ही एकत्रित होकर पंचायत करते हैं।

भारत में जनजातीय धर्मों की व्याख्या जीववाद (एनीमीजम) के रूप में की गयी है। जीववाद धर्म का वह अत्यन्त अपरिष्कृत रूप है जिस में जादू की प्रमुखता होती है। इसके अनुसार मनुष्य प्रेतात्मक शक्तियों के समूह से घिरे जीवन से गुजरती वस्तु है। वे प्रेतात्माएँ ऐसी वस्तु है जो आधारहीन हैं, विशेषकर व्यक्तिहीन हैं। इनमें से कुछ जीवन के कुछ विशेष भागों में ऊपर या प्रभाव के दायरे के ऊपर संचालित करने के लिए जाती हैं। अतः उन लोगों में वैसी जीवात्मा है जो हैजा, एवं चेचक पर आधिपत्य रखती हैं। खतरे से बचने के लिए जो इनके प्रभाव के द्वार पैदा होता है, उन्हें खुश किया जाता है। इस दृष्टिकोण से भारत की जनजातियों के धार्मिक विश्वास एक समान नहीं हैं। जनजातियों में धर्म की विशेषताएँ कुछ इस प्रकार होतो हैं। जीववाद,

बोंगावाद, प्रकृतिवाद, टोटमवाद, वर्जना, जादू, पूर्वजपूजा, बहुदेववाद।

'हो' लोग 'बोंगा' को एक शक्ति मानते हैं, जो सर्वत्र है कि यह कोई भी रूप या आकार ले सकता है। यह शक्ति सभी पशुओं एवं पौधों को जीवन प्रदान करती है। यह पौधे को बढ़ाने में उत्साहित करती है। यह वर्षा करती है, आँधी, ओला, बाढ़ और ठंडक लाती है। यह बुराइयों का विनाश करती है, महामारी को रोकती है, रोगों को ठीक करती है। नदियों की धारा को प्रभावित करती है, सर्पों को विष और बाघ, भालुओं एवं लोमड़ियों को शक्ति देती है। जिस प्रकार हो बोंगा को शक्ति मानते हैं उसी प्रकार संथाल भी बोंगा को भूत देवता मानते हैं जिसको संतुष्ट करने के लिए अनेकानेक रूप से कोशिश करते हैं। बोंगा के प्रसंग में 'बाजत अनहद ढोल' उपन्यास में बताया गया है।

जनजातियों के धार्मिक कृत्य मुख्य रूप से ग्रामीण पुजारी या उसके सहायक द्वारा सम्पादित होता है। इस कृत्य में जनजातीय लोग भगवान या देवता को मनाने के लिए बलि चढ़ाते हैं। बलिदान देने योग्य वस्तुएँ अंडे से लेकर भैंस तक हो सकती हैं। पूजा की दूसरी सामग्री होती है- सिंदूर, अरवा चावल एवं फूल आदि। समस्त जनजातीय समुदाय के लिए पशु-पक्षी के रक्त की पूजा का सर्वाधिक महत्व है। नयी फसल के दाने जैसे मकई, धान आदि भी चढ़ाए जाते हैं। उपरोक्त भेंट के अतिरिक्त ईश्वर को चावल से निर्मित देशी शराब (हंडिया) भी चड़ाई जाती है। जब भेंट चढ़ाई जाती है, उस समय पुजारी या बलिदाताओं द्वारा उपर्युक्त कथनों का उच्चारण भी किया जाता है। कुछ विशेष अवसरों पर शमन के कृत्यों से भेंट संबंधित रहती है। जनजातियों में त्योहार उनके धार्मिक जीवन का अंग है। इसके साथ ही धार्मिक कृत्य समाप्त होता है। 'जंगल के फूल' उपन्यास में मुरिया गोंड आदिवासियों द्वारा किये जाने वाले धार्मिक कृत्यों का वर्णन हुआ है।

त्योहार, जो जनजातीय लोगों को उत्साहित एवं प्रमोदित करता है। विभिन्न प्रकार के त्योहार लौकिक एवं धार्मिक, दोनों पहलुओं को समाविष्ट करते हैं। लौकिक शक्तियों के समानार्थ जनजातीय लोगों द्वारा जतरा (मेला) लगाया जाता है। पर्व एक दिन में समाप्त हो सकता है या कुछ दिनों तक चल सकता है। इन अवसरों पर विभिन्न देवी-देवताओं की पूजा की जाती है।

किसी भी जनजाति की सभ्यता और संस्कृति का परिचय हमें उनके साहित्य से मिलता है। इस साहित्य

को लोक साहित्य भी कहा जाता है। जिसके अन्तर्गत लोकगीत, लोकनृत्य, लोककथा आदि हैं और उनसे उनके जातीय गुण-धर्मों का पता चलता है। लोक-जीवन की सामूहिक चेतना, उनकी आशा-निराशा, दुःख-सुख, आशाएँ-स्वप्न और संघर्ष की मार्मिक अभिव्यंजना का चित्रण हमें उनके लोक साहित्य में मिलता है। साथ ही त्योहारों, उत्सव और संस्कारों के समय के हर्ष-विषाद के सुन्दर चित्र उपलब्ध होते हैं। वे प्राकृतिक जीवन के सहगामी हैं और उसी का नाम आदिवासी संस्कृति है। लोक-कथाएँ आदिवासी जीवन का महत्वपूर्ण अंग है। कहानी कहने की प्रवृत्ति का इतिहास उतना ही पुराना है, जितना स्वयं मनुष्य की वाणी का। इन लोक कथाओं में आदिवासी जीवन का अंतरंग झलकता है। इन कथाओं का उल्लेख 'पठार पर कोहरा', 'बाजत अनहद ढोल', 'जंगल के फूल', 'शैलूष', 'अल्मा कबूतरी आदि उपन्यासों में संदर्भनुसार बताया गया है।

लोक गीतों का आदिवासी जीवन से घनिष्ट संबंध होता है। इनमें आदिवासी समाज और संस्कृति का प्राचीन गौरव आदर्श की प्रत्यक्ष रूप में व्यंजित होता है। एक-एक गीत में कितना उच्च भाव भरा हुआ है, यह इन गीतों के अध्ययन से विदित होता है। आदिवासियों का गौरवपूर्ण इतिहास, उनकी सांस्कृतिक परम्पराएं, उनके देवी-देवताओं के प्रति आस्था, मेले-त्योहार तथा पुत्र जन्म, विवाह आदि उत्सवों पर उच्छलित भावावेग और विशेषकर स्त्रियों की पोशाकों व आभूषणों की झनकार सभी ने लोक गीतों को जन्म देने में विशिष्टता उत्पन्न की है।

जनजातीय लोगों का लोक-जीवन नृत्य, गीत और संगीत से परिपूर्ण है। नृत्य-गीत और संगीत इन लोगों का जीवन-मंत्र, जीवन यात्रा का बहुमूल्य पाथेय है। यह वह जादू है जिसके बल पर ये लोग जीवन की क्रूर विभीषिकाओं, क्षुधा-पिपासा की विडंबनाओं तथा अशिक्षा और अपेक्षा के घात-प्रतिघातों को भी छूमंतर करते आए हैं। जनजातीय लोगों के लोकगीत इन लोगों की जीवन-पद्धति और जातीय संस्कृति के सम्यक दर्पण हैं। प्रकृति के सहज और हृदय के सरल उच्छवास हैं। जीवन में घटित होने वाले सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, घात-प्रतिघात, हास्य-विनोद, संयोग-वियोग, आशा-निराशा, क्षोभ-विक्षोभ आदि के आकर्षक शब्द-चित्र इन लोक गीतों के दर्पण में साफ-साफ प्रतिबिंबित हैं। आदिवासियों के गीतों का विभाजन इस प्रकार कर सकते हैं। संस्कार संबन्धी गीत, व्यावसायिक गीत, आवसरिक गीत, मनोरंजन संबन्धी गीत। इन गीतों का और भी उप विभाजन किया गया है। इन सारे गीतों का चित्रण अधिकतर उपन्यासों में हुआ है। इन गीतों के साथ साथ

उपन्यासों में विधिवत रूप से लोक नृत्यों तथा आदिवासी पर्व जैसे करमा, सरहुल, खद्दी, सरहुल, फागु जैसे पर्वों का उल्लेख हुआ है।

आखेट आदिवासी समाज का महत्त्वपूर्ण पक्ष है। आखेट उनकी संस्कृति है। आदिवासियों के त्योहारों में आखेट का त्योहार भी होता है। मरियागोंड प्रति वर्ष इस त्योहार को मनाते हैं तो उराँव बारा साल में एक बार इस पर्व को मनाते हैं। गाँव का प्रत्येक पुरुष आखेट में भाग लेता है। बिना शिकार किये गाँव में आने पर स्त्रियाँ उन्हें अपमानित करती हैं। 'जंगल के फूल' उपन्यास में आखेट का उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार से शिकार का उल्लेख 'पठार पर कोहरा' उपन्यास में मिलता है- उराँव आदिवासी समाज में हर बारहवें वर्ष आयोजित होता है 'जनीशिकार' का कार्यक्रम। उराँव समाज की सिनगी दाई और कैली दाई-दो वीर स्त्रियों की स्मृति को सुरक्षित रखने और अपनी महिलाओं के मर्दाने साहस के साथ मर्दों से जूझने के इतिहास को संरक्षित रखने का त्योहार है जनीशिकार।

संपर्क स्थिति से उत्पन्न जनजातीय समस्याएँ ऐतिहासिक नहीं हैं अर्थात् संपूर्ण ऐतिहासिक काल में इस प्रकार की स्थिति नहीं थी। मुस्लिम शासन के दौरान शासक जनजातीय समाज को परिवर्तित करने के पक्षपाती थे परन्तु उनकी नीति अहस्त क्षेप की थी, तथा जनजातीय समाज के लिए उनके मन में आदर था। राजस्व अधिकारी कर वसूलने के लिए जनजातीय गाँवों का दौरा करते थे और इस प्रकार जनजातीय समाज का संपर्क बाह्य जगत से था परन्तु बीहड़ जंगलों तथा पहाड़ों स्थित जनजातीय जनसंख्या बाह्य जगत के संपर्क से अछूत थी। परन्तु अंग्रेजों के आगमन के साथ-साथ देश का अकादमिक तथा गैर अकादमिक शोषण प्रारम्भ हो गया। देश के वृहत अगम्य क्षेत्रों की खोज साहसिक यात्रा करने वालों तथा सामाजिक कार्यकर्ताओं द्वारा की गई। इसके पश्चात् अंग्रेजों का लक्ष्य देश को बाहरी लोगों के लिए खोलना था, ताकि देश के प्रकृतिक संसाधनों का वृहत पर दोहन किया जा सके। इसके अंतर्गत देश में रेल मार्ग बिछाए गए तथा यातायात के अन्य साधनों की स्थापना की गई जिससे देश को एक सूत्र के रूप में जोड़ा जा सके। अंग्रेजों की इस नीति के कारण जनजातीय क्षेत्रों में बाहरी लोगों की आवाजाही बढ़ गई। ऐसे लोगों को स्थानीय प्रशासन का संरक्षण प्राप्त था। इस कारण जनजातीय क्षेत्रों का समीकरण बिगड़ गया।

जनजातियों के मामले में सैद्धांतिक तौर पर भूमि हस्तांतरण का अर्थ है 'जनजातीय भूमि जो कभी भी

विक्रय संपत्ति नहीं थी, का गैरकानूनी ढंग से अजनजातीय या श्रेष्ठ जनजातीय द्वारा हड़पा जाना। भूमि हस्तांतरण की समस्या राज्य दर राज्य में अलग-अलग है।

आदिवासियों में आर्थिक बदहाली, भूमिहीनता, सामंती, जमींदार के हाथों में फंसकर ये लोग बेगार तो करते ही हैं, बंधक श्रमिक भी बन जाते हैं। बेगार में निःशुल्क सेवा करनी होती है, और बंधक को अपना पेट भरने के लिए परिवार के दूसरे लोगों पर निर्भर रहना पड़ता है।

आदिवासियों में व्याप्त बेगारी या बंधक प्रथा को 'गगन घटा गहरानी', 'क्लावे', 'नदी के मोड़ पर', 'जंगल के फूल', 'रथ के पहिये', और 'धूणी तपे तीर' में उठाया गया है। अधिकतर पहाड़ और जंगली इलाकों में शिकार के शौकीन महाजन, जमींदार, ठाकुर आदि शिकार के समय आदिवासियों को हाँके लगने के लिए बुलाये जाते हैं। नदी के मोड़ का भट्टू सिंह अपने पिता के द्वारा लिये गये ऋण के एवज में जमींदार के यहाँ बंधक बना लिया जाता है।

आदिवासी जीवन पर लिखे गये सभी उपन्यासों में शराब से उनका संबन्ध सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक रूप से जुड़ते हैं। सामाजिक मान्यताओं व रीति-रिवाजों व उनकी आस्थाओं की अभिव्यक्त 'गगन घटा घहरानी' उपन्यास में मिलती है। ठेकेदार द्वारा बेची जाने वाली शराब आदिवासी समुदाय में सामजिक अस्त-व्यस्तता को जन्म देती है। सभी औपन्यासिक रचनाओं में ठेकेदार के कारनामों, उसके गलत कार्यों को उजागर किया है। शराब से मौत का ताण्डव 'गगन घटा घहरानी' में देखा जा सकता है।

शराब के दुष्प्रभावों को मद्देनजर रखते हुए आदिवासी समाज में इस पर नियंत्रण के उपाय पर विचार करना चाहिए। लेकिन मदिरा इनके पारम्परिक जीवन से जुड़ी हुई है, इसलिए बाहरी दबावों के आधार पर एकदम इसे नहीं रोका जा सकता है। शराब संबधी के आधार पर नियंत्रण आदिवासी समाज को बिना समझे इसके आंतरिक क्रिया-कलापों में दखल देना होगा।

इसी प्रकार आदिवासी स्त्रियों के सामने अनेक समस्याएँ खड़ी होती जा रही हैं। उन्हें अन्य महिलाओं से अलग कर देखा जा रहा है। सभ्यता, विकास और हैसियत में नीची और अपने समाज में अधिक मुक्त होने के कारण ये महिलाएँ गैर-आदिवासियों के नज़र में उश्रृंखल मानी जाती हैं। गैर-आदिवासी उनका उपभोग भूमि हथियाने और उनके समुदाय का दमन करने के साथ उन पर अत्याचार भी करते आ रहे हैं।

आदिवासी समाज में प्रमुख समस्या है स्त्री का शोषण। स्त्री का शोषण अनेक प्रकार से किया जाता है।

इसी शोषण को लेकर हिन्दी में अनेक आदिवासी उपन्यास लिखे गये हैं। स्त्री शोषण का चित्रण 'जंगल के आसपास' 'जंगल के फूल', 'पठार पर कोहरा', 'धपेल' तथा गाथ भोगनपुरी आदि उपन्यास में प्रमुख रूप से चित्रित है। आदिवासी समुदायों को उपन्यास की विषयवस्तु बनाकर रचनाकारों ने निश्चित ही प्रगतिवादी, उदारवादी और सहानुभूति का परिचय दिया है। उपन्यासों में आदर्शवाद, गाँधीवाद और आदर्शवाद से ररचनामें सहानुभूति, काल्पनिकता और लेखकीय आग्रह से आदिवासी जीवन का काल्पनिक रूप अस्पष्ट रह गया है। किसी विचारधारा से प्रेरित रचनाकार की तुलना में वाद निरपेक्ष उपन्यासों में आदिवासी जीवन का यथार्थ चित्रण हुआ है। 'शैलूष' और, 'पाँव तले की दूब', 'वन के मन में' में वाद निरपेक्ष की दृष्टि से लिखा गया है तो विचारधारा से प्रेरित रचना है 'वरुण के बेटे' 'पठार पर कोहरा' 'जंगल के फूल' और 'गगन घटा घहरानी'। वस्तुतः सभी उपन्यासों में यथार्थपरक चित्रण और प्रगतिशील विचारधारा का परिचय मिलता है।

आधार ग्रंथ सूची

UNIVERSITY OF HYDERABAD

आधार ग्रंथ सूची

1.	अल्मा कबूतरी	मैत्रेयी पुष्पा	रजकमल प्रकाशन - दिल्ली	प्र.सं. 2000
2.	कगार की आग	हिमांशु जोशी	भारतीय ज्ञानपीठ - दिल्ली	प्र.सं. 1976
3.	कब तक पुकारूं	रांगेय राघव	राजपाल एण्ड सन्स - दिल्ली	प्र-सं. 1958
4.	कचनार	वृंदावन लाल वर्मा,	प्रभात प्रकाशन - दिल्ली	प्र.सं. 1946
5.	काला पादरी	तेजिन्दर	नेशनल पेपरबैक्स - दिल्ली	प्र.सं. 2005
6.	क्लावे	जय सिंह	लोक चेतना प्रकाशन - जबलपुर	प्र. सं. 1961
7.	गगन घटा घहरानी	मनमोहन पाठक	प्रकाशन संस्थान - दिल्ली	प्र.सं. 1991
8.	गाथा भोगनपुरी	किशोर कुमार सिन्हा	वाणी प्रकाशन - दिल्ली	प्र.सं. 1986
9.	जंगल के आस पास	राकेश वत्स	राजपाल एण्ड सन्स - दिल्ली	प्र.सं. 1982
10.	जंगल के फूल	राजेन्द्र अवस्थी	राजपाल एण्ड सन्स - दिल्ली	प्र.सं 1996
11.	धपेल	श्याम बिहारी	राजकमल प्रकाशन -दिल्ली	प्र.सं. 1998
12.	धूणी तपे तीर	हरिराम मीणा	साहित्य उपर्कम - दिल्ली	प्र.सं. 2008
13.	नदी के मोड़ पर	दामोदर सदन	पराग प्रकाशन - दिल्ली	प्र. सं. 1979
14.	पठार पर कोहरा	राकेश कुमार सिंह	भारतीय ज्ञानपीठ - दिल्ली	प्र.सं. 2003
15.	पाँव तले की दूब	संजीव	प्रवीण प्रकाशन - दिल्ली	प्र.सं. 1995
16.	बाजत हनहद ढोल	मधुकर सिंह	वाणी प्रकाशन - दिल्ली	प्र.सं. 2005
17.	मृगनयनी	वृंदावन लाला वर्मा	प्रभात प्रकाशन - दिल्ली	प्र.सं. 1950
18.	रेत	भगवानदास मोरवाल	राजकमल प्रकाशन -दिल्ली	प्र.सं. 2008
19.	वरुण के बेटे	नागार्जुन	राजकमल प्रकाशन -दिल्ली	प्र.सं. 1985
20.	वन लक्ष्मी	योगेन्द्र नाथ सिन्हा	हंस प्रकाशन - इलाहबाद	प्र.सं. 1956
21.	वन के मन में	योगेन्द्र नाथ सिन्हा	आत्माराम एण्ड सन्स - दिल्ली	प्र.सं 1962
22.	शैलूष	शिव प्रसाद सिंह	नेशनल पब्लिशिंग हाउस-दिल्ली	प्र.सं. 1989
23.	सूरज किरण की छाँव	राजेन्द्र अवस्थी	परमेश्वरी प्रकाशन - दिल्ली	प्र.सं. 1997
24.	रथ के पहिए	देवेन्द्र सत्यार्थी	प्रवीण प्रकाशन - दिल्ली	प्र. सं.1953

सहायक ग्रंथ सूची

सहायक ग्रंथ सूची

पुस्तक	लेखक	प्रकाशक	प्रकाशन वर्ष
1. आदिवासी कौन	सं. रमणिका गुप्ता	राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली	प्र.सं. 2008
2. अरण्य की संस्कृति	प्रयाग दत्त शुल्क	विदर्भ हिन्दी साहित्य सम्मेलन, नागपुर	प्र.सं. 1964
3. आदिवासी साहित्य यात्रा	सं. रमणिका गुप्ता	राधाकृष्ण प्रकाशन	प्र.सं. 2008
4. आदिवासी लोक - दो खण्डों में	सं. रमणिका गुप्ता	शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली	प्र.सं. 2006
5. आदिवासियों के बीच	श्रीचंद्र जैन	शिवानी बुक्स, दिल्ली	प्र.सं. 2007
6. आदिवासी स्वर सामाजिक आर्थिक जीवन	सं. कुमार चौहान & श्रीमती रेणु चौहान	स्वर्ण जयन्ती, दिल्ली,	प्र.सं. 2005
7. आदिवासी-शौर्य एवं विद्रोह	सं. रमणिका गुप्ता	इतिहास बोध प्रकाशन	प्र.सं. 2004
8. आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी	सं. रमणिका गुप्ता	वाणी प्रकाशन, दिल्ली	प्र.सं. 2004
9. आदिवासी महिलाओं का शैक्षणिक एवं सामाजिक आर्थिक अध्ययन	उमेश कुमार	क्लासिकल पब्लिशिंग कंपनी, दिल्ली	प्र.सं. 2007
10. आँचलिक हिन्दी उपन्यास उद्भव और विकास	डॉ. बेचन	सन्मार्ग प्रकाशन दिल्ली	प्र.सं. 1971
11. आदिवासी विकास से विस्थापन	सं. रमणिका गुप्ता	राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली	प्र.सं. 2008
12. जनजातीय विकास मिथक एवं यथार्थ	नरेश कुमार वैद्य	रावत पब्लिकेशन्स,जयपुर	प्र.सं. 2003

13. जनजातीय महिलाएँ	रेशमा खलको	क्लासिकल पब्लिशिंग कंपनी, दिल्ली	प्र.सं. 2007
14. जनजातीय समाज में शिक्षा और आधुनिकीकरण	मिथलेश कुमार	क्लासिकल पब्लिशिंग कंपनी, दिल्ली	प्र.सं. 2007
15. जनजातीय समाज एवं वनीय अन्तर्निर्भरता	डॉ. संजय गीला	अंकुर प्रकाशन, उदयपुर	प्र.सं. 2007
16. जनजातीय भारत	नदीम हसनैन	जवाहर पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली	प्र.सं. 1990
17. जनजातियों का समाज शास्त्र -	डॉ. वी.बी.सिंह	राजीव प्रकाशन, मेरट	उपलब्ध नहीं है।
18. जिप्सी : भारत की विस्मृत संतति	चमनलाल	प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय भारत सरकार, दिल्ली	प्र सं. 1990
19. भारत की जनजातियाँ	डॉ.शिवतोश दास	किताबघर प्रकाशन,दिल्ली	प्र.सं. 1983
20. भारतीय मानव शास्त्र	प्रफुल्ल रंजन झा, दीपशिखा बरनवाला	पीयूष पब्लिकेशन्स	प्र.सं. 2002
21. भारत के आदिवासी	जनक अरविन्द	दि इण्डियन पब्लिकेशन, अम्बाला	उपलब्ध नहीं है।
22. भारतीय जनजातियाँ	डॉ. हरिश्चन्द्र उप्रेती	राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर	उपलब्ध नहीं है।
23. भारत की पशुपालक जनजातियाँ	श्याम सिंह शशि	ज्ञान भारती प्रकाशन	प्र.सं. 1985
24. भारत की आदिवासी महिलाएँ -	डॉ. श्याम सिंह शशि -	समकालीन प्रकाशन	प्र सं. 1983
25. भीलों के बीच बीस वर्ष	डॉ. शोभनाथ पाठक	प्रभात प्रकशन, दिल्ली	प्र.सं. 1983

26. मानव सभ्यता विकास	डॉ. रामविलास शर्मा	वाणी प्रकाशन, दिल्ली	प्र.सं. 1956
27. लोकायत	देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय	राजकमल प्रकाशन दिल्ली	प्र.सं. 1982
28. स्वतंत्रा सेनानी बीर आदिवासी	शिवतोष दास	किताब घर प्रकाशन दिल्ली	प्र.सं. 1993
29. संस्कृति के चार अध्याय	रामधारी सिंह दिनकर	लोक भारती प्रकशन, इलहाबाद	प्र.सं 1956
31. हमारे आदिवासी	राजेन्द्र अवस्थी	बम्बई प्रकाशन	प्र.सं. 1962
32. हिन्दुस्तान की कहानी	जवहरलाल नेहरू	सस्ता साहित्यिक मण्डल, दिल्ली	सं. 2006
33. हिमालय की पौराणिक जनजातियाँ	बंशीराम शर्मा	आर्य प्रकाशन मण्डल, दिल्ली	प्र.सं. 1985
34. आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन	एम. एन. श्रीनिवास	सर्जन और संप्रेषण दिल्ली	प्र.सं. 1984
35. मानव विज्ञान व नृतत्व शास्त्र	डॉ. ऋषिदेव विद्यालमकार	मानव विज्ञान परिषद	प्र. सं. 1966
36. हिन्दी उपन्यास-शिल्प	और प्रयोग	हिन्दी प्रचारक संस्थान वाराणसी	प्र. सं. 1973
37. हिन्दी के आंचलिक उपन्यास	डॉ. राम दरश मिश्र	वाणी प्रकाशन दिल्ली	प्र. सं. 1984
38. आदमी बैल और सपने	राम शरण जोशी	प्राचीन प्रकाशन दिल्ली	प्र. सं. 1982
39. लोक कथा विज्ञान	श्रीचन्द्र जैन	मंगल प्रकाशन, जयपुर	प्र. सं. 1988
40. हिन्दी उपन्यास कला	डॉ. प्रताप नारायण टंडन हिन्दी	ग्रंथ अकादमी, जयपुर	प्र. सं. 1992

41. हिन्दी के आँचलिक उपन्यास-सिद्धांत और समीक्षा	डॉ. बंशीधर	भाषा प्रकाशन, दिल्ली	प्र. सं.1983
42. आदिवासी भारत कल और आज	डॉ. श्याम सिंह शशि	जगतराम एण्ड सन्स	प्र.सं. 1984
43. हिन्दी उपन्यास एक अंतर यात्रा	रामदरश मिश्र	राजकमल प्रकाशन	प्र.सं. 1986
44. आँचलिक उपन्यास : अनुभव और दृष्टि	ज्ञानचन्द्र गुप्त	राधा पब्लिकेशन्स, दिल्ली	प्र.सं. 1995
45. हिन्दी के आँचलिक उपन्यास	मृत्युंजय उपाध्याय	इलाहबाद	प्र.सं. 1989
46. मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र और हिन्दी कथा साहित्य	कुंवरपाल सिंह	धरती प्रकाशन बिकनेर	प्र.सं. 1984
47. कथा के तत्व	देवराज उपाध्याय	ग्रंथ माला प्रकाशन, पटना	उपलब्ध नहीं है।
48. हिन्दी उपन्यासों का शास्त्रीय विवेचन	महावीरमल लोढ़ा	बोहरा प्रकाशन जयपुर	प्र.सं. 1972
49. आधुनिक हिन्दी उपन्यास	जगमोहन चोपडा	विर्केता प्रेस दिल्ली	प्र.सं. 1982
50. हिन्दी उपन्यासों में आँचलिकता का प्रवृत्ति	डॉ. ह.के. कडवे	अन्नपूर्णा प्रकाशन कानपुर	प्र.सं. 1978
51. आँचलिक उपन्यास स्वरूप और तत्व	सं. रामगोपाल शर्मा & प्रतापचन्द्र जैसवाल	समीक्षालोक कार्यालय, आगरा	उपलब्ध नहीं है।
52. हिन्दी के आँचलिक उपन्यास	सं. रामदरश मिश्र & ज्ञानचन्द गुप्त	वणी प्रकाशन दिल्ली	प्र.सं. 1984
51. Tribal Contemparary Issues Appraisal and Intervention	Ed . Ramanika Gupta	concept publishing company, Delhi.	प्र.सं. 2007
52. Indian Tribels- Through the Ages	R.C. Varma	publication division	प्र.सं. 1990

पत्र-पत्रिकाएँ

पत्र-पत्रिकाएँ

1. अल्मा कबूतरी : एक रोमांचक कथा, सं. गोपाल राय, हर दयाल, जनवरी-मार्च 2001

2. अभिनव औपन्यासिक शिल्प में मिजो-विद्रोह- डॉ. महेन्द्र भटनागर, सं गोविंद मिश्र, अक्षरा जनवरी मार्च 2000

3. अभिशप्त समाज का दुख-दर्द - भारत भरद्वाज, सं. इंड़िया टुडे, 18 जून 2008

4. अनुसूचित जनजातियों के संगठन के साथ सरकारी सहभागिता भगवत मुरमू- सं.देवीप्रसाद.पत्रिका-गाँधी मार्ग-1988 अक्टूबर-नवम्बर

5. आदिवासी संस्कृति के संकट - मासेन्दु कुण्डु, सं. पीयूष दईया, भावी प्रकाशन 2002.

6. आदिवासी : अस्तित्व, अस्मिता और साहित्य - कमलेश्वर, वर्तमान साहित्य जून 2005.

7. आदिम जातियों का विकास-राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद के भाषण (1951-56) प्रकाशन विभाग, सू.प्र.मंत्रालय भारत सरकार. 1957 दिसम्बर

8. आदिवासी जीवन - वर्तमान और भविष्य - कुमार सुरेश सिंह. वागार्थ . सितम्बर 2001

9. आदिवासी जनजीवन का औपन्यासिक दस्तावेज - शशिकला राय, सं. अर्पेल-जून 2001

10. आर्यों का मूल स्थान की खोज-शैलेंद्र श्रीवास्तव - सं. प्रताप सिंह बिष्ट आजकल, 1996 नवम्बर

11. आर्य कौन थे - दामोदर दर्मानंद कोसांबी- सं. प्रताप सिंह बिष्ट, आजकल, 1996 नवंबर

12. उपन्यास का संदर्भ और जनचेतना की संभावना - श्री नारायण समीर, सं, ज्ञानरंजन, पहल 48, 204

13. उपन्यास के बहाने आदिवासी-विमर्ष - क्षितिज शर्मा सं. हरिनारायण, कथादेश, मार्च 2003

14. उपन्यास का जनतंत्र और हाशिए का समाज - वीरेन्द्र यादव, सं. आलोचना, जुलाई-सितंम्बर 2001

15. औरत, जो कबूररी नहीं है -प्रलाद अग्रवाल, सं, ज्ञान रंजन, पहल जनवरी 2001

16. अंडमान निकोबार द्वीप समूह के वनवासी - जगदम्बी प्रसाद यादव - सं. नरेन्द्र सिन्हा आजकल - 1987 जुलाई

17. कुमाऊंनी लोक कला - कृष्णा बैराठी- सं. प्रवीण उपाध्याय - आजकल, 1989 फरवरी

18. गुवाहाटी की हिंसा और आदिवासियों का भविष्य- दिनकर कुमार- हंस 2008 मार्च

19. गुस्ताख़ सवालों का खतरनाक उपन्यास - रामशरण जोशी, सं, राजेन्द्र यादव, हंस सितंम्बर 2000

20. घोड़ा और आरा वाला पहिया- सं. प्रताप सिंह बिष्ट - आजकल 1996 नवंबर

21. छत्तीसगढ़ के लोक नाट्य- डॉ. बलदेव - सं. डॉ. नरेन्द्र सिन्हा . आजकल 1987 नवम्बर

22. जनजातीय बोलियों के लिए देवनागरी लिपि - जय शंकर बाबू - सं. नागरी संगम - 1996 जनवरी

23. जनजातीय संस्कृति की कथात्मक पड़ताल - भगवती प्रसाद व्दिवेदी- सं. कैलाश चन्द्र पन्त अक्षरा -2005 सितम्बर -अक्टूबर

24. जौनसार-बावर का सांस्कृतिक मेला बिस्सू - डॉ. प्रहलाद सिंह रावत - सं. सुरेश चन्द्र शर्मा आजकल - 1991 मई

25. नक्सलवादी के आदिवासी चहरे की हक़ीक़तें- अभय कुमार दुबे, हंस 2008 मार्च

26. पिछड़ी जातियों की आदर्श प्रथा : घर बैठाई-देवेन्द्र कुमार पाठक - सं. नरेन्द्र सिंह आजकल ,1986 मई

27. पुरातत्व क्यों - ग्लिन डैनियल - सं. सुरेश चन्द्र शर्मा - 1992 जनवरी

28. प्रकृतवाद के लौह-शिकंजे में कैद अल्मा ललित कार्तिकेय, सं, नामवर सिंह, आलोचना जुलाई-सितंबर 2001

29. बाली द्वीप और आर्य संस्कृति - शैलेन्द्र कुमार पाठक - सं. सुरेश चन्द्र शर्मा आजकल 1992 फरवरी

30. बिहार के आदिवासी लोक गीत - डोमन साहू समीर - सं. नरेन्द्र सिन्हा आजकल, 1984 अक्तूबर

31. भील आदिवासियों का रंगभरा प्रणय पर्व भगोरिया-सुनीता खरे- सं. नरेन्द्र सिन्हा आजकल, 1987 मार्च

32. महाराष्ट्र की आदिवासी कविता - चन्द्रकांत पाटिल, सं, ज्ञानरंजन, पहल जुलई-अगस्त 2000

33. मध्य प्रदेश की कोरकू आदिवासी संस्कृति - लक्ष्मी प्रसाद मिश्र- सं. नरेन्द्र सिन्हा आजकल.1987 जुलाई

34. मध्य प्रदेश के आदिवासी - अशोक कुमार गोयल - सं. नरेन्द्र सिन्हा. आजकल. 1987 नवम्बर

35. मध्य प्रदेश की आदिवासी गोंड़ी संस्कृति- लक्ष्मी प्रसाद मिश्र- सं. नरेन्द्र सिन्हा
आजकल. 1985 जनवरी

36. मध्य प्रदेश की आदिवासी भीली संस्कृति - सं. नरेन्द्र सिन्हा - आजकल - 1986 अप्रेल उ.प्र

37. मानवाधिकारों का प्रवक्ता डॉ. अम्बेडकर - डॉ. विजय अग्रवाल - सं. सुरेश चन्द्र शर्मा
आजकल - 1990 अक्तूबर . उ.प्र

38. लोक संस्कृति तथा कलाओं की विविधताओं का बिहार - डॉ. बजरंग वर्मा - सं. नरेन्द्र सिन्हा
आजकल - 1984 अक्तूबर . उ.प्र

39. वन्यजातियों में राम कथा - रमानाथ त्रिपाठी - सं. सुरेश चन्द्र शर्मा
आजकल - 1992 फरवरी - उ.प्र

40. विकास का मार्ग या विनाश का मार्ग- मेधा पाटकर से जयंत वर्मा, सं. ज्ञानरंजन,
पहल अक्टूबर-दिसंबर 1994.

41. शेर बनाम आदिवासी : पक्ष और विपक्ष- वी.एम. मेहर होमजी- सं. एकलव्य
स्त्रोत 2006 मार्च

42. शूदों का प्राचीन इतिहास - रामशरण शर्मा - ज्ञान विज्ञान प्रकाशन- प्र .सं. 1992

43. शैलूष-दो गज जमीं तो मिल गयी अफसान-ए-जंग में- सत्यदेव त्रिपाठी, हंस जून 1993.

44. संथाल परगना के आदिवासियों का फूल पर्व सरहुल - आनंद बिहारी शरण - सं. नरेन्द्र सिन्हा
आजकल- 1987 जुलाई

45. हम जंगली बन जाएं- यशपाल सत्य व रणसिंह आर्य - सं. देवी प्रसाद . 1987 जनवरी

46. हितिहास और साहित्य : दोस्त बनते हमसफर - सं. प्रताप सिंह बिष्ट, आजकल 1996 नवम्बर

हिन्दी उपन्यासों में चित्रित जनजातीय जीवन

(हैदराबाद विश्वविद्यालय की पीएच.डी., (हिन्दी) उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-सार)

2009

प्रस्तुतकर्ता

सुरेश जगन्नाथम

निर्देशक

डॉ. सच्चिदानंद चतुर्वेदी

मानविकी संकाय,

हैदराबाद विश्वविद्यालय

हैदराबाद - 500 046

विभागाध्यक्षा

प्रो. शशि मुदिराज डी.लिट्.,

मानविकी संकाय,

हैदराबाद विश्वविद्यालय

हैदराबाद - 500 046

शोध-सार

विश्व के लगभग समस्त भागों में न्यूनाधिक मात्रा में जनजातीय समुदाय का अस्तित्व है। भारत में 'जनजाति', जिन्हें हम 'आदिवासी' कहते हैं, चारों ओर से पराजित और पीड़ित दिखाई देते हैं। उनके पास कृषि योग्य उत्तम व पर्याप्त भूमि भी नहीं है। गोंड़, बैगा, परधान, भील, कोल, कोरवा, शबर, भूमिया, कोरकू इत्यादी जातियों के लोग भारत के आदिम वासी हैं।

जनजातियों का प्रश्न वेद काल के समान पुरातन है, यदि नहीं तो महाभारत काल के बराबर प्राचीन तो निश्चित है। वनवासियों की बड़ी आबादी हमारे राष्ट्र में है। भारत के उत्तर-पूर्व प्रदेश को विद्वान लोग नृवंशशास्त्र का केंन्द्र स्थान कहते हैं। आज वहाँ कितनी ही जनजातियाँ इतिहास पूर्व काल की स्थिति में पाई जाती हैं। यदि ऐसे वनवासियों को लेकर हम उनके जीवन या संस्कृति आदि पर शोध करना चाहें तो हमारे सामने बहुत सी कठिनाइयाँ आती हैं।

यह सच है कि हमारे आक्रमणों के कारण वे अरण्यवासी बने परन्तु इसी कारण वे अरण्यक जीवन में कुशल हो गए हैं। उन्हें जीवनोपयोगी उद्योगधंधों का इतना ज्ञान होता है जितना एक विद्वान अध्यापक भी प्राप्त नहीं कर सकता। साथ ही वे अपने लिए अनुबंध कला में भी प्रवीण होते हैं। जंगल में पशु पक्षियों का ज्ञान, शिकार कुशलता, ऋतुचक्रों से परिचय, वनस्पतियों और जमीन का ज्ञान, जीवनदायी वैद्य आदि कितने ही ऐसे विषय हैं जिनको उन्होंने अपना बना लिया है। अरण्यक जीवन में उन्हें जो आनन्द मिलता है उसे व्यक्त करने के लिए उन्होंने अपनी संगीत-नृत्य कला का भी विकास किया है। ऐसी अनेक जातियों में एक प्रकार की चित्रकला की लोक शैली भी देखने को मिलती है। इन्होंने इस लोक के समान परलोक का भी चिंतन किया है और उसका अनुसरण कर धार्मिक विश्वासों, संस्कारों और रिवाजों की परम्परा भी विकसित की है। लेखन कला के अभाव में उन्होंने मौखिक गेय परम्परा का आश्रय लेकर इस परम्परा को कायम रखा है। उन्होंने विषम परिस्थितियों में भी अपने जीवन को सार्थक बनाये रखा है।

आदिम जातियों के 1953 के सम्मेलन में भाषण देते हुए पं. जवाहरलाल नेहरु ने इस बात पर जोर दिया था कि भारत की जनजातियों की समस्या को सहानुभूति तथा दूरदर्शिता पूर्वक हल करने की

आवश्यकता है। उनकी जीवनोपयोगी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उचित मार्ग का अवलंबन करने की सलह देते हुए उन्होंने कहा था "हम जनजातियों के रहन सहन में कोई हस्ताक्षेप नहीं, उन्हें सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने में सहायता देने जा रहे हैं"।

औपनिवेशिक काल में ब्रिटिश और भारतीय लेखकों ने अंग्रेजों के प्रशासनिक हितों को ध्यान में रखकर आदिवासियों के विषय में लेखनकार्य किया। तत्कालीन सत्ता के प्रति प्रतिबद्ध इन लेखकों ने आदिवासियों को शेष भारतीय जनसंख्या से सामाजिक, सांस्कृतिक प्रजातीय दृष्टि से भिन्न-भिन्न बताया है। प्रथक्करण की उनकी सुनियोजित चाल का ही यह परिणाम है। भारत के प्रायः सभी आदिवासी भारतीय समाज के ही विभिन्न अंग रहे हैं। शेष आबादी से प्रथक वन्यांचलों में रहने के कारण उन्हें भारतीय समाज में पंचमवर्ण की स्थिति प्रदान की गई है। इस तथ्य के साक्षी हमारे विविध शास्त्रीय ग्रंथ हैं। आदिवासी और शेष भारतीय मूलतः एक ही व्यवस्था के अंग होने के बावजूद उनमें जो अन्तर दिखाई देता है, वह संपर्क हीनता का परिणाम है। आदिवासी हमारे अतीत के प्रतिनिधि हैं। हम परिवर्तित और विकसित इसलिए हुए हैं कि हम परस्पर सम्पर्क में रहें तथा हमें विकास के अवसर मिले। आदिवासी इसलिए पिछड़ गए कि वे वन्य व पर्वतीय, दुर्गम अंचलों में रहने के कारण शेष आबादी से कट गये, उनके साथ सम्पर्क में निरंतरता नहीं रह पाई तथा विकास के अवसर उन्हें नहीं मिलें।

आजादी के बाद साठ वर्षों में भारत के सामाजिक सांस्कृतिक और आर्थिक परिदृश्य में काफी बदलाव आया है। किन्तु आदिवासी जीवन में कोई खास परिवर्तन नहीं हुआ। विकास की रोशनी से आदिवासियों का भी कायाकल्प होना चाहिए, उनकी अस्मिता की रक्षा करते हुए। इसलिए आदिवासियों पर अब किये जाने वाले लेखन में आदिवासी समाज का वर्णन मात्र नहीं होना चाहिए। आदिवासी विकास और राष्ट्रीय लक्ष्यों को ध्यान में रखकर आदिवासी जनजीवन और संस्कृति का मूल्यांकन परक अध्ययन करना चाहिए। विभिन्न जनजातियों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए विभिन्न आदिवासियों के जीवन में पाई जाने वाली समानता और अंतर, उनके कारणों और परिणामों की समीक्षा करनी चाहिए।

आजादी के पहले तथा आजादी के बाद भी इन आदिवासियों की जीवन स्थिति में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ है, पहले जैसे थे आज भी वैसे ही हैं। पहले अंग्रेज उन पर शोषण और अत्याचार करते थे

आज हमारे नेता और पूंजीपति उन्हें लूट रहे हैं, पूरी तरह ठगे जा रहे हैं। आज भी आदिम समुदायों की स्थिति में कोई आधारभूत परिवर्तन नहीं हुआ है। वे सदैव की तरह शोषित वंचित और पीडित हैं। आधुनिक सभ्यता इन सरल लोगों की प्रवृत्तियों को महसूस करने में भी अक्षम रही। इस मशीन युग के नुमाइदों ने आदिवासी क्षेत्रों में घुस कर सब कुछ नष्ट कर दिया है, उनका संगीत, उनकी ध्वनियाँ, प्रकृति की लय, और वह सब कुछ जो उनके जीवन के अनिवार्य हिस्से रहे हैं।

ऊपर बताये गये सभी तथ्यों का उल्लेख हिन्दी साहित्य में हुआ है। मुख्य रूप से औपन्यासिक विधा में जनजातियों के जीवन से जुड़े सभी पहलुओं को देखा जा सकता है। स्वयं आदिवासी होने के नाते हिन्दी में जनजातीय जीवन पर लिखे गये उपन्यासों पर शोध करने की इच्छा रही। इसलिए मैंने अपने शोध कार्य के लिए 'हिन्दी उपन्यासों में चित्रित जनजातीय जीवन' विषय को चुना है।

विश्लेषण की सुविधा के लिए भूमिका व उपसंहार के अतिरिक्त इस शोध कार्य को चार अध्यायों में विभक्त किया गया है- प्रथम अध्याय में 'जनजाति' को परिभाषित करते हुए भारतीय जनजातियों की संरचनात्मक विशिष्टताएँ तथा जनजातियों का इतिहास के साथ-साथ भारत की लुप्तप्राय तथा भूतपूर्व अपराधी जनजातियों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया है।

द्वितीय अध्याय में अब तक जनजातीय जीवन पर लिखे गये उपन्यासों की सारणी तथा उपलब्ध उपन्यासों में से कुछ का संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

तृतीय अध्याय में उपन्यासों के कथानक में जनजातीय जीवन के बहुआयामी संदर्भों का विश्लेषण किया गया है। जिसके अन्तर्गत जनजातियों के आर्थिक जीवन में विशेष महत्व रखने लाले कृषि, वन, जनजातियों के हाट, जंगली जानवरों का योगदान आदि तथ्यों का आकलन किया गया है। दूसरे भाग में जनजातियों के सामाजिक पहलू का, जिसके अन्तर्गत जनजातीय व्यवस्था के ग्राम प्रमुख, विवाह के प्रकार, सामुदायिकता तथा जनजातीय पंचायतों का विस्तार से उल्लेख किया गया है। तीसरे भाग में जनजातियों का महत्वपूर्ण पक्ष धर्म का उल्लेख किया गया है। चौथे भाग में जनजातियों के सांस्कृतिक संदर्भ के अन्तर्गत उनके लोक साहित्य तथा उनके जीवन से जुड़े पर्व-त्योहार, युवागृह घोटुल, गुदना आदि बिन्दुओं का विश्लेषण प्रस्तुत किया गाया है।

चतुर्थ अध्याय में उपन्यासों में चित्रित जनजातियों की समस्याएँ जैसे ऋणग्रस्तता, भूमि हस्तांतरण, बेगार, मदिरा पान के अतिरिक्त स्त्री-शोषण, बंधुआ मजदूरी, धार्मिक समस्या तथा शिक्षा से संबंधित समस्याओं

का विस्तार से विश्लेषण किया गया है। इसी अध्याय के दूसरे भाग में उपन्यास के लेखन में लेखकों का दृष्टिकोण को भी बताया गया है।

भारत एक ऐसा विशाल राष्ट्र है, जिस में जनजाति अधिक संख्या में निवास करती है। संम्पूर्ण भारत की जनसंख्या का लग-भग सात प्रतिशत भाग जनजातीय समाज का है। भारत जैसे विशाल देश में भाषा, धर्म, जाति तथा वेशभूषा की भिन्नताओं की तरह जनजातियों में भी भिन्नताएँ पायी जाती हैं। ये समस्त जनजातियाँ भारत की मूल निवासी हैं। इन्हें हम 'जनजाति', 'आदिमजाति', 'वनवासी', 'आदिवासी', 'गिरिजन', अथवा 'अनसूचित जनजाति' के नाम से जानते हैं। इन जनजातियों के अलग-अलग नाम उनके अनेक उप जातियाँ, उनकी संस्कृति खान-पान, रहन-सहन, भाषा पूरी तरह से एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी इनकी समस्याएँ, इनका जीवन, जीवन साधन, और सामान्य तरीकें लगभग एक से हैं।

अब तक मानवशास्त्री, समाज शास्त्रियों ने जनजाति को अपने-अपने मतानुसार परिभाषित करने की कोशिश की। किन्तु जनजातीय समाज की कोई भी पूर्ण रूप से मान्य परिभाषा अब तक प्रचलित नहीं हो पाई है। क्योंकि एक जनजातीय समाज की आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, भाषागत विशेषताँ दूसरी जनजातीय समाज से अलग-अलग हैं। फिर भी जनजातियों के संदर्भ विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाएँ यह स्पष्ट करती हैं 'कि वन्य प्रदेशों में रहने वाले ऐसे व्यक्ति समूह जो सामान्यतः समान भाषा, समान संस्कृति, तथा समान भू-क्षेत्र से संबंधित हों वे जनजातीय समूह के अंग कहलाते हैं।

भारत का इतिहास अत्यंत प्राचीन है। भारत के इतिहास ग्रंथ एवं महाकाव्यों में जनजातियों का उल्लेख मिलता है। रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्यों का ऐतिहासिक महत्व कुछ भी हो, उनमें जनजातियों का जैसे, शूद्र, अभीर, द्रविड़, पुलिन्द, शबर अथवा सौर का सन्दर्भ आता है। इनमें से एक सर्वाधिक सुपरिचित है और संभवतः एक मात्र जनजाति है जो आज भी विद्यमान हैं तथा जिसका सन्दर्भ ऐतरेयब्राम्हण में बदिसम है, वह है 'शबरी', जिस ने राम को जूठे फल भेंट किए थे। शबरी ऐसे योगदानों का एक ऐसा प्रतीक बन चुकी है कि जनजातियाँ भारत के जीवन का निर्माण कर सकती हैं। उस समय ज्ञात जनजातियों में अधिकांश ने महाभारत तथा रामायण के असंख्य घटनाओं में सम्मिलित होने का दावा किया है। एकलव्य नामक एक भील जिसने गुरुदक्षिणा के रूप में द्रोणाचार्य को अपना अंगूठा अर्पित कर दिया था, दंत कथाओं में एक आदर्श

शिष्य के रूप में वर्णित किया गया है। मुण्डा, नागाओं ने कौरवों की ओर से पाण्डवों के विरुद्ध लड़ने का दावा किया है। भीम का पुत्र घटोत्कच जिसने युद्ध में असाधारण वीरता का प्रदर्शन किया था, का जन्म भीम की जनजातीय पत्नी हिडिम्बा से हुआ था। अर्जुन ने एक नागा राजकुमारी चित्रांगदा से विवाह किया था। निषाद, जिन्होंने इस काल में अपनी प्रारंभिक स्थिति खो दी। यह आखेट करके अपना जीवन यापन करते थे। मेदा, आन्ध, मद्‌गा, चेंचू लोग वन्य पशुओं का शिकार करते थे। कसाहलस, उर्गा, पुक्कास जो पशुओं तथा पक्षियों को पकड़ते थे, वनों में काम करते थे। चाण्डालों का जो एक और जनजाति थी हिन्दू समाज में संविलयन हो गया, तथा उन्हें पशुओं तथा मनुष्यों के शवों को हटाने, अपराधियों के अंगों को काटने और उन्हें कोड़े लगाने का कार्य सौंपा गया।

भारत में हमेशा विदेशियों का आक्रमण रहा। मध्यकालीन भारत की राजनैतिक गतिविधियों में तीर्व परिवर्तन हो रहे थे। मुसलमान राजाओं का दिन ब दिन बड़ेते आक्रमण से सारा उत्तर भारत तथा मध्य भारत में राजनीतिक अशान्ति का वातावरण फैला हुआ था। मुसलमानों ने गोंडवाना और छोटानागपुर जैसे जनजातीय राज्यों को अपने अधीन कर लिया। तब तक प्रकृति के गोद में सुखमय जीवन व्यतीत कर रहे जनजातियाँ उनकी भौगोलिक सीमाओं पर शासकों के हस्ताक्षेप को सहन नहीं कर सके।

आधुनिक युग का आरम्भ अंग्रेजों के आगमन से शुरू होता है। अंग्रेज भारत की वन संपदा पर अपना अधिकार जमालिया तथा वन कानून बनाकर आदिवासियों को जंगल से विस्तापित होने पर मजबूर किया। इसी काल में आदिवासियों के धर्म परिवर्तन का शिलसिला आरंभ हुआ। आदिवासी दो वर्गों में बंट गये। ईसाई आदिवासी और गैर ईसाई आदिवासी। ईसाइयत को स्वीकृत आदिवासी शिक्षित हुए। कृषि कार्य में आधुनिक तकनीकियों का अपनाना आरम्भ हुआ। निरंतर स्वतंत्र परिवेश में जीने वाले इन आदिवासियों द्वारा विद्रोह करने के कारण भी इसी काल के राजनैतिक एवं आर्थिक परिस्थियाँ ही रही।

आधुनिक युग में जनजाति एक ऐसा रोचक विषय बना। इतिहासकारों, समाजशास्त्रियों तथा नृवंशशास्त्रियों ने आदिवासियों पर शोध कार्य किये। उनमें से कुछ नृवंश शास्त्रियों ने भारत की जनजातियों को अलग-अलग नामों से सम्बोधित किया। "रिज़ले, लेक, ग्रियर्सन, सोबर्ट, टेलेण्ट्स, सेजनिक, मार्टिन तथा ए.वी. थक्कर ने उन्हें आदिवासी (एबारिजिंस) नाम से पुकारा है। हट्टन ने इन्हें आदिम जातियाँ (प्रिमिटिव ट्राइब्स) नाम से सम्बोधित किया है। सरबेन्स ने इन्हें पर्वतीय जनजातियों की संज्ञा दी है। टेलेण्ट्स, सेजनिक तथा

मार्टिन उन्हें सर्वजीववादी (एनिमिट्स) कहते हैं। बेन्स ने उन्हें वन्यजाति (जंगल पीपुल,फारेस्ट ट्राइब्स, फोक) नामों से संबोधित किया है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री डॉ. घुरये ने उन्हें तथा कथित आदिवासी (सो काल्ड एबारिजिन्स) अथवा पिछड़े हुए हिन्दु नाम दिया है तथा उन्होंने ही इनके लिए अनुसूचित जनजाति (शेड्युल्ड ट्राइब्स) नाम प्रस्तावित किया है जो कि भारतीय संविधान के अनुच्छेद 342 के अन्तर्गत स्वीकारा गया है।

भारत के जनजातीय समाज में विविधता का कारण भौगोलिक परिवेश, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक क्षेत्र में विविधता का होना है। कुछ जनजातियाँ अपने शर्मीले, संकोच तथा बाहरी लोगों पर अविश्वासी स्वभाव के फल स्वरूप बाह्य समाज से अलग रही है। बाहरी समाज को उन्हों ने हमेशा शंका की दृष्टि से देखा है। कुछ जनजातीय समुदायों में बाहरी लोगों के प्रति आक्रोश एवं नफरत की भावना थी। बाह्य सम्पर्क हमेशा हिंसा एवं संघर्ष का कारण बना। बाहरी लोगों का दृष्टिकोण भी इन लोगों के प्रति नकारात्मक बना रहा।

जनजातियों का बाहरी लोगों ने इतना अधिक शोषण किया है कि वे कभी भी संगठित नहीं हो पाए हैं। इसके अतिरिक्त जनजातीय समाजों में व्याप्त प्रथाएं एवं रीति-रिवाज भी उन के पतन के कारण बने रहे हैं। बहुपति व्यवस्था यौन रोगों का कारण रही है। बंधुआ मजदूरी के चलन में मजदूरों के विवाह एवं उनके परिवारों पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से नियंत्रण था। वनों पर आधारित अर्थ व्यवस्था अधिक समय तक जीवन यापन का साधन नहीं बन सकी। जो लोग बदलते परिप्रेक्ष्य में व्यवसाय परिवर्तन की ओर उन्मुख नहीं हो सके उन्हें अपना अस्तित्व बनाए रखने में कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इस प्रकार कुछ ऐसी जनजातियाँ हैं जिनकी संख्या में निरन्तर कमी आई है। इसी प्रकार अण्डमान निकोबार की जनजातियाँ प्राकृतिक विपदाओं एवं बाहरी आक्रमणों का अधिक समयतक सामना नहीं कर सकीं। परिणाम स्वरूप उनकी संख्या घटती गई। इसके अतिरिक्त भी अनेक जनजातियाँ हो सकती हैं जिन्हें इस श्रेणी में रखा जा सकता है। यद्यपि सांस्कृतिक सम्पर्क की प्रक्रिया के फल स्वरूप अनेक जनजातियों के लोग अपनी जनजातीय पहचान को खो रहे हैं, लेकिन कुछ परिस्थितियाँ उनके जीवन के अस्तित्व को ही बनाए रखने में असफल सिद्ध हुई हैं।

सबसे पहले अंग्रेजों ने संघटित अपराधियों को अपराधी जनजाति नाम दिया। अपराधी उन व्यक्तियों को कहते हैं, जो समाज में निभकर नहीं चल सकते और जो कुछ जन्मिक एवं वातावरण के कुचक्रों से बाधित होकर अपराध करने लगते हैं। इसके विपरीत हम यह देखते हैं कि अपराध जनजातियों के व्यक्ति पारस्परिक

रूप से निभकर चलते हैं, उनकी अपनी निज की मान मर्यादा होती है। उनकी अपनी जातीय पंचायत होती है जिसके निर्णय अंतिम और प्रत्येक के लिए शिरोधार्य होते हैं। भारत में जनजातियाँ अपराधी प्रवृत्ति को अपनाने के पीचे अनेक कारण हैं उनमें से प्रमुख हैं भारततीय समाज में स्थित जाति व्यवस्था। निर्धनता, गरीबी, बेरोजगारी के चलते जनजातियाँ अपनी आवश्याकताओं को पूर्ति के लिए के लिए अपराधि प्रवृत्तियाँ अपनाई। ब्रिटिश सरकार ने 1924 में इनके अपराधों के रोकथाम के लिए एक अधिनियम बनाया था। इनके लिए यह नियम बनाया है कि जनजाति के प्रत्येक सदस्य को 15 वर्ष की अवस्था पहुंचने पर रजिस्ट्री करना अनिवार्य है। बाद में इनके सुधार के भी प्रयन्त किए तथा 31 अगस्त, 1952 में से संविधान के अनुसार उनको अब अपराधी जनजाति नहीं कहा जाता। यह स्थिति केवल संविधान तक ही सीमित है। आज भी समाज की मानसिकता जनजातियों प्रति बदली नहीं है।

हिन्दी में आदिवासी जीवन पर लिखे गये उपन्यासों का प्रकाशन राष्ट्र की आज़ादी से पहले ही आरम्भ होता है। आजादी के बाद आदिवासी जीवन पर अनेक महत्वपूर्ण उपन्यासों की रचना हुई, किन्तु उन्हें आंचलिक उपन्यास कहा गया और उसी दृष्टि से आलोचना अथवा समीक्षाएँ लिखी गईं। अब तक हिन्दी में लिखे गये आदिवासी उपन्यास करीब 80 तक हैं।

हिन्दी में लिखे गये पहला आदिवासी उपन्यास वनविहंगिनी को माना जा सकता है। क्योंकि 1909 से पहले आदिवासी जीवन पर लिखे गये उपन्यास का उल्ले हमें कहीं नहीं मिलता। इनमें स्वातंत्र्यपूर्व प्रकाशित उपन्यास बहुत ही कम हैं, स्वतंत्रता के बाद इन उपन्यासों का प्रकाशन बड़ी तेजी से हुआ और वर्तमान में आदिवासियों को केन्द्र में रख कर अनेक उपन्यास प्रकाश में आ रहे हैं। इनमें से कुछ उपन्यास आज बाजार में उपलब्ध नहीं हैं। फिर भी जितने उपन्यास उपलब्ध हैं उन सारे उपन्यासों को पढ़ने के बाद कई दृष्टियों से इनका विभाजन कर सकते हैं। जैसे- पूर्ण रूप से आदिवासी जीवन को साकार करने वाले उपन्यास (अल्मा कबूतरी, रेत, जंगल के फूल आदि)। गौण रूप से आदिवासी जीवन को साकार करने वाले उपन्यास (जंगल जहाँ शुरू होता है, वन के मन में, मीणा घटी आदि। आदिवासी लेखकों द्वारा लिखे गये उपन्यास (धूणी तपे तीर, जंगल के गीत)। गैर आदिवासियों द्वारा लिखे गये उपन्यास, निश्चित आदिवासियों पर लिखे गये उपन्यास। एक ही आदिवासी समूह पर लिखे गये अनेक उपन्यास(उराँव- पठार पर कोहरा, काला पादरी, गगन घटा

घहरानी) विद्रोही परख आदिवासी उपन्यास (धपेल, धूणी तपे तीर, जंगल के फूल) ईसाईयत से प्रभावित आदिवासी जीवन पर लिखे गये उपन्यास (काला पादरी, सूरज किरण की छाँव) बंधुआ मजदूरी पर लिखे गये उपन्यास (गाथा भोगनपुरी, गगन घटा घहरानी) आदिवासी सांस्कृति पर लिखे गये उपन्यास (वन के मन में) आदिवासी सामाज का चित्रण करने वाले उपन्यास। स्वातंत्र्य पूर्व आदिवासी जीवन, पर लिखे गये उपन्यास कचनार, मृगनयनी, कब तक पुकारूँ) आदी।

आदिवासी आज विज्ञान के युग में भी अधिकांशतः प्रकृति पर ही आश्रित हैं। हजारों वर्षों से जंगल, पहाड़, घाटियाँ एवं नदियां ही रही है। जंगलों तथा पहाड़ों से खाद्य संग्रह करना, नदियों तथा तलाबों से मछली पकड़ना तथा कहीं-कहीं घाटियों तथा अन्यत्र पहाड़ी ढालों पर कृषि करना ही उनकी आजीविका के प्रमुख साधन रहे हैं। स्वभावतः ये लोग संतोषी अधिक होते हैं, इस लिए इनमें भविष्य के लिए संग्रह करने की प्रवृत्ति नहीं होती है। यदि वे कुछ एकत्रित भी करते हैं तो उसे लम्बे अर्से तक सुरक्षित रखना नहीं जानते। पारस्परिक दायित्वों तथा सामुहिकता की भावना से बंधे होते हैं। इस लिये वे एक दूसरे से मुनाफा लेने की बात नहीं सोचते हैं। इस समाज में उत्पादन बेचने के लिए नहीं किया जाता है। इनके यहाँ आदिमकाल से वस्तु विनिमय होता आया है। मुद्रा के बिना लेन-देन छोटे स्तर पर ही सम्भव हो पता है। भविष्य के प्रति अश्वस्त होना तथा संघर्षमय जीवन व्यतीत करना ही इनका एक लक्ष्य बन जाता है। उनके हजारों निवास स्थानों व अन्य भौतिक सामग्री से यह स्पष्ट अनुमान लगाया जा सकता है कि उनकी वस्तुएँ एवं आवश्यकताएं उनकी स्वयं संग्रहित साधनों तक ही सीमित है।

आदिवासी समाज में अस्थाई कृषि का प्रचलन था। इस अस्थाई कृषि का उल्लेख जंगल के फूल उपन्यास में उल्लिखित है, यही प्रसंग उपन्या में उत्सव का रूप ले लेता है। उसके बाद लिखे गये उपन्यास जैसे 'गगन घटा घहरानी' में उराँव कृषि कार्य से परिचित हैं। उपन्यास के आरम्भ में ही आदिवासी स्त्रियाँ द्वारा खेतों में काम कर वापस लौटने का दृश्य आँखों के सामने उभरता है। कृषक आदिवासी पुरुष खेत जोतते हैं जिसका प्रमाण उपन्यास में जागो के पात्र से उजागर होता है। उपन्यास में भूमि जोतने का यथार्थ वर्णन हुआ है। इसी प्रकार उपन्यास 'वरूण के बेटे' में भी कृषि कार्य का वर्णन हुआ है। यूँ तो कृषिकार्य से परिचित आदिवासी समाज अपने खेतों में फसल उगा लेते हैं किन्तु वह फसल अपने घर तक नहीं पहुँचता। कभी महाजन खेतों में

से ही फसल उठा ले जाता है तो कभी किसान ही सारी फसल साहूकारे के यहाँ पहुँचा देता है, क्योंकि वह ऋण ग्रस्त रहता है। साहूकार के द्वारा लिए ऋण को चुकाने के लिए वह अपनी फसल को देने के लिए बाध्य किया जाता है। आदिवासी जीवन में साहूकार या महाजनों के आतंक के साथ साथ-साथ जंगली जानवरों का भी आतंक रहता है। आज भी आदिवासियों के खेतों में फसल जंगली जानवरों द्वारा नष्ट की जाती है। इस प्रसंग का उल्लेख वृन्दावनलाल वर्मा के 'मृगनयनी' उपन्यास में मिलता है। 'क्लावे' में कृषिकार्य हेतु बीज, खाद्य ठाकुर के यहां से लाते हैं। 'धूणी तपे तीर' में आदिवासी कृषक फसल काट कर तैयार करने की प्रक्रिया को लेकर चिंचित रहते हैं। 'गगन घटा घहरानी' में पूरे गाँव के खेत ऋण की एवज में जमींदार के यहाँ रहन होते चले गये। तब भूखों मरते उरांव पेट भरने के लिए चोरी करते हैं। 'जंगल के फूल' में आदिवासी जंगल व जमीन को अपना मानते हैं। जब सरकार की तरफ से दो व्यक्तियों को इनाम के रूप में पट्टा आते हैं तो कई सवाल उठ खड़े होते हैं। यहाँ सरकार की नीति उनकी सामूहिक भावना के विपरीत पड़ती है। सरकारी आदेश में वर्ग विभेद की नीति का आभास हो जाता है। राज्य के खिलाफ विरोध की चिंगारी फूट पड़ती है। इसी प्रार 'धूनि तपे तीर' में शासन के खिलाफ विद्रोह की भावना फूट पड़ती है। इसी प्रकार गोंड आदिवासियों की कृषि समस्या को सत्यार्थी जी 'रथ के पहिए' में सहकारी स्तर पर कृषि करके समाजवाद का रास्ता अपनाते हैं। ठीक इसी प्रकार 'नदी के मोड़ पर' उपन्यास में भी सामूहिक कृषि का प्रसंग उभरकर सामने आता है।

प्राचीन काल से ही वन भारतीय पुराणों, लोक कथाओं, वीर कथाओं, और साहित्य का अभिन्न हिस्सा रहे हैं। विश्व में भारत एक मात्र ऐसा देश है जहाँ कई वृक्षों तथा पशुओं तक की पूजा की जाती है। जिसका जीता जागता उदाहरण उपन्यास 'वन-लक्ष्मी' में दिखाई देता है। सरकार जो वननीति लागू की है वह मात्र आदिवासियों के खिलाफ ही है और बाहर की दुनिया में यह अपवाद फैलाया गया है कि आदिवासी ही जंगल को बरबाद कर रहे हैं क्यों कि वे जंगलों में ही रहते हैं, उनका जीवन जंगल पर ही निर्भर होता है। किन्तु हम इस ओर ध्यान नहीं देते कि वास्तव में जंगल में क्या होता है। जहाँ आदिवासियों को एक लकड़ी का टुकड़ा भी जंगल से लाने नहीं देते वहाँ ठेकेदारों को किस प्रकार प्रवेश मिल जाता है ? इन्हीं सवालों को उठाते हुए 'पाँव

तले की दूब' उपन्यास में चित्रित है। 'जंगल के आसपास' उपन्यास में पेड़ों का स्मग्लिंग किस प्रकार होता है यह देखा जा सकता है। ठेकेदार पेड़ों को कटवाकर नदी के मार्ग से शहर तक पहुँचा देते हैं जिससे जंगल नष्ट तो होते ही हैं साथ ही साथ जल प्रदूषण भी होता है। आदिवासी जंगल से सूखी लकड़ी प्राप्त करने के कारण भी अपराधी हो जाते हैं। जब कि वनाधिकारियों व ठेकेदारों की मिलीभगत से बड़ी-बड़ी चोरियाँ होती है। 'गगन घटा घहरानी' में इन विसंगतियों को पकड़ा गया है। उपन्यास में अधिकारियों द्वारा की गई अनियमिताओं की जाँच पड़ताल हुई है। लकड़ी की कमी को आदिवासियों पर चोरी के दोष लगाकर छुपाया जाता है तथा ठेकेदारी प्रथा से साफ होते वनों को रोकने के लिए इस प्रथा को समाप्त कर दिया जाता है।इस प्रकार बड़े पैमाने में जंगल का दोहन होने के कारण आज वन उत्पादों पर निर्भर जनजाति समुदाय का अस्तित्व संकट में पड़ गया है। आज आदिवासी बाहुल्य क्षेत्रों में वन धीरे-धीरे समाप्त हो रहे हैं। इसके बावजूद सत्य तो यह है कि वन आज भी न्यूनाधिक आदिवासियों का पोषण कर रहा है। उपन्यासों में आदिवासी अपनी आजीविका के साधनों के विकास के लिए लकड़ी, शहद, गोंद तथा घास एवं अन्य वन उत्पादों को प्रमुख श्रोत मानते रहे हैं। जंगल में पाई जाने वाली वनोत्पादित उपज में प्रमुख दोक, पीपल, सागवान, धावड़ा, गुदी, इमली, आम, महुआ, टीमरू, बाँस, शीशम आदि प्रमुख वृक्ष हैं जो आदिवासियों को संगठित-असंगठित व्यवसायिक आधार प्रस्तुत कर रहे हैं। साथ ही उनके द्वारा आवश्यक वन उत्पादों जैसे तेंदू पत्ता, गोंद, रबड़, महुआ के फूल आदि को हाट बाजारों एवं आस-पास क्षेत्रों में विक्रय करते हैं।

कुछ आदिवासी ऐसे भी होते हैं, जिनके पास खेती करने के लिए पर्याप्त भूमि नहीं रहती, वनोपज को एकत्रित करने में रोक के कारण कायाश्रम पर निर्भर होकर जीवन यापन करते हैं। इनकी स्थिति का फायदा उठाते हुए महाजन, साहूकार इनका शोषण करते हैं। जनजातीय समुदाय कालान्तर से वनों को निजी संपत्ति के रूप में मानते हैं साथ ही जनजातीय समुदाय की सामाजिक-आर्थिक पूर्णतः वनों पर निर्भर रही है।

वन नीति एवं जंगल से संबंधित नियमों की अव्यवहारिकता के विरुद्ध उपन्यासकारों का मानवीय पक्ष उजागर हुआ है। 'क्लावे' में भील युवक अपने परम्परागत अधिकारों की स्वाभाविक प्रक्रिया को स्पष्ट करता है। यह भावना प्रधान कथन उनके विश्वास और मान्यताओं को स्पष्ट करता है। इसी बात को और अधिक

स्पष्टता 'रथ के पहिए' में मिलता है।

आदिवासी अर्थव्यवस्था पूरी तरह वन उत्पादों पर निर्भर रहती है, वे वनों से अनेक प्रकार के उत्पादनों का संग्रह करते हैं। आज़ादी के बाद वननीति लागू की गई जिस से वे वनों में जाकर उत्पादों का संग्रह करने में कठिनाई महसूस करने लगे। अनेक नियमों के चलते इन्हें वनों से दूर कर दिया गया जिस से इनके जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा। वर्तमान में आदिवासियों की आर्थिक स्थिति को सुधारने के प्रयास क्रम में, साहूकारों द्वारा किये जाने वाले बैइमानी, छल-कपट को तथा ठेकेदारों द्वारा किये जाने वाले शोषण को रोकने के लिए सरकार ने कई योजनाएं बनाई हैं। जिससे आदिवासियों द्वारा संग्रह किये हुये वन उत्पादों को सही मूल्य चुकाते हुए सरकारी दुकानों द्वारा उत्पादनों को खरीदने की योजना तथा जंगल में रहने के कारण जंगल के विकास हेतु सरकार द्वारा किये जा रहे अनेक कार्यों का ठेका आदिवासियों को ही देने की आदि। आज वे आदिवासी ठेकदारों के पास मजदूरों का काम करते हैं तथा उनके हाथों शोषण के शिकार हो रहे। अधिक समय काम करना, सही मुआवजा न मिलना आदि समस्याओं से पीड़ित हैं।

जनजातीय जीवन एवं वन एक-दूसरे के पर्याय हैं अतः वनों से न सिर्फ जनजाति समाज को मातृत्व तुल्य स्नेह प्राप्त होता रहा है, बल्कि इन्हें आश्रय, भोजन, रोजगार तथा सुदृढ़ संस्कृति की प्राप्ति हो रही है। वन आदिवासियों की धरोहर रहे हैं। वनों के संरक्षण से ही आदिवासियों की सामाजिक तथा आर्थिक जीवन को सक्षम बनाया जा सकता है। वास्तव में वन, आदिवासियों के सच्चे पोषक हैं, वन इन्हें प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से विभिन्न प्रकार के लाभ पहुँचाते हैं। वनों से ईंधन, चारा, लकड़ी, खाद, फल-फूल, खाद्य योग्य कन्द मूल, जड़ी बूटियों तथा अन्य वाणिज्य उपयोगी लघु वन उत्पादित वस्तुओं के साथ-साथ सुरक्षित वातावरण भी प्राप्त होता रहा है। जनजातियों की आत्मा तथा शरीर दोनों वनीय पर्यावरण से ओत-प्रोत हैं।

जनजातीय जीवन में हाट-बाजारों का विशिष्ट महत्व होता है। हाट जनजातियों के सामाजिक आर्थिक जीवन के केन्द्र बिन्दु होते हैं, जिनमें लोगों को औपचारिक ढंग से बाँधने की क्षमता होती है। हाट-बाजार गप-शप-तमाशा, समाचार एवं त्यौहार के भी स्थल होते हैं। जनजातीय क्षेत्रों में हाट-बाजारों में ही डाक-वितरण, विज्ञापन एवं प्रचार तथा राजनैतिक क्रिया-कलाप सम्पन्न किये जाते हैं। हाट के दिन प्रायः सभी जनजातीय महिला-पुरुष अपने उत्पादित सामग्रियों की बीक्री तथा आवश्यक चीजों की खरीदारी हेतु हाट चले जाते हैं।

आज भी इन हाट बाजारों में मापने के परम्परागत पैमाने, जैसे- पैला, भागा आदि का प्रयोग किया जाता है। इन हाटों में बाजार भाव से अनभिज्ञ जनजातियाँ बड़ी सहजतासे व्यापारियों तथा बिचौलियों द्वारा शोषित किये जाते हैं। इनसे कम भाव से सामग्रियाँ खरीदी जाती है तथा उन्हें अधिक कीमत पर बेचा जाता है। इन हाटों में आज भी अंशतः वस्तु विनिमय (एक्सचेंज ऑफ गुड्स) प्रचलन देखने को मिलता है। लेकिन वर्तमान में इन हाटों की स्थिति में कुछ परिवर्तन देखने को मिलता है। परिणाम स्वरूप परम्परागत जनजातीय अर्थव्यवस्था पर शहरी अर्थ व्यवस्था का प्रभाव पड़ा है। जनजातीय हाट-बाजारों में मिल उत्पादित सामग्रियाँ नगर व्यापारियों द्वारा आजकल बेचते देखा जा सकता हैं। इससे जनजातीय गाँवों के परम्परागत कुटीर उद्योग में ह्रास की स्थिति पनपने लगी है।

'वन के मन में' उपन्यास में हाट का वर्णन हुआ है। ये बाजार-हाट आदिवासियों का मिलन स्थल होता है। हफ्ते में एक बार लगने वाली बाजार में आसपास के सभी गाँव वाले एकत्रित होते हैं, एक दूसरे से कुशल समाचार अपने बंधुवर्ग को पहुँचाते हैं। कई दिनों बाद मिलने पर उनके बीच की भावनात्मक मिलन का चित्रण 'सूरज किरण की छांव' उपन्यास में मिलता है। जिस प्राकार हाट को मिलन स्थल का बताया गया है उसी प्रकार इन हाटों में मिलने वाले सभी चीजों का, हाट में आने वाले लोगों का वर्णन उपन्यास 'पाँव तले की दूब' में किया गया है।

आमतौर पर आदिवासी हाट के दिन बड़े उत्साहित रहते हैं और हर दिन की तरह नहीं बल्कि उससे पहले ही जागकर सारा काम समेट लेते हैं क्यों कि एकत्रित वन उत्पादों को बेचने तथा अपने आवश्यक चीजों को खरीदने के लिए उन्हें हाट जाना होता है। इसी प्रसंग का निरूपण 'पठार पर कोहरा' में हुआ है। आदिवासी बच्चे बचपन से ही हाट के सम्पर्क में आते हैं तथा वहाँ के व्यापार कार्यकलापों को देखते हैं। बाहरी लोगों का व्यवहार तथा उनके द्वारा बोली जाने वाली भाषा को समझने तथा बोलने का प्रयास करते हैं। हाट ही उन्हें बाहरी दुनिया से जोड़ती है। किन्तु वे अपने वन उत्पादों को बेचने में हमेशा साहूकारों द्वारा ठगे जाते हैं। जिसका कारण है अशिक्षा है।

जैसा कि ऊपर कह चुके हैं आदिवासियों की अर्थ व्यवस्था में वस्तुविनिमयम पद्धति का प्रचलन आज

भी विद्यमान है। वे हमेशा अपने समाज के लोगों से प्रेम और सामुहिकता की भावना रखते हैं। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आपस में वस्तुविनिमय करते हैं। यह प्रथा अपने ही समाज के भीतर प्रचलित थी। वे हमेशा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति की ओर ही ध्यान देते रहे, किन्तु बाहरी दुनिया में इन उत्पादनों का क्या मूल्य हो सकता है उसकी जानकारी नहीं होती। बाहरी लोगों के संपर्क में आने के बाद आदिवासियों की कमजोरी को देखकर वे उन्हें ठगने लगे और आर्थिक रूप से उन्हें अक्षम बनाते रहे। यह स्थिति केवल भारत की ही नहीं बल्कि संसार के अन्य आदिवासी समुदायों में भी विद्यमान है।

आदिवासी समूह जंगली जानवरों का उपयोग कर अपनी आजीविका चलाते हैं और वही उनका पेशा है, जो सदियों से पीढ़ी दर पीढ़ी अपनाते आ रहे हैं। किन्तु जिस प्रकार जंगल को बचाने के लिए वननीति लागू की गयी है उसी प्रकार जंगली जानवरों को बचाने के लिए भी अनेक नियम लागू किए हुए हैं। वास्तव में जंगली जानवरों को खतरा आदिवासियों से नहीं गैर आदिवासियों से है जो अपनी विलासिता तथा बहादुरी को साबित करने के लिए बंदूकें उठाकर जंगल में चले जाते हैं और शेर, चीते, साबर, बारा सिंगा आदी बड़े-बड़े जानवरों का शिकार करते हैं। जिसका जीता जागता उदाहरण जंगल के आसपास उपन्यास में हुआ है। आदिवासी और वन एक दूसरे के पूरक हैं। अतीत में जहाँ वनों ने आदिवासियों का पोषण किया वहीं आदिवासियों ने वनों तथा वन पशुओं का भी संरक्षण किया है।

जनजातियों में सामाजिक कार्यक्रम सामाज के प्रमुख व्यक्ति के माध्यम से संपन्न किये जाते हैं। इन प्रमुखों के अलग-अलग जनजातियों में अलग-अलग नाम होते हैं। 'जंगल के फूल' उपन्यास में ग्राम अधिकारी के महत्व को बताया गया है। गोंडों में गाँव के नेता जिसे 'गायता' कहा जाता है।

विभिन्न समाजों में विवाह की रीतियाँ अलग-अलग होती हैं। सामाजिक संबंधों तथा सांस्कृतिक आधारों पर विवाह का स्वरूप बदलता रहता है। आदिवासी समाज में निर्धारित विवाह के लिए लड़कियों का दापा (दुल्हन की कीमत) चुकानी पड़ती है। कभी-कभी दापा की रासी इतनी अधिक होती है कि वर पक्ष की सामर्थ के बाहर की बात हो जाती है। ऐसी स्थिति में यह प्रथा आदिवासी समाज में एक कलंक के रूप में दिखाई

पड़ती है। 'वन के मन में' उपन्यास में इस 'गोनों' प्रथा की समस्या को उठाया गया है।

सामाजिक संगठन की दृष्टि से आदिवासी समाज को अनेक समुदायों और अनेक आंतरिक क्रिया कलापों में विभाजित किया जा सकता है। समुदाय के रूप में पूरा समाज परस्पर सहयोग की भावना से संबद्ध होता है। सहयोग की यह भावना हर क्षेत्र में व्याप्त होती है। सामाजिक क्रिया कलापों के मूल में भी इसी भावना की प्रधानता है। आदिवासी समाज की यह विशेषता है कि यदि किसी व्यक्ति विशेष पर कोई आपत्ति आती है तो पूरा गाँव उस पर विचार करता है तथा उसका समाधान खोजता है। जिसका उल्लेख 'क्लावे' उपन्यासों में हुआ है। 'गगन घटा घहरानी' उपन्यास में भी सामुदायिकता की झलक मिलती है। जागो पर आई मुसीबत को दूर करने के लिए सब एकत्रित होकर कुछ करने के लिए विचार-विमर्श करते हैं। इसी प्रकार कई अन्य उपन्यासों में जैसे 'बाजत अनहद ढोल', 'धूणी तपे तीर', 'जंगल के फूल' आदि उपन्यासों में संदर्भ अनुसार सामुदायिकता की भावना दिखाई देती है। यह सामुदायिकता की भावना ने ही आदिवासियों में विद्रोह लाने में बड़ी भूमिका निभाई है। मुख्य रूप से आदिवासियों द्वारा किये गये विद्रोह को केन्द्र में रखकर लिखे गये उपन्यासों में सामुदायिकता की भावना दिखाई पड़ती है।

हिन्दी में आदिवासी जीवन को केन्द्र में रखकर लिखे गये कुछ उपन्यासों में पंचायत को प्रमुख स्थान दिया गया है। जगह-जगह पर इसका वर्णन है। पंचायत उनके सामाजिक संगठन के रूप में उभर कर सामने आता है। पंचायत में किसी भी प्रकार की समस्या का समाधान के लिए अर्थात् घरेलू झगड़े, विवाह-विवाद, तलाक, चोरी, ठगना, आरोप लगाना आदि विषयों पर पंचायत सक्रिय रूप से विचार विमर्ष कर अपना फैसला सुनाती है। 'रेत' उपन्यास में कंजर जनजाति के जीवन को केन्द्र में रखकर लिखा गया है, उपन्यास के विविध संदर्भों में पंचायत का उल्लेख हुआ है। 'रेत' उपन्यास में पंचायत का महत्व को बताया गया है उसी प्रकार पंचायत के महत्व को 'सूरज किरण की छाँव धूणी तपे तीर उपन्यों में भी चित्रित है। आदिवासी समाज में पंच उस समाज बड़े लोग ही होते हैं। 'पठार पर कोहरा' और जंगल के आसपास उपन्यास में उपन्यास में स्थिति कुच ऐसी है कि गैर आदिवासी भी पंच के रूप में उपस्थित हैं। लेखक ने पूरी सावधानी के साथ इस प्रसंग का उल्लेख किया है। सदान या दीकू भी पंचायत में उपस्थित होने के कारणों को विवरणात्मा रूप से प्रस्तुत किया

है जो हम उपन्यास में देख सकते हैं। इस प्रकार बाहरी लोगों का हस्तक्षेप आदिवासी पंचायत व्यवस्था पर दुष्प्रभाव डालती है। उपन्यास में चित्रित पंचायत के प्रसंग से हम अनुमान लगा सकते हैं कि दीकू किस प्रकार आदिवासियों के जीवन से खेलते हैं, खासकर औरतों के संदर्भ में।

आदिवासी समाज में आपस में उत्पन्न विवादों को सुलझाना ही पंचायत का कर्तव्य नहीं होता, बल्कि उसका कर्तव्य यह भी होता है कि अपने ही समाज के किसी भी व्यक्ति पर कोई भी आपत्ति आने पर उसका सामना करने के लिए, तथा उसे उन मुसीबतों से निकालने के लिए पंचायत बुलाकर किस प्रकार उसका समाधान करना है आदि पर चर्चा की जाती है। जिसका जीता-जागता उदाहरण उपन्यास 'गगन घटा घहरानी' में मिलता है।

'बाजत अनहद ढोल' उपन्यास में आदिवासी पंचायत का नया रूप दिखाई देता है। अन्य उपन्यासों में विपदा या संकट के समय अथवा विवादों को सुलझाने के लिए पंचायत बुलाई जाती थी किन्तु इस उपन्यास में आदिवासी स्वयं अपने में नजर आ रही बुराइयों या कमियों को दूर करने का निर्णय लेने के लिए ही एकत्रित होकर पंचायत करते हैं।

भारत में जनजातीय धर्मों की व्याख्या जीववाद (एनीमीजम) के रूप में की गयी है। जीववाद धर्म का वह अत्यन्त अपरिष्कृत रूप है जिस में जादू की प्रमुखता होती है। इसके अनुसार मनुष्य प्रेतात्मक शक्तियों के समूह से घिरे जीवन से गुजरती वस्तु है। वे प्रेतात्माएँ ऐसी वस्तु है जो आधारहीन हैं, विशेषकर व्यक्तिहीन हैं। इनमें से कुछ जीवन के कुछ विशेष भागों में ऊपर या प्रभाव के दायरे के ऊपर संचालित करने के लिए जाती हैं। अतः उन लोगों में वैसी जीवात्मा है जो हैजा, एवं चेचक पर आधिपत्य रखती हैं। खतरे से बचने के लिए जो इनके प्रभाव के द्वार पैदा होता है, उन्हें खुश किया जाता है। इस दृष्टिकोण से भारत की जनजातियों के धार्मिक विश्वास एक समान नहीं हैं। जनजातियों में धर्म की विशेषताएँ कुछ इस प्रकार होतो हैं। जीववाद, बोंगावाद, प्रकृतिवाद, टोटमवाद, वर्जना, जादू, पूर्वजपूजा, बहुदेववाद।

'हो' लोग 'बोंगा' को एक शक्ति मानते हैं, जो सर्वत्र है कि यह कोई भी रूप या आकार ले सकता है। यह शक्ति सभी पशुओं एवं पौधों को जीवन प्रदान करती है। यह पौधे को बढ़ाने में उत्साहित करती है। यह वर्षा करती है, आँधी, ओला, बाढ़ और ठंडक लाती है। यह बुराइयों का विनाश करती है, महामारी को रोकती

है, रोगों को ठीक करती है। नदियों की धारा को प्रभावित करती है, सर्पों को विष और बाघ, भालुओं एवं लोमड़ियों को शक्ति देती है। जिस प्रकार हो बोंगा को शक्ति मानते हैं उसी प्रकार संथाल भी बोंगा को भूत देवता मानते हैं जिसको संतुष्ट करने के लिए अनेकानेक रूप से कोशिश करते हैं। बोंगा के प्रसंग में 'बाजत अनहद ढोल' उपन्यास में बताया गया है।

जनजातियों के धार्मिक कृत्य मुख्य रूप से ग्रामीण पुजारी या उसके सहायक द्वारा सम्पादित होता है। इस कृत्य में जनजातीय लोग भगवान या देवता को मनाने के लिए बलि चढ़ाते हैं। बलिदान देने योग्य वस्तुएँ अंडे से लेकर भैंस तक हो सकती हैं। पूजा की दूसरी सामग्री होती है- सिंदूर, अरवा चावल एवं फूल आदि। समस्त जनजातीय समुदाय के लिए पशु-पक्षी के रक्त की पूजा का सर्वाधिक महत्व है। नयी फसल के दाने जैसे मकई, धान आदि भी चढ़ाए जाते हैं। उपरोक्त भेंट के अतिरिक्त ईश्वर को चावल से निर्मित देशी शराब (हंडिया) भी चड़ाई जाती है। जब भेंट चढ़ाई जाती है, उस समय पुजारी या बलिदाताओं द्वारा उपर्युक्त कथनों का उच्चारण भी किया जाता है। कुछ विशेष अवसरों पर शमन के कृत्यों से भेंट संबंधित रहती है। जनजातियों में त्योहार उनके धार्मिक जीवन का अंग है। इसके साथ ही धार्मिक कृत्य समाप्त होता है। 'जंगल के फूल' उपन्यास में मुरिया गोंड आदिवासियों द्वारा किये जाने वाले धार्मिक कृत्यों का वर्णन हुआ है।

त्योहार, जो जनजातीय लोगों को उत्साहित एवं प्रमोदित करता है। विभिन्न प्रकार के त्योहार लौकिक एवं धार्मिक, दोनों पहलुओं को समाविष्ट करते हैं। लौकिक शक्तियों के समानार्थ जनजातीय लोगों द्वारा जतरा (मेला) लगाया जाता है। पर्व एक दिन में समाप्त हो सकता है या कुछ दिनों तक चल सकता है। इन अवसरों पर विभिन्न देवी-देवताओं की पूजा की जाती है।

किसी भी जनजाति की सभ्यता और संस्कृति का परिचय हमें उनके साहित्य से मिलता है। इस साहित्य को लोक साहित्य भी कहा जाता है। जिसके अन्तर्गत लोकगीत, लोकनृत्य, लोककथा आदि हैं और उनसे उनके जातीय गुण-धर्मों का पता चलता है। लोक-जीवन की सामूहिक चेतना, उनकी आशा-निराशा, दुःख-सुख, आशाएँ-स्वप्न और संघर्ष की मार्मिक अभिव्यंजना का चित्रण हमें उनके लोक साहित्य में मिलता है। साथ ही त्योहारों, उत्सव और संस्कारों के समय के हर्ष-विषाद के सुन्दर चित्र उपलब्ध होते हैं। वे प्राकृतिक जीवन के

सहगामी हैं और उसी का नाम आदिवासी संस्कृति है। लोक-कथाएँ आदिवासी जीवन का महत्वपूर्ण अंग है। कहानी कहने की प्रवृत्ति का इतिहास उतना ही पुराना है, जितना स्वयं मनुष्य की वाणी का। इन लोक कथाओं में आदिवासी जीवन का अंतरंग झलकता है। इन कथाओं का उल्लेख 'पठार पर कोहरा', 'बाजत अनहद ढोल', 'जंगल के फूल', 'शैलूष', 'अल्मा कबूतरी आदि उपन्यासों में संदर्भनुसार बताया गया है।

लोक गीतों का आदिवासी जीवन से घनिष्ट संबंध होता है। इनमें आदिवासी समाज और संस्कृति का प्राचीन गौरव आदर्श की प्रत्यक्ष रूप में व्यंजित होता है। एक-एक गीत में कितना उच्च भाव भरा हुआ है, यह इन गीतों के अध्ययन से विदित होता है। आदिवासियों का गौरवपूर्ण इतिहास, उनकी सांस्कृतिक परम्पराएं, उनके देवी-देवताओं के प्रति आस्था, मेले-त्योहार तथा पुत्र जन्म, विवाह आदि उत्सवों पर उच्छलित भावावेग और विशेषकर स्त्रियों की पोशाकों व आभूषणों की झनकार सभी ने लोक गीतों को जन्म देने में विशिष्टता उत्पन्न की है।

जनजातीय लोगों का लोक-जीवन नृत्य, गीत और संगीत से परिपूर्ण है। नृत्य-गीत और संगीत इन लोगों का जीवन-मंत्र, जीवन यात्रा का बहुमूल्य पाथेय है। यह वह जादू है जिसके बल पर ये लोग जीवन की क्रूर विभीषिकाओं, क्षुधा-पिपासा की विडंबनाओं तथा अशिक्षा और अपेक्षा के घात-प्रतिघातों को भी छूमंतर करते आए हैं। जनजातीय लोगों के लोकगीत इन लोगों की जीवन-पद्धति और जातीय संस्कृति के सम्यक दर्पण हैं। प्रकृति के सहज और हृदय के सरल उच्छवास हैं। जीवन में घटित होने वाले सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, घात-प्रतिघात, हास्य-विनोद, संयोग-वियोग, आशा-निराशा, क्षोभ-विक्षोभ आदि के आकर्षक शब्द-चित्र इन लोक गीतों के दर्पण में साफ-साफ प्रतिबिंबित हैं। आदिवासियों के गीतों का विभाजन इस प्रकार कर सकते हैं। संस्कार संबन्धी गीत, व्यावसायिक गीत, आवसरिक गीत, मनोरंजन संबन्धी गीत। इन गीतों का और भी उप विभाजन किया गया है। इन सारे गीतों का चित्रण अधिकतर उपन्यासों में हुआ है। इन गीतों के साथ साथ उपन्यासों में विधिवत रूप से लोक नृत्यों तथा आदिवासी पर्व जैसे करमा, सरहुल, खद्दी, सरहुल, फागु जैसे पर्वों का उल्लेख हुआ है।

आखेट आदिवासी समाज का महत्त्वपूर्ण पक्ष है। आखेट उनकी संस्कृति है। आदिवासियों के त्योहारों में आखेट का त्योहार भी होता है। मरियागोंड प्रति वर्ष इस त्योहार को मनाते हैं तो उराँव बारा साल में एक बार

इस पर्व को मनाते हैं। गाँव का प्रत्येक पुरुष आखेट में भाग लेता है। बिना शिकार किये गाँव में आने पर स्त्रियाँ उन्हें अपमानित करती हैं। 'जंगल के फूल' उपन्यास में आखेट का उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार से शिकार का उल्लेख 'पठार पर कोहरा' उपन्यास में मिलता है- उराँव आदिवासी समाज में हर बारहवें वर्ष आयोजित होता है 'जनीशिकार' का कार्यक्रम। उराँव समाज की सिनगी दाई और कैली दाई-दो वीर स्त्रियों की स्मृति को सुरक्षित रखने और अपनी महिलाओं के मर्दाने साहस के साथ मर्दों से जूझने के इतिहास को संरक्षित रखने का त्योहार है जनीशिकार। संपर्क स्थिति से उत्पन्न जनजातीय समस्याएँ ऐतिहासिक नहीं हैं अर्थात् संपूर्ण ऐतिहासिक काल में इस प्रकार की स्थिति नहीं थी। मुस्लिम शासन के दौरान शासक जनजातीय समाज को परिवर्तित करने के पक्षपाती थे परन्तु उनकी नीति अहस्त क्षेप की थी, तथा जनजातीय समाज के लिए उनके मन में आदर था। राजस्व अधिकारी कर वसूलने के लिए जनजातीय गाँवों का दौरा करते थे और इस प्रकार जनजातीय समाज का संपर्क बाह्य जगत से था परन्तु बीहड़ जंगलों तथा पहाड़ों स्थित जनजातीय जनसंख्या बाह्य जगत के संपर्क से अछूत थी। परन्तु अंग्रेजों के आगमन के साथ-साथ देश का अकादमिक तथा गैर अकादमिक शोषण प्रारम्भ हो गया। देश के वृहत अगम्य क्षेत्रों की खोज साहसिक यात्रा करने वालों तथा सामाजिक कार्यकर्ताओं द्वारा की गई। इसके पश्चात् अंग्रेजों का लक्ष्य देश को बाहरी लोगों के लिए खोलना था, ताकि देश के प्रकृतिक संसाधनों का वृहत पर दोहन किया जा सके। इसके अंतर्गत देश में रेल मार्ग बिछाए गए तथा यातायात के अन्य साधनों की स्थापना की गई जिससे देश को एक सूत्र के रूप में जोड़ा जा सके। अंग्रेजों की इस नीति के कारण जनजातीय क्षेत्रों में बाहरी लोगों की आवाजाही बढ़ गई। ऐसे लोगों को स्थानीय प्रशासन का संरक्षण प्राप्त था। इस कारण जनजातीय क्षेत्रों का समीकरण बिगड़ गया।

जनजातियों के मामले में सैद्धांतिक तौर पर भूमि हस्तांतरण का अर्थ है 'जनजातीय भूमि जो कभी भी विक्रय संपत्ति नहीं थी, का गैरकानूनी ढंग से अजनजातीय या श्रेष्ठ जनजातीय द्वारा हड़पा जाना। भूमि हस्तांतरण की समस्या राज्य दर राज्य में अलग-अलग है। आदिवासियों में आर्थिक बदहाली, भूमिहीनता, सामंती, जमींदार के हाथों में फंसकर ये लोग बेगार तो करते ही हैं, बंधक श्रमिक भी बन जाते हैं। बेगार में निःशुल्क सेवा करनी होती है, और बंधक को अपना पेट भरने के लिए परिवार के दूसरे लोगों पर निर्भर रहना पड़ता है।

आदिवासियों में व्याप्त बेगारी या बंधक प्रथा को 'गगन घटा गहरानी', 'क्लावे', 'नदी के मोड़ पर', 'जंगल के फूल', 'रथ के पहिये', और 'धूणी तपे तीर' में उठाया गया है। अधिकतर पहाड़ और जंगली इलाकों में शिकार के शौकीन महाजन, जमींदार, ठाकुर आदि शिकार के समय आदिवासियों को हाँके लगने के लिए बुलाये जाते हैं। नदी के मोड़ का भट्टू सिंह अपने पिता के द्वारा लिये गये ऋण के एवज में जमींदार के यहाँ बंधक बना लिया जाता है।

आदिवासी जीवन पर लिखे गये सभी उपन्यासों में शराब से उनका संबन्ध सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक रूप से जुड़ते हैं। सामाजिक मान्यताओं व रीति-रिवाजों व उनकी आस्थाओं की अभिव्यक्त 'गगन घटा घहरानी' उपन्यास में मिलती है। ठेकेदार द्वारा बेची जाने वाली शराब आदिवासी समुदाय में सामजिक अस्त-व्यस्तता को जन्म देती है। सभी औपन्यासिक रचनाओं में ठेकेदार के कारनामों, उसके गलत कार्यों को उजागर किया है। शराब से मौत का ताण्डव 'गगन घटा घहरानी' में देखा जा सकता है, शराब के दुष्प्रभावों को मद्देनजर रखते हुए आदिवासी समाज में इस पर नियंत्रण के उपाय पर विचार करना चाहिए। लेकिन मदिरा इनके पारम्परिक जीवन से जुड़ी हुई है, इसलिए बाहरी दबावों के आधार पर एकदम इसे नहीं रोका जा सकता है। शराब संबधी के आधार पर नियंत्रण आदिवासी समाज को बिना समझे इसके आंतरिक क्रिया-कलापों में दखल देना होगा।

इसी प्रकार आदिवासी स्त्रियों के सामने अनेक समस्याएँ खड़ी होती जा रही हैं। उन्हें अन्य महिलाओं से अलग कर देखा जा रहा है। सभ्यता, विकास और हैसियत में नीची और अपने समाज में अधिक मुक्त होने के कारण ये महिलाएँ गैर-आदिवासियों के नज़र में उश्रृंखल मानी जाती हैं। गैर-आदिवासी उनका उपभोग भूमि हथियाने और उनके समुदाय का दमन करने के साथ उन पर अत्याचार भी करते आ रहे हैं।

आदिवासी समाज में प्रमुख समस्या है स्त्री का शोषण। स्त्री का शोषण अनेक प्रकार से किया जाता है। इसी शोषण को लेकर हिन्दी में अनेक आदिवासी उपन्यास लिखे गये हैं। स्त्री शोषण का चित्रण 'जंगल के आसपास' 'जंगल के फूल', 'पठार पर कोहरा', 'धपेल' तथा गाथ भोगनपुरी आदि उपन्यास में प्रमुख रूप से चित्रित है। आदिवासी समुदायों को उपन्यास की विषयवस्तु बनाकर रचनाकारों ने निश्चित ही प्रगतिवादी,

उदारवादी और सहानुभूति का परिचय दिया है। उपन्यासों में आदर्शवाद, गाँधीवाद और आदर्शवाद से ररचनामें सहानुभूति, काल्पनिकता और लेखकीय आग्रह से आदिवासी जीवन का काल्पनिक रूप अस्पष्ट रह गया है। किसी विचारधारा से प्रेरित रचनाकार की तुलना में वाद निरपेक्ष उपन्यासों में आदिवासी जीवन का यथार्थ चित्रण हुआ है। 'शैलूष' और, 'पाँव तले की दूब', 'वन के मन में' में वाद निरपेक्ष की दृष्टि से लिखा गया है तो विचारधारा से प्रेरित रचना है 'वरुण के बेटे' 'पठार पर कोहरा' 'जंगल के फूल' और 'गगन घटा घहरानी'। वस्तुतः सभी उपन्यासों में यथार्थपरक चित्रण और प्रगतिशील विचारधारा का परिचय मिलता है।